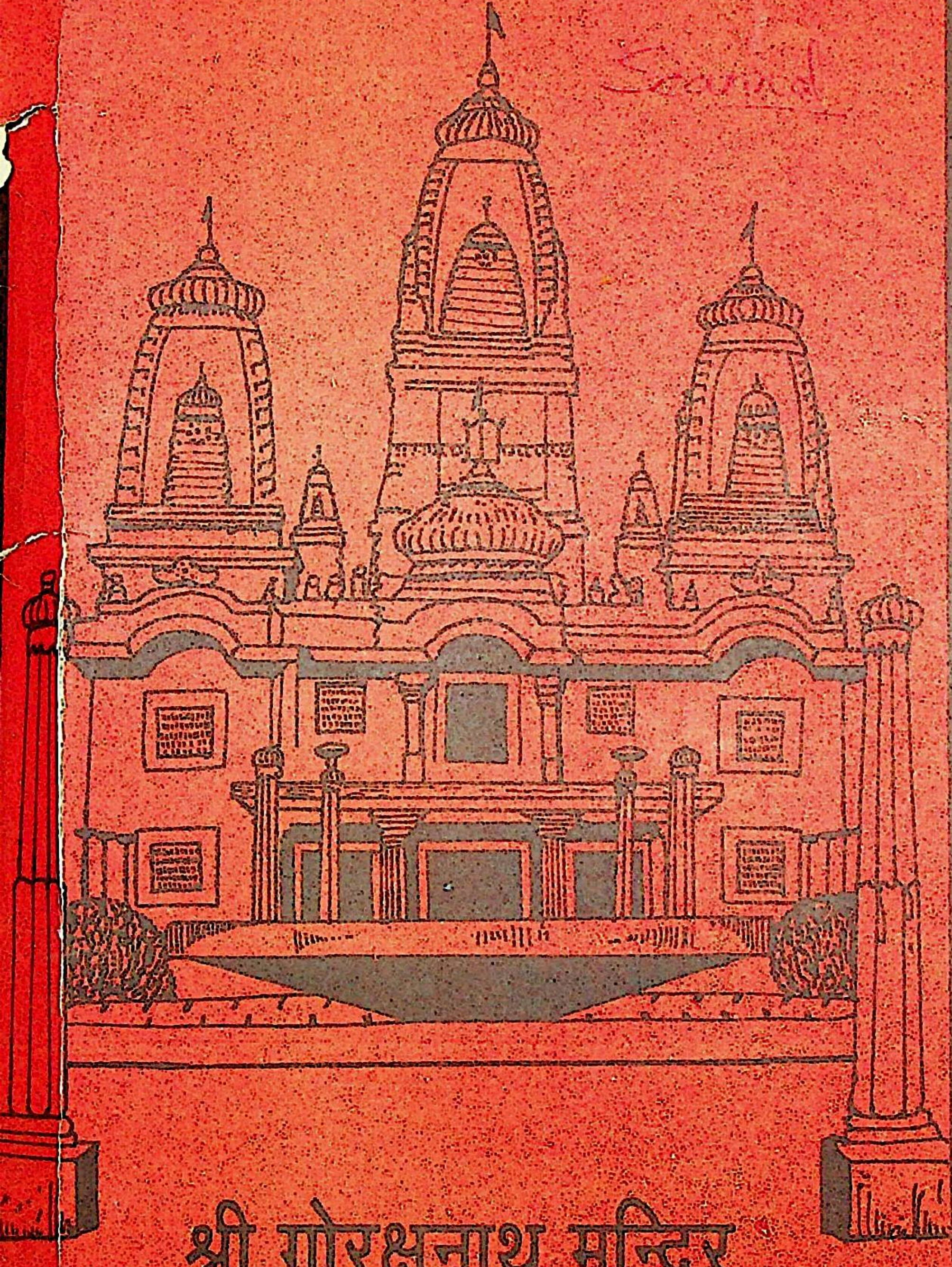
गोरखबानी



श्री गोरक्षनाथ मन्दिर

गोरखपुर

हमारा शब्द

सबद हमारा षरतर षांडा
रहणि हमारी साची ।
लेषे लिखी न कागद माडी
सो पत्री हम बाची ।।

हमारा शब्द ज्ञानोपदेश तेज तलवार है। यह सत्स्वरुप परमात्मा में प्रतिष्ठित है, जो लिपिबद्ध नहीं है, न किसी ग्रन्थ में अंकित है, वह तो स्वसंवेद्य है।

गोरखबानी सबदी २६४



महायोगी गोरखनाथ

गोरखबानी

टीकाकार तथा सम्पादक :

राम लाल श्रीवास्तव

गोरखनाथ मन्दिर

गोरखपुर

प्रकाशक :
गोरखनाथ-मन्दिर
गोरखपुर

पहला संस्करण :
विजया दशमी २०३५ वि.
दूसरा संस्करण :
अक्षय तृतीया २०५१ वि.

मूल्य ४० रुपये

प्राप्तिस्थान :
गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखापुर
फोन नं० : ३३६०३१

मुद्रक :
दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा०) लिमिटेड
गीता प्रेस रोड, गोरखपुर
फोन नं० : ३३५३१०

गोरखबानी

विषयानुक्रम

शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथजी की योगसिद्धिस्वरूपिणी रहनी ही लोकमानस में प्रतिष्ठित 'गोरखबानी' है । यह हठयोगविद्या का ही अक्षर वाङ्मय नही, सम्पूर्ण योगदर्शन का प्राणामृत भी है, जिसके रसास्वादन से जीव शिवस्वरूप हो जाता है, अमृतत्व में स्वस्थ हो जाता है । गोरखनाथजी सिद्धयोगदेह में अमर हैं, जीवों पर अहेतुकी कृपा करने के लिए, संसार-सागर से पार उतारने के लिये वे परमकारूणिक समय-समय पर अपने श्रीविग्रह से प्रकट होकर लोगों को महायोगज्ञान प्रदान करते हैं, सदुपदेश से कृतार्थ करते हैं । 'गोरखबानी' उनके सदुपदेश का योगशास्त्र है, 'गोरखबानी' की यही विशिष्टता है । नाथयोगपरम्परा भगवान् शिव द्वारा सप्तश्रृगं पर पार्वती के प्रति निरूपित महायोगज्ञान से समृद्ध है, जिसे श्रवण कर योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथजी को प्रदान किया । उसी सदुपदेश को गोरखनाथजी ने अपनी रहनी और कहनी (अनुभूति) के रूप में अपनी संस्कृत रचनाओं और लोकवाणी में अभिव्यक्त किया । हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल के पहले चरण से ही अनेक सिद्धों, योगियों, संत-महात्माओं ने गोरखनाथजी की सबदियों, पदों तथा अन्यान्य उपदेशों को श्रद्धापूर्वक संग्रह करते रहने का जो प्रयास किया है, उसी का सफल रूप डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत और सम्पादित तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'गोरखबानी' है । विभिन्न प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों के पाठ के अनुरूप स्वनामधन्य डा0 बड़थ्वाल ने जिस निष्ठा और श्रद्धा से 'गोरखबानी' का प्रस्तुतीकरण किया, वह एक महती प्रेरणा और तपोमयी शोधवृत्ति का परिचायक है । डा0 पीताम्बरदत्त ने इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया । उन्होंने गोरखनाथजी की लोकवाणी और नाथसिद्धों के पदों, सबदियों आदि को जोगेसुरी बानी के रूप में प्रकाशित करने का संयोजन किया था । 'गोरखबानी', जोगेसुरी बानी के प्रथम भाग के रूप में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से उनके जीवन-कालम में ही सम्बत् 1999 वि0 में प्रकाशित हुई और अन्य नाथसिद्धों की बानी का वे प्रकाशन नहीं कर सके । इस जोगेसुरी बानी, द्वितीय भाग का सम्पादन पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और

नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी से सम्वत् 2014 वि0 में उसका प्रकाशन और मुद्रण सम्पन्न हुआ ।

'गोरखबानी' अद्‌भुत योगवाङ्‌मय है । इसकी निरन्तर माँग बढ़ती देखकर गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज ने नाथयोग-प्रचार के सन्दर्भ में इच्छा व्यक्त की कि 'गोरखबानी' का एक परिमार्जित संस्करण प्रकाशित किया जाय तथा उसका विशद भाष्य भी प्रस्तुत किया जाय, जिससे लोक-मानस को योगेश्वर गोरखनाथ की योग-पद्धति, महायोगज्ञान आदि समझने में विशेष सुविधा हो । ऐसे तो गोरखनाथ-मंदिर से प्रकाशित 'योगवाणी' मासिक पत्र में अपने सम्पादकत्व में उसके पहले वर्ष के दूसरे अंक से ही मैंने 'गोरखबानी' से प्रत्येक अंक में 'गोरखवाणी' स्तम्भ के अन्तर्गत अपने भाष्यसहित सबदियों को देने का मांगलिक क्रम आरम्भ कर दिया था, पर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज की इच्छा से मुझे 'गोरखबानी' को संशोधित और परिमार्जित रूप में सम्पादित तथा उसके अधिकांश अंशों पर अपना भाष्य प्रस्तुत करने की विशेष प्रेरणा मिली और भगवान् शिवगोरक्ष की विभूति के रूप में 'गोरखबानी' का यह नया कलेवर प्रकाशित हो सका । 'गोरखबानी' के संग्रह और सम्पादन में डा0 बड़थ्वाल ने मध्यकाल की जिन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया, उनमें पौड़ी-गढ़वाल के पण्डित तारादत्त गैरोला को जयपुर से प्राप्त प्रति 'पौड़ी हस्तलेख', जोधपुर दरबार पुस्तकालय की प्रति, जोधपुर के श्रीशुभकरण चारण से प्राप्त सम्वत् 1825 की प्रति, मंदिर बाबा हरिदास, नारनौल, पटियाला की सम्वत् 1794 की प्रति, पुरोहित हरिनारायण, जयपुर से प्राप्त सम्वत् 1715 वि0 की प्रति आदि प्रमुख हैं । पौड़ी हस्तलेख का चौथा भाग संत रज्जब द्वारा संकलित सर्वांगी है, जिसमें गोरखनाथजी से लेकर संत तुलसीदास तक अनेक प्रसिद्ध संत-महात्माओं की वाणी उपलब्ध है । साथ-ही-साथ डा0 बड़थ्वाल ने योगियों की रचनाओं के एक संस्कृत हस्तलिखित अनुवाद की भी सहायता ली थी, जो मध्यकाल की है तथा काशी के सरस्वती भवन में सुरक्षित है । 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर का मूल पाठ डा0 बड़थ्वाल की 'गोरखबानी' पर आधारित है, यद्यपि कहीं-कहीं मुझे पाठान्तर भी स्वीकार करना पड़ा है और उपर्युक्त प्रतियों के

पाठ के आधार पर ही पाठ संशोधित हैं, पर यह अल्पांश ही है । सबदी, पदों तथा अन्य संग्रहीत रचनाओं का भाष्य मैंने स्वयं किया हे और यथाशक्ति उसे विस्तृत करने का भी प्रयास किया है, पर यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि डा0 बड़थ्वाल के भाष्य से मेरे कार्य में बड़ी सुविधा हुई है । अनेक रचनाओं का भाष्य उपलब्ध नहीं था, उसका भी मैंने भाष्य दे दिया है, किन्हीं-किन्हीं का सारांश ही देकर काम चलाया है ।

'गोरखवानी' के इस नये कलेवर से गोरखनाथजी के नाम से प्रचलित प्रसिद्ध कृति 'ग्यान चौतीसा' के, जो अप्राप्त कहीं जाती रही है, सम्बन्ध में विद्वानों और शोध -जगत् में व्याप्त भ्रक का निवारण हो गया । वह कृति तो संग्रह के रूप में डा0 बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत 'गोरखबानी' में ही उपलब्ध हैं, पर इसका पता डा0 बड़थ्वाल को भी नहीं था, उन्हें भी अपने संग्रह की भूमिका में स्वीकार करना पड़ा था - 'इनमें से ग्यान चौंतीसा' 'च' प्रति में है और 'छ' तथा 'अ' में उसका समर्थन हो जाता है. । परन्तु उसको मैं समय पर प्राप्त करने में समर्थ न रहा । फिर भी आशा है कि शीघ्र ही वह भी अवश्य साहित्यिकों को उपलब्ध हो जायेगा ।' डा0 बड़थ्वाल की इस स्वीकृति से लोगों के मन में 'ग्यान चौंतीसा' के प्रति उत्सकुकता का भाव जागना स्वाभाविक ही है । जनवरी 1977 में 'योगवाणी' का 'गोरख विशेषांक' प्रकाशित हुआ, उसके पृष्ठ 85 पर अगरचन्द नाहटाजी ने अपने लेख में मत अभिव्यक्त किया कि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर के संग्रह में पुरोहित हरिनारायणजी का संग्रह सुरक्षित है, उसकी सूची 'विद्याभूषणग्रन्थ-सूची' के नाम से प्रकाशित हुई है । उसके अनुसार 'गोरखबानी' में प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त गोरखनाथजी की अप्रकाशित बारह रचनाओं के नाम और भी हैं, नौ के नाम 'गोरखबानी' की भूमिका में आ चुके हैं, यद्यपि वे उस ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं है, पर वे सम्पादक की जानकारी में आ चुकी थीं । इनमें से 'ग्यानचौंतीसा'. को मैंने 'सप्तसिन्धु' मासिक में प्रकाशित करा दिया था । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर के सम्पादन में 'ग्यान चौंतीसा' का उपयोग करना चाहा, नाहटाजी को पत्र लिखा । उनका पत्रोत्तर मिला कि रचना 'सप्तसिन्धु' में नहीं, 'साहित्य'

पत्र में प्रकाशित करायी गयी थी और उन्होंने कृपापूर्वक उसकी प्रति नकल करवा कर मेरे पास भेज दी । प्रतिलिपि 'जैन बड़े भाण्डार' की सम्वत् 1770 वि0 की हस्तलिखित (नाथ सम्प्रदायी) गुटका से करवायी गयी थी । मैं नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रतिलिपि देखकर आश्चर्यचकित हो गया । 'गोरखबानी' में ही डा0 बडथ्वाल ने परिशिष्ट 1क -क (6) के अन्तर्गत पृष्ठ 241 से 243 पर 'कुछ पद' शीर्षक से तीन पदों में उसे दिया है तथा 'गोरखबानी' में ही पृष्ठ 120 पर पद संख्या 27 वाँ भी ग्यान चौंतीसा का अन्तिम अंश है । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर में 'ग्यान चौंतीसा' में इनका अपने भाष्यसहित संकलन कर दिया है । इस संकलन में क्रम सं0 12, 13, 17, 18, 19 की दस पंक्तियाँ नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रति से ली गयी हैं, क्योंकि मुझे 'गोरखबानी' के सम्मेलन वाले संस्करण में ये नहीं मिली । लगता है कि 'ग्यान चौंतीसा' गोरखनाथजी के चार पदों का संकलन है, जिसे किसी श्रद्धालु शिष्य ने इस नाम से 34 सबदियों में अथवा दो-दो पंक्ति के पदों में संग्रहीत कर दिया । कहीं डा0 बड़थ्वाल को यह पता होता कि 'गोरखबानी' में ही 'ग्यान चौतीसा' संग्रहीत है तो उनकी आत्मा को कितना संतोष होता । श्रीअगरचन्द नाहटाजी का सौजन्य चिरस्मरणीय है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ, आभारी हूँ ।

'गोरखबानी' के प्रस्तुतीकरण में हमें गोरखपुर विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ0 गोपीनाथजी से समय-समय पर अमित प्रोत्साहन मिलता रहा । मैं उनके स्नेहसिक्त सौजन्य के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । 'गोरखबानी' की सामग्री के टंकन-कार्य में महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के विशिष्ट कृपापात्र पं0 द्वारिका प्रसाद तिवारी ने जो श्रम किया तथा योगदान दिया, वह सराहनीय है । इउरेका प्रेस के व्यवस्थापक श्रीपरेश दत्त को इस महनीय कृति के यथाशक्ति शुद्ध मुद्रण और समलंकरण के लिए धन्यवाद देना मैं नहीं भूल सकता । मैं महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज के आशीष और अनुग्रह से कृतार्थ हूँ । उनकी प्रेरणा से 'गोरखबानी' ऐसी दिव्य- अक्षर विभूति के प्रकाशन-यज्ञ में तत्पर होने का मुझे सौभाग्य मिला । भगवान् गोरखनाथ की कृपा-विभूति से लोक-लोकान्तर का मंगल हो ।

रामलाल श्रीवास्तव

आनन्दसदन, गोरखपुर
विजयादशमी, सं0 2035 वि0



महन्त अवैद्यनाथ
(गोरक्षपीठाधीश्वर)

भगवान् योगेश्वर शिवगोरक्ष गोरखबानी ने लोक-लोकान्तर के प्राणियों को सत्स्वरूप के योगज्ञान में प्रतिष्ठित करने के लिये योगदेह धारण कर (शिवोपदिष्ट) महायोगज्ञान का भगवती पार्वती के प्रति सप्तश्रृंगपर निरूपण किया । यही हमारे सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोग की मांगलिक परम्परा है । संस्कृत (देववाणी) और लोकवाणी में उन परम कारुणिक द्वारा उपदिष्ट योगामृत ज्ञान प्राणीमात्र को कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकाल कर परमात्मस्वरूप में स्वस्थ करने का यौगिक बीजमन्त्र हैं । योगेश्वर गोरखनाथ जी के योगज्ञान का चरम प्रतिपाद्य साक्षात् अलख-निरंजन है । उन्होंने निश्चित मत अभिव्यक्त किया कि निरंजन का ध्यान ही सर्वोपरि है । 'सिष्ट-पुराण' में उनका कथन है- 'निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं' । अपनी प्रसिद्ध रचना 'ग्यांनतिलक' में गोरखबानी ने निरंजन के साक्षात्कार पर प्रकाश डाला है ।

अंजन माहिं निरंजन भेट्या, तिलमुख भटया तेलं ।
मूरति माहिं अमूरति परस्या, भरा निरंतरि षेलं ।।

(ग्यांनतिलक-4।)

भगवान् गोरखनाथ की योगसिद्धि सर्वात्मबोध के विचार-धरातल पर ही जीवन में चरितार्थ करने से मायिक प्रपंच और स्वरूप विस्मृति से आक्रान्त जीवात्मा के लिये संसार-सागर से पार उतारने की नौका है । उन्होंने भवसंतरण के लिये निर्देश दिया है कि अहंकार का नाशकर सद्गुरू की खोज करनी चाहिए । योगमार्ग के ज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिये, यह मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता है, इसलिये सिद्ध पुरूष से मिलकर उनसे अपने निरंजन स्वरूप के साक्षात्कार का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबा हेला ।
फिरि-फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिघ पुरसि सूं मेला ।।

(गोरखबानी : सबदी 203)

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम् ।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि ।।

(योगबीज 66, 87)

इसी तरह अपनी अत्यन्त सारगर्भित संस्कृत रचना (सिद्धसिद्धान्तपद्धति 5 । 21-22) में उनका कथन है कि सत्स्वरूप के अभिज्ञान अथवा विज्ञान के लिए योगमार्ग से बढ़कर दूसरा मार्ग भासित ही नहीं होता ।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।।

गोरखनाथजी के योगज्ञान का यही स्वारस्य है कि यह सत्स्वरूप का परम अभिज्ञान है, दर्शनशास्त्र है । उनकी सबदी ।53 है :

बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारै ते रेष न रूप ।।

गोरखनाथजी ने महायोगरहस्य का भेदन करते हुए कहा है कि योगदर्शन के स्तर पर शून्यावस्था में केवल अनाम (निरंजन), अव्यक्त, शून्यस्थ शिव ही सम्पूर्ण अशेष विद्यमान रहते हैं ।

अव्यक्तं च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति । । 4)

घट-घट में प्रत्येक जीवात्मा के भीतर अलख-निरंजन, नाथकी विद्यमानता की अनुभूति ही गोरखनाथजी की योगदृष्टि में योगारम्भ है । गोरखनाथजी का वचन है :

जोगारंभ की गाही वांणी ।
सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।।

(दयाबोध - ।)

भगवान गोरखनाथ के योगज्ञान के धरातल पर शरीर का संशोधन, निर्मलीकरण साधना का अनिवार्य और अत्यन्त उपादेय अंग है । 'गोरखबानी' के तेइसवें पद की पंक्ति है - 'कायागढ़ जीतैगा बिरला कोई ।' काया के भीतर ही गोरखनाथजी ने निर्वाणपद की खोज पर बल दिया है । कर्मफल के रूप में पाप - पुण्य के सोच-विचार में मन को भ्रमित करना अज्ञान है । हरि-अलख-निरंजन, परब्रह्म शिव के स्वरूपभूत होने पर, तादात्म्य प्राप्त करने पर ही परम कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति सहज सिद्ध है । काया में ही कैवल्य की प्राप्ति अनायास होती है । गोरखनाथजी ने उपदेश दिया है :

पाप पुंन करम का बासां । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।।
जोगजुक्त जब पाओ ग्यांन । काया षोजौ पद नृबांन ।।
(प्राणसंकली 2)

कुण्डलिनी महाशक्ति का प्रबुद्ध होकर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में अन्तर्लीन हो जाना ही कायायोग की सिद्धि है, अमृतत्व है । उन्होंने एक सबदी में नाथयोग का सम्पूर्ण मर्म भर दिया है ।

अदेषि देषिबा देषि विचारिबा अदिसिटि राषिवा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहाँ विमल बिमल जल पीया ।।
(गोरखबानी सबदी 2)

शरीर-शोधन और प्राणायाम की साधना से तथा बिन्दु (वीर्य) के ऊर्ध्वाकर्षण से मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है, उन्मनी समाधि लग जाने पर मन अपने शिवस्वरूप में संस्थित हो जाता है । गोरखनाथजी ने मनोविजय को बड़ा महत्व दिया है, मन के अमनस्क होने पर अलख-निरंजन का स्वबोध सिद्ध होता है । गोरखनाथजी ने कहा है :

यह मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्व का जीव ।।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।।
(गोरखबानी सबदी 50)

भगवान् गोरखनाथजी ने संसार के सम्बन्धों से, प्रपंचों से अतीत होने की सीख दी है । उनकी भाषा में यही अमृतत्व है, मृत्यु-विजय है और इस तरह जीते जी, आत्मा के परमात्मा में अन्तलीन होने पर ही अमायिक निरंजन तत्व प्रकाशित हो उठता है । गोरखनाथजी का संकेत मात्र है :

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणी मरौ, जिस मरणी गोरष मरि दीठा ।।
(गोरखबानी सबदी 26)

नाथयोग की सिद्धि के मार्ग में सद्गुरू की प्राप्ति आवश्यक है तथा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के प्रकाश में ही शिवस्वरूप की प्राप्ति होती है । भगवान् गोरखनाथजी ने कहा है कि गुरू के उपदिष्ट ज्ञान-मार्ग पर चल कर राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द्र ने अभय-पद प्राप्त किया, परमात्मसाक्षात्कार किया । अनेक राजाओं ने परमानन्द प्राप्त किया ।

मान्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
(गोरखबानी सबदी 15)

गोरखनाथजी का स्पष्ट मत है कि बिना गुरू के स्वरूप-ज्ञान नहीं हो सकता है ।

गुरू कीजै गहिला निगुरा न रहिला ।
गुरू बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।
(गोरखबानी पद - 34)

गोरखनाथजी ने कहा कि जो अंजन (माया) का परित्याग कर निरंजन में स्वस्थ रहता है, वही योगी है । सबदी 230 में उनकी उक्ति-"अंजन छोड़ि निरंजन रहे । ताकूँ गोरष जोगी कहे ।।' - योगी के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन करती है । योगी को सिद्धि-प्राप्ति की दिशा में गोरखनाथजी ऐसे सद्गुरू योगी और उनके योगज्ञान की सदा अपेक्षा है ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने चार सौ साल पहले ठीक ही कहा था :

बिन गुरू पंथ न पाइय, भूलै सो जो भेट ।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट ।।
(पदमावत 217)

'गोरखबानी' में सारगर्भित और सहज सरल लोकभाषा में उपदिष्ट भगवान् गोरखनाथ का योगज्ञान भरा-पड़ा है । हमारी वड़ी अभिलाषा थी कि 'गोरखबानी' का एक शुद्ध और परिमार्जित-विशद भाष्ययुक्त संस्करण गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से प्रकाशित हो । हमारे संकल्प की पूर्ति में हमारे गोरक्षपीठ से प्रकाशित 'योगवाणी' के सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव ने जिस श्रद्धा और तन्मयता का परिचय दिया है, वह भगवान् गोरखनाथ की दिव्य विभूति से ही सत्प्रेरित है, मैं उन्हें हृदय से स्नेहसिक्त आशीर्वाद देता हूँ ।

सच्चिदानन्द तत्व, योगामृतोद्भूत परमेश्वरतत्व अचिन्त्य अवाच्य होते हुए भी शिवगोरक्ष का साक्षात् तेजस्वरूप है, उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरू है । 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' प्रमाण है ।

अवाच्यमुच्येत कथं पद तत्,
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै,
नमो स्तु कस्मै बत नाथतेजसे ।।

गोरखनाथ मन्दिर
गोरखपुर
विजयादशमी, 2035 वि०

महन्त अवेद्यनाथ

सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना

श्रीगुरू परमानंद तिनको दंडवत् है । है कैसे परमानन्द आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को । जिन्हि के नित्य गाये ते सरीर चेतन्नि अरू आनन्दमय होतु हैं । मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत् करत हौं । हैं कैसे वे मछंदरनाथ । आत्मा जोति निस्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरू मूल द्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै अरू जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो । सुगंध को समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत । स्वामी तुमे तो सतगुय अम्है तो सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोष ।

- गोरखनाथ

सबदी

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ।। 1 ।।

परमतत्व, परमात्मा अगम और अगोचर है । न तो वह भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्, दोनों से अतीत पद में वह चैतन्य, सिच्चदानन्दघन परमात्मा स्वतः अभिव्यक्त है । वह बालक की तरह निष्प्रपंचतम अभिज्ञान से परिलक्षित निष्पक्ष-निर्मल चेतन ब्रह्म, पापपुण्य-विकार से सर्वथा परे, जीवन-मरण की अवस्था से सदैव अबाधित, रूप-नाम से रहित परमात्म चैतन्य ही योगियों, परमज्ञान से युक्त सिद्ध संत-महात्माओं और आत्मविज्ञानियों का ध्येय तथा साध्य है ।

अदेषि देषिबा देषि बिचारिबा अदिसिटि राषिबा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहां बिमल बिमल जल पीया ।। 2 ।।

परब्रह्म परमात्मा अलख है, निरंजन और सर्वथा त्रिगुणातीत-निर्गुण और निराकार है । उसका अनुभव करने के बाद उसे चित्त में अधिष्ठित, सुव्यक्त कर लेना चाहिये । ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये मणिपूरचक्र, पाताल में स्थित गंगा, परम ज्योति (योग-शक्ति कुण्डलिनी) को ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार अथवा सहस्त्रदलकमल) में उन्मुख (प्रबुद्ध) कर वहाँ परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये । ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी के सम्मिलन से अमृत, अमता अथवा सनातन, अक्षय-अव्यय ब्रह्मपद का रसानुभव सुगम हो जाता है ।

इहां ही आछै इहां ही अलोप । इहां ही रचिलै तीनि त्रिलोक ।
आछै संगै रहै जू धा । ता कारिण अनंत सिधा जोगेस्वर हूवा ।। 3 ।।

वह परमात्मा इस शून्य स्थान-ब्रह्मरन्ध्र में निर्विकार चेतन तत्व के रूप में निराकार है, अभिव्यक्त होकर अनभिव्यक्त-सा है । यह ब्रह्मरन्ध्र,

हे काजी ! परमात्मा के सन्देशवाहक रसूलमुहम्मद साहब के विचार बड़े ही निगूढ़ और रहस्यपूर्ण थे । उनके पवित्र शब्दों का रहस्य अत्यन्त मार्मिक है । मुहम्मद साहब ने तो भगवत् प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया, उन्होंने जीव की हिंसा का प्रतिपादन नहीं किया, उनके हाथ में जो छूरी (शस्त्र) थी, वह लोहे या इस्पात की बनी हुई नहीं थी, वह तो प्रेम (प्राणिमात्र के प्रति कल्याण) से निर्मित दिव्य शब्दों की शक्ति थी ।

सबदै मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं ।
ताकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं ।। ।0 ।।

हे काजी ! इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब ने अपने शब्दों में शुद्ध अध्यात्म का प्रतिपादन किया, उनके आध्यात्मिक दिव्य सदुपदेशों से जीवात्मा की भौतिक, मायिक आसक्ति का नाश होता है तथा आत्मा की शक्ति प्राप्त होती है । सदुपदेश अथवा शब्द की ओट लेकर स्थूल बुद्धि से उनकी नकल (अनुकरण) करने से उद्देश्य सिद्ध नही होगा । तुम्हारे तो शरीर में वह बल नहीं है, जो आध्यात्मिक बल कहा गया है और जो मुहम्मद साहब को सहज प्राप्त था ।

नाथ कहंतां सब जग नाथ्या गोरष कहतां गोई ।
कलमा का गुर महंमद होता पहलैं मूवा सोई ।। ।। ।।

केवल शब्द मात्र रटते रहने से उसमें अनुस्यूत आध्यात्मिक तत्व से वंचित होना पड़ता है । 'नाथ' शब्द बहुत ही मार्मिक है, नाथ का तात्पर्य है उस परमात्मा से, परब्रह्म शिव से, जो माया को नियंत्रित कर अपने वश में रखता है पर 'नाथ' मात्र के उच्चारण से कोई यह सोचे कि वह माया के बन्धन से मुक्त है, तो यह युक्तिसंगत नही है, 'गोरख' शब्द का तात्पर्य है उस महान् यौगिक शिवब्रह्म से, जिनके द्वारा अध्यात्म का तत्व सुरक्षित रहता है और जिनके नाम के उच्चारण मात्र से अन्तर्जीवन जाग उठता है पर जो लोग 'गोरख' का नाम लेते हैं, वे केवल शब्द मात्र का उच्चारण करते हैं, इसलिये उनके लिये आध्यात्मिक तत्व का अनावरण अथवा प्रकाशन नही

हो सकता । इसी तरह, (हे काजी,) मुहम्मद साहब ने, इस्लाम के प्रवर्तक ने 'कलमा' का प्राकट्य किया, यह 'कलमा' दिव्य शक्तिप्रदाता, आध्यात्मिक जीवनदाता पवित्र वचन है पर केवल इसके उच्चारण मात्र से ही काम नहीं चल सकता । कलमा से अन्तर्जीवन का मर्म प्रकाशित करना चाहिए । मुहम्मद साहब का पार्थिव शरीर तो नहीं रह गया है पर उनका कलमा अमर है, अक्षर है, परमात्मतत्व का प्रकाशक है ।

सारमसारं गहन गंभीरं गगन उछलिया नादं ।
मानिक माया फेरि लुंकाया झूठा बाद-बिबादं ।। ।2 ।।

योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी, प्राण-ज्योति को जगाते हुए सहस्त्रार में उसके प्रवेश करने पर अनाहत नाद, शब्द-ब्रह्म के स्वरूप अथवा बोध का रसास्वादन करता है, अनाहत शबद निगूढ़तम है - यही परम वस्तुतत्व है । अनाहत शब्द के द्वारा ब्रह्मानुभव व्यक्तिगत (योग) साधना का अमृत फल है, अनाहत शब्द से ब्रह्मस्वरूपानुभवरूपी माणिक्य, अमूल्य वस्तुरत्न, की प्राप्ति होती है और यह बात पूर्ण रूप से समझ में आ जाती है कि मुख्य वस्तु ब्रह्मानुभूति, परमात्मपद में रमण है, इससे इतर अन्य ज्ञान मिथ्या वाद-विवादमात्र है ।

कोई बादी कोई बिबादी जोगी कौं बाद न करनां ।
अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूँ जोगी कौं गुरूमुषि जरनां ।। ।3 ।।

योगी को अपने सिद्धान्त और मत के प्रतिपादन के लिये किसी दूसरे दार्शनिक विचार और मत-मतान्तर में उलझे प्रतिवादियों की तरह एक - दूसरे की मान्यता का खण्डन कर तथा अपनी विचारधारा का मण्डन कर पृथक्तावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए । गुरू द्वारा उपदिष्ट परमात्मज्ञान अप्रतर्क्य है, निर्विवाद और सम्पूर्ण स्वानुभवगम्य है । जिस तरह अड़सठ तीर्थ का जल-प्रवाह, स्रोत समुद्र में समाविष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह गुरूप्रदत्त परमात्म ज्ञानोपदेश के महासमुद्र में प्रपत्ति-स्वरूप साक्षात्कार ही

योगी की सिद्धि है, यही योगी का परम ध्येय है, उसकी आत्मदृष्टि की यह अबाध गति है ।

उतपति हिन्दू जरणां जोगी अकलि पीर मुसलमांनी ।
ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्मा बिस्न महादेव मांनी ।। ।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हमने हिन्दू के घर में जन्म लिया, अथवा हम शरीर से हिन्दू हैं पर योगाग्नि में उस देह को परिपक्व कर योगी है और गुरू के ज्ञान-प्रकाश में हम साधना के पथ पर अग्रसर हैं । जिस तरह इस्लाम के अनुयायियों के सर्वस्व (गुरू) पीर होते हैं और सभी मुसलमान उनका सम्मान करते हैं, उसी तरह गहन निष्ठा के द्वारा हम अपने गुरू का सम्मान करते हुए योगमहाज्ञान से आत्मस्वरूप के मनन, चिन्तन और ध्यान में निरन्तर तत्पर हैं । हे काजी और मुल्लाओ ! उस योगमार्ग पर चलो और योग साधना करो, जिसको ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और महादेव (संहारकर्ता) ने भी अपनाया है ।

मांन्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
निहचै नरवै भए निरदंद परचै जोगी परमानंद ।। ।5 ।।

श्रद्धापूर्वक गुरू के उपदेश के अनुसार आचार-विचार अपनाने पर साधक द्वन्द्वावस्था, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, मोक्ष-बन्धन, प्रकाश-अन्धकार के सांसारिक प्रपंच में व्यामोह की अवस्था से परे होकर आत्मज्ञान प्राप्त करता है। राजप्रासाद के विषय-सुख से ऊब कर महराज भर्तृहरि और राजकीय ऐश्वर्य में विभ्रान्त महाराजा गोपीचन्द (गोविन्दचन्द्र) ने योगसिद्धि प्राप्त कर आपको योगिराजपद पर अभिषिक्त होने का परमगुरू, योगिगुरू से आत्मोपदेश प्राप्त किया । गुरूज्ञान प्राप्ति में निश्चय, संकल्प ने अनेक विषय-भोग में आसक्त राजाओं को निर्द्वन्द्व बनाकर आत्म-साक्षात्कार प्रदान किया है ।

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै ।
छांड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास ।। ।6 ।।

योगसाधक को रात दिन निरन्तर विषय-भोग तथा सांसारिक प्रलोभनों और ममता-मोह के अज्ञानान्धकार में ग्रस्त मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए, उन्मनावस्था में लीन मन के द्वारा ही वह आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हो सकता है । जो साधक भौतिक और विनश्वर जागतिक पदार्थो और प्राणियों तथा परिस्थितियों से प्रभावित न होकर आध्यात्मिक जीवन को श्रेयकर समझकर आत्मज्ञान में रमण करता है, वही मन की चंचलता को नष्ट कर स्वरूपानन्द का योग प्राप्त करता है । ऐसा साधक ही योगी कहलाने का अधिकारी है । इस तरह का योगी (वेदज्ञानी) ब्रह्मा से भी उच्चस्थानीय कहा जाय तो इस कथन में किसी तरह का संशय नहीं किया जा सकता है ।

अरधै जाता उरधै धरै, कांम दगध जे जोगी करै ।
तजै अल्यंगन काटै माया, ताका बिसनु पषालै पाया ।। ।7 ।।

योगाभ्यास में रत साधक, योगी के लिये वीर्य, बिन्दु की रक्षा उसकी योगसाधना का परम आवश्यक अंग है, वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का अखण्ड रूप से पालन करने पर ही विषयभोगगामिनी वीर्य-धारा को काम-परायण अथवा अधोमुखी होने से रोक पाता है । ऐसा ब्रह्मचर्यव्रती साधक ही ऊर्ध्वरेता कहा जाता है । आशय यह है कि जो साधक कामिनी के भोगास्वादन, विषयसुखरपक सेवन के सुखानुभव का परित्याग कर माया, सांसारिक अवद्यिमूलक बन्धन-प्रवृत्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है, वही योगसिद्ध कहलाता है, ऐसे योगव्रती का चंरण धोने के लिये विष्णु भी लालायित रहते हैं ।

अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदे पाया ।। ।8 ।।

जो योगसाधक, योगी अजपा-जाप करता है, जिसकी चितवृत्ति तैलधारावत् अनवरत 'ॐ' 'सोऽहं' तथा परमात्मा के इष्ट नाम-मंत्र के जप में लगी रहती है, जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र (शून्य पद) में रमण करता है अर्थात् ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश

(साधक के वश में) रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूतिरूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है, उस (योगसिद्ध) पुरूष की चरण वन्दना साक्षात् योगेश्वर भगवान् शिव भी करते हैं ।

धन जोवन की करै न आस, चित्त न राखै कांमनि पास ।
नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै ।। 19 ।।

धन और यौवन सदा साथ नहीं देते, मन को कामिनी के भोगास्वाद में आसक्त नही करना चाहिए । नाद और बिन्दु, परमात्म (शिवपरक) महाज्ञान अनाहत नाद और वीर्य शरीर रहते आत्मसात् कर लेना चाहिए, जो साधक इस तरह साधना में रत रहता है, आद्या शवित भगवती कल्याणस्वरूपिणी पार्वती महामाया उस पर प्रसन्न रहती हैं, उसे समस्त सिद्धियों से सम्पनन कर देती हैं । ध्यातव्य है कि शक्ति ही नाद है, शिव ही बिन्दु है । कुण्डलिनी जागरत होकर जब शून्य पद में परम शिव का योग पाती है, तब योगी अमृतरस का पान करता है । कहा जाता है कि इच्छा ही नाद है, सगुण या सकल परमात्मा में इच्छा ही स्पन्द है, कम्पन है, इसका स्थूल कर्ण से नहीं, बौद्धिक ज्ञान से आस्वादन होता है । इच्छा के साथ जो क्रिया हे, वह बिन्दु है । शिव की शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है । शिवस्वरूप बिन्दु और बीजस्वरूप शक्ति का सम्बन्ध ही नाद है । वीर्य की रक्षा (बिन्दु की रक्षा) और नादानुसन्धान से योगी जीवन्मुक्त होकर सिद्ध देह में स्थित रहता है । शक्ति स्वरूपिणी पराम्बा जगदीश्वरी शिवा उसकी रक्षा करती हैं ।

बालै जोबनि जे नर जती, काल दुकालां ते नर सती ।
फुरतैं भोजन अलप अहारी, नाथ कहै सो काया हमारी ।। 20 ।।

बाल्यावस्था और जवानी के समय जो मनुष्य संयमित जीवन व्यतीत करते हैं, मन को वश में रखते हैं तथा इन्द्रियों पर निग्रह रखते हैं, जो समय-असमय, दोनों तरह की परिस्थितियों में सद्ज्ञान का आश्रय लेकर सदाचारपरायण रहते हैं, जो जीवन को स्थित रखने के लिए ही अल्प आहार

करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं । ऐसे लोग भौतिक भोगसुख में अपने समय का दुरूपयोग न कर आध्यात्मिक उन्नतिपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं, वे आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, साक्षात् परमात्मस्वरूप हो जाते हैं ।

सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहि सबद जगाया ।
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ सबदहिं सबद समाया ।। 2। ।।

योगाभ्यास में शब्द-साधना का पर्याप्त महत्व है । योग-साधना की दृष्टि से शब्द ही ताला है क्योंकि यह परमात्म तत्व को गुप्त रखता है । शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमात्म तत्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का संयोजन तथा निर्माण करती है । मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़ कर वापस आना पड़ता है, इसलिए शब्द कुंजी भी है । इसके द्वारा परमात्मरहस्य अभिव्यवत होता है । गुरू-शब्द में परमात्म तत्व अधिष्ठित रहता है, गुरू-उपदेश से ही शब्द (नाद) का जागरण होता है, जीव-आत्मा शब्द का स्थूल और सूक्ष्म स्तरक्रम से श्रवण कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाता है । नादानुसन्धान के फलस्वरूप अनाहत ध्वनि सुनायी पड़ती है, स्थूल शब्द का सूक्ष्म शब्द में यही लय है, प्राणवायु के सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने पर क्षुद्रघण्टिका, वंशीवीणा भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनायी पड़ते हैं । इसके उपरान्त योगी की समाधि-अवस्था आती है । प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और योगी शून्यपद में आत्मामृतपान कर शिव का साक्षात्कार लाभ करता है । उपाधिरहित शब्द-तत्व के रूप में ओंकार, प्रणव अथवा ब्रह्म का प्रकाश होने पर जीवात्मा परमात्मा में अभेद हो उठता है ।

पंथ बिन चलिबा अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया ।
संसबेद श्रीगोरख कहिया बुझिल्यौ पंडित पढ़िया ।। 22 ।।

योग-मार्ग कठिन साधना-मार्ग है, इस मार्ग में अनुभव, बोध के प्रकाश में ही चला जाता है । इस मार्ग में अग्नि (स्थूल अग्नि), प्राण का संयमन है, जिसके द्वारा नाड़ी - जाल का मल-शोधन होता है और समस्त विकार

तथा आवरण अपने आप नष्ट हो जाते हैं । इस मार्ग में कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा (प्राण) वायु के सुषुम्ना पथ से चक्र-भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र, शून्यपद गगन में झरते चन्द्रमामृत के पान से ही आत्मा तृप्ति प्राप्त करता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है । योग-मार्ग स्वसंवेद्य मार्ग है, स्वानुभवगत है, यह (योगतत्वज्ञ महाज्ञानसिद्ध गुरू के द्वारा उपदिष्ट) योग-मार्ग अनुभवगम्य है । हे शास्त्र में पारंगत विद्वानो ! योग, साधना से ही सिद्ध होता है, इसे जीवन में उतारना पड़ता है, योग जीवन है, सत्स्वरूप में स्थित रहने की साधन-प्रक्रिया है ।

गगन मंडल मैं ऊँधा कूबा तहां अंमृत का बासा ।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा ।। 23 ।।

गगन-मंडल, सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में एक ऐसा कुंआ है, जिसका मुख औंधा है, इसमें अमृत का वास है । इस अमृत का पान वही प्राणी कर सकता है, जो सद्गुरू की शरणागति में स्थित है, सद्गुरू ही अमृत पान का उपाय बतलाते हैं । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नही हो सकी है और साधना के पथ पर अकेला भटक रहा है, उसे अमृत पीने को नहीं मिल सकता, वह प्यासा ही रह जाता है । योग-पथ का प्रदर्शक सद्गुरू प्राणायाम की शक्ति को बढ़ाते हुए मूलाधार चक्र में स्थित सोई विद्युत-प्रभा के समान कुण्डलिनी को सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से जाग्रत करते हुए शून्य पद, ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार के द्वारा अमृतपान कराता है । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नहीं है, वह निगुरा है, उसे आत्मतृप्ति, साधना में सिद्धि नहीं मिलती है, वह अमृतपान से वंचित रह जाता है ।

गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई ।
मही भारे न भाजंत उदके न डूबन्त कहौ तौ को पतिआई ।। 24 ।।

आत्मा सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, अविनाशी है, साक्षात् परमात्मा का ही अभिन्न अद्वय रूप है । यद्यपि गगन का अमित विस्तार है, तथापि यह असीम और अनन्त आत्मा को अपने में आविष्ट नहीं करता है, यह आत्मा

तेज (अग्नि) के द्वारा शोषित नहीं किया जाता है, इसी तरह वायु में इतनी शक्ति नहीं है कि आत्मा को इधर-उधर कर अस्थिर कर दे, यह आत्मतत्व जल में भी लीन होकर अस्तित्वहीन नहीं हो सकता, इसी तरह पृथ्वी की भार-शक्ति इस आत्मा को खण्डित नहीं कर सकती । आशय यह है कि आत्मा, आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के विनश्वर गुण का धर्मवाला नहीं है, यह इन पाँच भूतों से परे चिन्मय परम सत्ता है ।

बास सहेती सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा ।
साच कहूँ तौ सतगुर मांनैं रूप सहेता दीठा ।। 25 ।।

सच्चिदानन्दघन स्वरूप परब्रह्म परमात्मा, परमशिव सौन्दर्यसार-सर्वस्व हैं, उनकी दिव्यता, माधुर्य और ऐश्वर्य की रसानुभूति योगसिद्ध सद्गुरू की कृपा से ही जीवात्मा के लिए सहज अनायास उपलब्ध है । परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, उनकी दिव्य अनन्त माधुरी में जो स्वाद, आनन्द है, जो मादक सुगन्ध है, वह उन्हीं का अखण्ड स्वरूप है, समस्त जगत् इस मादकता से आप्यायित है, उनके दिव्य-चिन्मय माधुर्य का स्वाद-भोग समस्त जगत् को माधुर्य-ही-माधुर्य में रूपान्तरित कर देता है । ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करने वाले प्राणी के लिये समस्त जगत् ब्रह्मानन्दमय हो उटता है, परमात्म सौन्दर्य का आकार हो जाता है । यह सत्यानुभव है पर इसका विवेक सद्गुरू की कृपा से सम्भव है, सौन्दर्यमाधुर्यऐश्वर्यनिधि अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार, दर्शन सद्गुरू प्रदत्त विवेक प्रकाश में ही होता है ।

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गोरष मरि दीठा ।। 26 ।।

हे योगी । मरो, जीवन्मुक्ति अवस्था में स्थित होकर अमृतपद प्राप्त कर लो, इस तरह जीते जी संसार की दृष्टि में मर कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाना बड़ा ही मधुर है, मीठा है, इस मधुरामृत का वर्णन हो ही नहीं सकता । हे योगी ! उस मृत्यु, अमरता का वरण करो, जिसके द्वारा मैंने (गोरखनाथ ने) अमृतपद प्राप्त कर, जीवन्मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा,

परमशिव का अपने दिव्य चक्षु, आत्मविवेक से दर्शन अथवा साक्षात्कार कर लिया, यह मरण सामान्य मरण नहीं है, इस मरण द्वारा योगी पार्थिव तत्व का, भौतिक शरीर का दिव्यीकरण, परमात्मीकरण कर अमृतरस का निरन्तर पान कर अमर हो जाता है ।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरैं धारिबा पावं ।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा, भणत गोरष रावं ।। 27 ।।

(योगी का जीवन पूर्ण रूप से संयमित और विनियमित होना चाहिए) आचार-विचार और संयम तथा युक्त-उचित व्यवहार से परम श्रेयस्कर जीवन ही सफल जीवन है, बिना सोचे-समझे, अपने विचार और कार्य का परिणाम-दर्शन किये बिना ही अचानक किसी विषय में बोल नहीं उठना चाहिए । चलने में भी सावधान रहना चाहिए कि पैर किसी ऐसी दिशा की ओर न उठ पड़े, जिधर पथ कुश-कण्टक से आकीर्ण हो, रास्ते में गड्ढे हों, क्षण-क्षण में पतन, गिर पड़ने की सम्भावना हो, इसलिये सोच-विचार कर धीरे-धीरे अपने अभीष्ट कार्य-पथ पर अग्रसर होने वाला ही युक्त जीवन से सम्पन्न कहा जाता है । मन में उन्माद नहीं आने देना चाहिए, इससे अभिमान, मिथ्या अहंकार और गर्व उत्पन्न होता है । योगसाधक को सामान्य जीवन, स्वाभाविक जीवन अपनाना चाहिए, साधक की यही सहज अवस्था है, जो संयम, आचार-विचार और विनियम से युक्त है । (महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि) यह मेरा (गोरखनाथ का) उपदेश है ।

भर्‍या ते थीरं झलझलंति आधा ।
सिधें सिध मिल्यारे अवधू बोल्या अरू लाधा ।। 28 ।।

योगसिद्ध पुरूष गम्भीर होते हैं । वे यत्र-तत्र, इधर-उधर अपने अध्यात्मज्ञान अथवा योगसिद्ध जीवन का प्रचार करते नहीं फिरते । जो आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, वे शान्त रहते हैं । जो अधकचरे हैं, जिन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है, केवल इधर-उधर सुनकर थोड़ा-बहुत योगाभ्यास कर आत्मतत्व का प्रकाशन करते हैं, उनसे आत्मज्ञानी - योगानुभवी अथवा

योगसिद्ध पुरूष वाद-विवाद कर अपनी शान्ति भंग नही करते हैं, वे तो सिद्धों के मिलने पर आत्मज्ञान की चर्चा करते हैं, परस्पर एक दूसरे के आत्मबोधामृत का रसास्वादन कर संतुष्ट होते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं । हे अवधूत ! सिद्धपुरूष के इस मिलन अथवा समागम में ही आत्मसाक्षात्कार का लाभ सहज-सुलभ होता है ।

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया ।
काम क्रोध अंहकार निबारौ तौ सबै दिसंतर कीया ।। 29 ।।

अनेक योगी देश-देशान्तर में भ्रमण कर अपनी भ्रमण-लालसा की पूर्ति करते हैं, ऐसे योगियों को (महायोगी गोरखनाथ का) उपदेश है कि वे वास्तविक देशान्तर की स्थिति का लाभ सहज रूप से कर सकते हैं, यदि उनको काम, क्रोध, अंहकार नही सताते, ये ही साधना में विघ्न हैं । गुरू गोरक्षनाथ अवधूतयोगी से कहते हैं कि हे अवधूत ! चित्त को समाहित और स्थिर कर लोभ-काम-क्रोध, अहंकाररूपी विघ्नों को नष्ट कर वैराग्य के राज्य में रमण करना चाहिए ।

स्वामी बंन षंडि जाउं तो षुध्या व्यापै नग्री जाउं त माया ।
भरिभरि षाउं त बिंद बियापै क्यों सीझति जल ब्यंद कि काया ।। 30 ।।

योग-साधना के पथ में क्षुधा, भूख की निवृत्ति, साधक के लिये एक महती समस्या है, जिसके समाधान के बिना वह स्वस्थचित्त और सावधान होकर योगाभ्यास में सफलता नहीं पाता । साधक अपनी समस्या को प्रस्तुत करते हुए कहता है कि हे स्वामी ! आत्मयोगानुभवी गुरूदेव ! जब मैं वैराग्य की भावना को दृढ़ करने के लिये एकान्त सेवन की दृष्टि से वन-प्रान्त में जाता हूँ तो वहाँ आहार की उचित व्यवस्था के अभाव में भूख शरीर को प्रभावित कर उसे क्षीण और दुर्बल बनाती है, यदि मैं नगर में भिक्षा माँग कर जीवन यापन करते हुए साधना में तत्पर होने का यत्न करता हूँ तो (नगर में) इन्द्रिय-सुख, विषय-भोगासक्ति और कृत्रिम वैषयिक जीवन

के प्रति मन में राग उत्पन्न होता है । हे देव । मैं ऐसी स्थिति में रज और वीर्य से उत्पन्न शरीर को किस प्रकार स्वस्थ रखूँ, विकारों और दोषों से बचा कर योग-साधना में इसका सदुपयोग करते हुए आत्मसाक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त करूँ ?

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं ।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरष देवं ।। 31 ।।

योगी के लिये युक्त-समुचित आहार-विहार से जीवन-यापन करना बड़ा आवश्यक है । शरीर अन्नमय है, इसका पोषण उचित आहार से ही होता है, ऐसी स्थिति में भूख लगने पर सामान्य रूप से उतना ही भोजन ग्रहण करना चाहिए, जितना शरीर की यात्रा के लिये आवश्यक है, उपवास उतनी ही मात्रा में आवश्यक है, जितनी से शरीर का तेज बढ़ता हो, यदि शरीर की शक्ति-क्षीण होती हो और उस स्थिति में भी योगाभ्यासी भूखा रहने का हठ करता है तो निस्सन्देह उसकी योग-साधना में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं । योगी को उतनी ही साधना करनी चाहिए, उतनी ही मात्रा में योगाभ्यास में रत रहना चाहिए, जितनी उसकी उत्तरोत्तर सफलता, अभ्यास की दृढ़ता के लिये आवश्यक है । न तो उसे अभ्यास अधिक बढ़ा देना चाहिए और न तो नितान्त कम ही कर देना चाहिए, जिससे साधना की गति मन्द पड़ जाय । साधना में युक्त विवेक की बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा गोरखनाथ की उक्ति है कि योगाभ्यासी को लाभ के बदले हानि हो सकती है । साधना संयमित होनी चाहिए ।

थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवनां रहै समाइ ।
गगन मंडल मैं अनहद बाजै प्यंड पड़ै तौ सतगुर लाजै ।। 32 ।।

योगी को अल्पाहार करना चाहिए, अल्पाहार के साथ-ही-साथ उसके लिये मितभाषी भी होना परमावश्यक है । जिस योगी की वाक्-शक्ति संयमित और आहार अल्प होता है, वही प्राण और अपान वायु का सन्तुलन का सुषुम्ना आदि नाड़ियों का शोधन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र से झरते चन्द्रामृत का

पान कर अमृतत्व-लाभ करता है, ऐसे ही योगी को नादानुसन्धान की प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद सुनायी पड़ता है । वाक् संयम और स्वल्पाहार के अभाव में यदि योगी का शरीर-पात हो जाता है, तो यही समझना चाहिए कि उसने गुरू के द्वारा विधिपूर्वक प्रदत्त उपदेश (ज्ञान) की उपेक्षा कर दी है, यह उसके लिये निस्संदेह बड़ी लज्जा की बात है, यह गुरू-ज्ञान का साक्षात् अनादर है ।

अवधू अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइगा रोगी ।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ को को बिरला बिजोगी ।। 33 ।।

हे अवधूत ! योगाभ्यास में लीन रहने वाले योगी ! तुम युक्त आहार-विहार का अभ्यास करो । अधिक मात्रा में भोजन करने से योग साधना में विघ्न पड़ता है । इसी तरह रात में अधिक सोने से साधना खंडित होती है । आत्मचिन्तन तथा परमात्म-चिन्तन में विक्षेप आ जाता है । साथ - ही - साथ वर्ष में कम-से-कम छः-छः माह के अन्तर से आयुवेद के निर्देशानुसार कायाकल्प करने से शरीर आरोग्य लाभ करता है, उसमें नयी प्राण-शक्ति और दीप्ति तथा स्फूर्ति आती है । अच्छे वैद्य की देख-रेख में विहित शीशे और टिन के भस्म अथवा वनस्पति, जड़ी - बूटी के सेवन से कायाकल्प सिद्ध हो सकता है । आम्रकल्प और तक्र के (मट्ठे के) कल्प की भी आयुर्वेद में विधि निर्दिष्ट है । मित आहार, यथोचित निद्रा, और अर्धवार्षिक कायाकल्प के द्वारा शरीर को नीरोग रखते हुए योगी अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करता है, पर यह कार्य इतना दुष्कर है कि विरले कोई-कोई योगी ही इसमें सफल होते हैं ।

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला अहारं ।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं ।। 34 ।।

योगी साधक को अष्टांग योग, - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि–के अभ्यास से देव कला प्राप्त होती

है । इन्हीं के द्वारा देवकला-दिव्य-शक्ति से जीवन संयमित होता है । भूतकला (भौतिक शक्ति) पांचभौतिक शरीर के आरोग्य की शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये युक्त आहार का सेवन आवश्यक है । आत्मबल और शरीर के आरोग्य से सम्पन्न योग-साधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए प्राण (वायु) को सुषुम्ना नाड़ी के पथ से प्रवाहित करते हुए मन को ब्रह्मरन्ध्र - शून्य परम पद में समाहित कर देता है, यही मन का उन्मन होना है, यही उन्मनी अवस्था है । मन के उन्मन होने पर और प्राण के वश में होने पर योगी मन-पवन की विजय द्वारा परम वस्तुतत्व, परमात्म पद का साक्षात्कार कर लेता है ।

अवधू निद्रा कै घरि काल जंजालं अहार कै घरि चोरं ।
मैथुन कै घरि जुरा गराजै अरध-उरध लै जोरं ।। 35 ।।

हे अवधूत । अधिक सोने से योग-साधक अपने अमूल्य समय का सदुपयोग आत्मतत्व, परमात्मतत्व के चिन्तन में नहीं कर पाता है, वह मृत्यु के पाश में फँस जाता है । योगाभ्यासी को आहार-विहार में पूरा सावधान रहना चाहिए । पौष्टिक और स्वाद के लिये किये गये अधिक आहार से शरीर में बल बढ़ता है और उसमें चोर कामदेव प्रवेश कर काम-विकार उत्पन्न करता है, इससे वह कामोपभोगपरायण हो जाता है, काम-वासना की तृप्ति करते-करते, जरा-वृद्धावस्था-से शरीर जर्जर हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह जाता है, इसलिये योगाभ्यासी के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रह कर शरीर को जराग्रस्त होने से बचाना चाहिए । यह तभी हो सकता है, जब वह वीर्य को अधोगामी न बनाकर ऊर्ध्वगामी कर दे, (वीर्य के) अधोगमन का आशय कामोपभोग और स्त्री-समागम में वीर्य का अपव्यय करना है, ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी ही वास्तविक योगी है ।

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्यांन मैथुन चित धरै ।
ब्यापै न्यंद्रा क्षंपै काल ताकै हिरदै सदा जंजाल ।। 36 ।।

अधिक आहार ग्रहण करने से इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं और उनके बलवती होने पर मन में विषय-भोग और काम-वासना (मैथुन) की तृप्ति की इच्छा जागती है । योगी का विवेक नष्ट हो जाता है । वह वासना में रत हो जाता है । इस तरह वह काल के वश में होता जाता है, उस पर मृत्यु का आक्रमण किसी भी समय होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है । वह व्यर्थ के चिन्ता-जंजाल में उलझ जाता है और साधना में सफलता का स्वारस्य उसे नहीं मिलता है । वह जीवन में योग-साधना के फलस्वरूप आनन्द -लाभ से वंचित हो जाता है । योगाभ्यास में संयमित अल्प आहार का ही पक्ष लेना चाहिए, इससे इन्द्रियों में भौतिक बल के स्थान पर आध्यात्मिक स्फूर्ति आती है ।

घटि घटि गोरख बाही क्यारी । जो निपजै सो होइ हमारी ।
घटि घटि गोरष कहै कहांणी । काचै भांडै रहै न पांणी ।। 37 ।।

शरीर क्षेत्र (खेत) है, इस खेत की क्यारी में शुद्ध योगकर्म ही उपज है । यह शरीर में सूक्ष्म रूप से विद्यमान ब्रह्म का प्रकाश है । गोरखनाथ प्रत्येक शरीर में विद्यमान होकर आत्मज्ञान का उपदेश करते हैं । उनके द्वारा उपदिष्ट योगज्ञान-प्राप्ति का परम फल योगाभ्यास से परिपक्व शरीर में फलित होता है, वह योगसाधनारहित शरीर में स्थिर नहीं रह सकता है । जिस तरह मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहरता, वह बह जाता है, घड़ा फूट जाता है, इसी तरह अपरिपक्व शरीर जरा-रोग आदि विकारों से जर्जर हो जाता है, उसमें ब्रह्मज्ञान नहीं पच पाता । योगसाधना में सिद्ध प्राणी के ही शरीर, प्राण और मन तथा हृदय में (गोरखनाथ के द्वारा उपदिष्ट) योगज्ञान-आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान स्थित होता है ।

घटि घटि गोरष फिरै निरूता । को घट जागे को घट सूतां ।
घटि घटि गोरष घटि घटि मींन । आपा परचै गुर मुषिचींन्ह ।। 38 ।।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में उसकी आत्मा के अभिन्न स्वरूप गोरखनाथ व्याप्त हैं । किसी-किसी प्राणी के शरीर में वे (ज्ञानस्वरूप योगेश्वर

गोरखनाथ) जाग रहे हैं और किसी-किसी के शरीर में वे (उसकी अविद्या के कारण) आवरित से हैं, सोते से लगते हैं । इसका आशय यह है कि कोई-कोई आत्मज्ञानी योगी उनकी व्यापकता का अनुभव कर पा रहा है और कोई प्राणी भौतिकता में ही मुग्ध होने के कारण उनके आत्मा में विद्यमान रहते हुए भी उन्हें नही जान पा रहा है । वे अपने गुरू परम योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी की कृपा से उनसे प्राप्त आत्मबोध के द्वारा उन्हीं के अभिन्न रूप होकर घट-घट में विचरण करते हैं । प्रत्येक प्राणी को वे उपदेश देते हैं कि मेरा (गोरखनाथ का) यही मार्ग-दर्शन है कि जीवात्मा गुरू के सम्मुख होकर निजानन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय ।

पावड़ियाँ पग फिसलै अवधू लोहै छीजंत काया ।
नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया ।। 39 ।।

यहाँ योग साधना में वाह्य वेश-भूषा पर अधिक बल देने का निषेध किया गया है । गोरक्षनाथ का कहना है कि पादुकाओं के सेवन करने वाले बड़े-बड़े ज्ञानियों और सिद्धों के पैर फिसल जाते हैं, वे पतनोन्मुख हो जाते हैं । इसी तरह केवल मात्र लोहे की जंजीर लंगोटीरूप में पहनने से शरीर दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है, इस विधि से यौगिक साधना में सिद्धि नहीं मिलती है । नग्न रहने वाले (नागा) केवल वाक्शक्ति के संयम पर आध्यात्मिक साधना के लिये निर्भर रहने वाले मौनी महात्मा, जिनमें चंचलता, इन्द्रियों की संयमहीनता, विषयानुगामिता बनी रह सकती है, योगसाधक नहीं कहला सकते हैं, उनमें निश्चात्मिका बुद्धि प्रायः नही रहती और आहार, एक मात्र सात्विक आहार, गाय के दूध का सेवन करने वाले पयोहारी भी केवल पयोहार मात्र के ही आश्रय से आत्मज्ञान की प्राप्ति से दूर रह सकते हैं । यह आवश्यक नही है कि दिगम्बर (नंगे रहने वाले संन्यासी), मौंनी और पयोहारी, शरीर में लोहे की जंजीर मात्र धारण करने वाले यती और खड़ाऊँ पर चलने वाले तपस्वी उपर्युक्त साधनाओं से योगसिद्ध हो जायं । यद्यपि इन साधनाओं से सद्‌विवेकी योगी योगाभ्यास में उत्तरोत्तर प्रगतिशील होता है तथापि योग का मर्म तो विचित्र ही है, दिव्य ही है, योग-ज्ञान का उदय सुदृढ़तापूर्वक यौगिक साधनों, यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान-समाधि से ही होता है, आत्मविवेकी ही योगसम्पन्न होता है। सहज वैराग्य से ही योग-सिद्धि होती है।

दूधाधारी पर धरि चित । नागा लकड़ी चाहै नित ।।
मौनी करै म्यंत्र की आस । बिनु गुर गुदड़ी नही बेसास ।। 40 ।।

योगाभ्यास में साधक के लिये स्वाश्रय ही सहज वैराग्य का बोधक है। साधना में पराश्रय, दूसरों से प्राप्त वस्तु के द्वारा शरीर-यात्रा के निर्वाह की इच्छा अत्यन्त बाधक है। पयोहारी को सदैव इस बात की चिन्ता बनी रहती है कि किसी के घर से शुद्ध स्वच्छ दूध की प्राप्ति हो जाय, इस तरह वह अनिकेत नहीं कहा जाता, क्योंकि उसकी दृष्टि दूसरे के निकेत (घर) पर दूध की प्राप्ति के लिये लगी रहती है। दिगम्बर, नग्न रहने वाला नागा सन्यासी भी शरीर को शीत आदि से सुरक्षित रखने के लिये धूनी को निरन्तर प्रज्वलित करते रहने की दिशा में दूसरे से लकड़ी की अपेक्षा रखता है, पराश्रयी होता है। इसी तरह वाक्शक्ति को संयमित करने वाले मौनी महात्मा का भी अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिये एक सहायक, साथी की अपेक्षा रहती है। इसलिये मौनी भी पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर नहीं हो पाता और स्वात्म-प्रकाश की प्राप्ति से, अलख दिव्य परमात्मज्योति के साक्षात्कार से किसी-न-किसी अंश में न्यूनाधिक वंचित रह जाता है। सहज वैरागय तो गुरू की कृपा से ही सुलभ होता है, गुरूप्रदत्त वेश (ज्ञान) गुदड़ी को अपना कर यथालाभसन्तोष की दृष्टि से सम्पूर्ण सांसारिक हलचलों में तटस्थ रहते हुए गुरूज्ञान के प्रकाश में योगी आत्मसाक्षात्कार के परम आधार योगविवेक से सम्पन्न होता है।

दषिणी जोगी रंगा चंगा, पूरबी जोगी बादी।
पछमी जोगी बाला भोला, सिधजोगी उतराधी ।। 41 ।।

(इस सबदी में योगेश्वर गोरखनाथ की योग-साधना से सम्बन्धित प्रमुख स्थान हिमालय आदि की ऐतिहासिकता और पवित्रता तथा आध्यात्मिक दिव्यता पर प्रकाश पड़ता है, उनका कथन है) दक्षिण-नर्मदा नदी के

तटवर्ती, अथवा विन्ध्याचल के क्षेत्र से रामेश्वरम् तक के भूमिभाग में योग-साधना करने वाले योगी आहार-विहार और विषय-सुख प्रदान करने वाले पदार्थो के सेवन से मायामय जीवन से युक्त होते हैं। वे पद्मिनी स्त्रियों के रूप-जाल में मुग्ध होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठते हैं । पूर्वक्षेत्र-विशेषतः आसाम-उड़ीसा और बंगाल प्रदेश के योगी शक्ति-साधना के वातावरण में साधना करते हुए अपने आपको तान्त्रिक-मान्त्रिक आकर्षण और सम्मोहन से दूर नहीं रख पाते हैं, अपने जीवन का अमूल्य समय वाद-विवाद में खो देते हैं । पश्चिम दिशा-काश्मीर, पंजाब, सिंध, गुजरात और राजस्थान-के योगी निर्गुण निराकार परमात्मा के स्वरूप-चिन्तन में निर्मल आत्मज्ञान और प्राप्ति को प्रमुखता देते हुए योग के अभ्यास को गौणता प्रदान करते हैं, इसी कारण उन्हें असमय मृत्यु का शिकार भी हो जाना पड़ता है । उत्तराखण्ड-हिमालय के वातावरण के तिब्बत, नेपाल, गंगोत्री, यमुनोत्री तथा बदरी क्षेत्र-में योग-साधक का मन शान्त, एकान्त, निर्मल स्थान में साधना में लग जाता है, वे चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध करते हुए संयमित और योगानुशासित जीवन-यापन करते हुए आत्मज्ञान और परमात्मचिन्तन में लगे रहकर योगसिद्ध महात्मा हो जाते हैं । हिमालय की रमणीय उपत्यकाओं में एकान्त सेवन करते हुए वे सिद्धयोगी हो जाते हैं ।

अवधू पूरब दिसि ब्याधि का रोग, पछिम दिसि मिर्तु का सोग ।
दक्षिण दिसि माया का भोग, उत्यर दिसि सिधका जोग ।। 42 ।।

हे अवधूत ! योग-साधना के लिये पूर्व प्रदेश-आसाम, उड़ीसा और बंगाल-का वातावरण तंत्रमत और कौलाचार तथा शाक्त साधना से प्रभावित होने के कारण उपयुक्त नही है । यहाँ योगी साधक को व्याधियों से ग्रस्त होना पड़ता है । पश्चिम दिशा,-काश्मीर, पंजाब, राजस्थान और सिंध प्रदेश-के भी योगसाधनानुकूल वातावरण में, कहीं शीत का प्रकोप है, तो कहीं मरूस्थल की नीरसता है, कहीं भयानक हिमपात होता है, इस प्रकार यहाँ मृत्यु का प्रकोप प्राणियों की चिन्ता का महान् विषय है । दक्षिणांचल मे रमणियों के रूप-जाल में उलझ कर योगी विषय-भोग में आसक्त होकर अपनी योग-साधना का मूल उद्देश्य, परमात्म साक्षात्कार अथवा शिवात्मैक्य

का विस्मरण कर देते हैं । योगसाधना और योगसिद्धि के एकमात्र अनुकूल एकान्त पुण्यक्षेत्र उत्तरांचल, हिमालय प्रदेश की उपत्यकायें हैं, उत्तराखण्ड हिमालय ही सिद्धों के योगानुभव की शान्तिपूर्ण तपोभूमि है ।

धूतारा ते जे धूतै आप, भिष्या भोजन नही संताप ।
अहूठ पटण मैं भिष्या करै । ते अवधू सिवपुरी संचरै ।। 43 ।।

योगी सदाचारी और सत्यवादी होते हैं और वे किसी भी प्राणी के साथ कपट नही करते, उनके व्यवहार में निश्छलता रहती है । वे अहंकार को अपने मन में रंचमात्र भी ठहरने नही देते हैं, वे अहंकार का धूनन करते हैं, उपेक्षा करते हैं, उनकी अहंकार से मैत्री रहती ही नही है । वे जितने से पेट भर जाय, उतना ही भोजन माँग कर क्षुधा की तृप्ति करते हुए सन्तोषपूर्वक आत्मचिन्तन और परमात्मा के ध्यान में समाहित रहते हैं । आधिदैविक और आधिभौतिक तथा आधिदैहिक ताप उन्हें संतप्त तथा क्लान्त नही करते हैं । वे अपने शरीर के भीतर अन्तरात्मा का ध्यान करते हैं, उसी साढ़े तीन हाथ (अहुठ) वाले नगर में उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा, साधना अथवा सिद्धि-प्राप्ति की पिपासा शान्ति होती है । शरीर ही उनका नगर (पत्तन-पटण) है, उसी में संस्थित रहकर, बाह्य वृत्तियों का निरोध करते हुए योगी कुण्डलिनी - जागरण, षट्चक्र-भेदन और नाड़ी-शोधन तथा आसन और प्राणायाम के अभ्यास से स्वस्थ रहते हैं । वे इस तरह शरीर रूपी नगर के भीतर स्थित शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र, में शिव का साक्षात्कार कर जीवनामृत का रसास्वादन करते हैं । (गोरखनाथ महायोगी का कथन है,) हे अवधूत ! ऐसे योगी ही परमात्मा का साक्षात्कार कर महेश्वर आदिनाथ का स्वरूपानुभव करते हैं ।

घरबारी सो घर की जाणै । बाहरि जाता भीतरि आणै ।।
सरब निरंतरि काटै माया । सो घरबारी कहिए निरंजन की काया ।। 44 ।।

योगी वैराग्य के अभय राज्य का नागरिक होता है, जिसमें निवास करने वाला प्राणी संन्यास-धर्म का पालन करता है, वह अनिकेत होता है ।

योगी का घर तो शरीर ही है, वह इसे यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, षट्चक्रभेदन और नाड़ी-शोधन के द्वारा प्रत्येक क्षण पवित्र और निर्मल रखता है, वह अपने घर की पूरी देखभाल रखता है, उसमें कहीं भी छिद्र, सूराख नहीं होने देता अन्यथा सांसारिक विषय-वृष्टि से उसका घर ढह जाता है । प्राणवायु को वह संयमित करते हुए प्राणशक्ति, जीवन-शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है, वह माया-इन्द्रियों की विशेषसेवन-प्रवृत्ति का नाश कर देता है, उसे माया प्रभावित नहीं कर पाती है, अमृत की शीतल ज्योत्सना से उसकी काया और मन, दोनों स्वस्थ और नीरोग रहते हैं । ऐसे पवित्र शरीर से सम्पन्न योगी के चित्त में परम शिव का रमण होता है । वह परमात्मा शिव का ही चिन्मय विग्रह हो जाता है, साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है ।

गिरही सो जो गिरहै काया । अभि अंतरि की त्यागै माया ।
सहज सील का धरै सरीर । सो गिरही गंगा का नीर ।। 45 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि सच्चा गृही वह है जो अपने शरीर रूपी गृह की बड़ी तत्परता से रक्षा करता है, आसन और प्राणायाम, खेचरी आदि मुद्रा तथा जालन्धर आदि बन्धों की सिद्धि कर वह अपने घर की सदा देखभाल करता है । उसके घर में, शरीर के अन्तःकरण में माया ज्ञानरत्न, वस्तुतत्व की तस्करी नही करने पाती, माया का जाल कट जाता है, अन्तःकरण में आध्यात्मिक ज्योत्सना से अमृतरस प्रवाहित होता रहता है । वह योगी शीलमर्यादित जीवन के आचार-विचार से सम्पन्न होनें के लिये सम्पूर्ण शीलविग्रह हो जाता है, ऐसा शरीरसाधक, गृही योगी गंगा-जल की तरह पवित्र जीवन से पूर्णतया सम्पन्न होता है, दूसरों के पाप-ताप उसके चरण-संस्पर्श और सन्निधान से मिट जाते हैं और वह अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों को पवित्र बना देता है ।

अमरा निरमल पाप न पुंनि । सत रज बिबरजित सुंनि ।।
सोहं हंसा सुमिरै सबद । तिहिं परमारथ अनंत सिध ।। 46 ।।

'सोऽहम्' शब्द, मंत्र का निरन्तर जप-स्मरण करते हुए योगी हंस, परमात्मास्वरूप हो जाता है, उसका तन, मन और हृदय-सब कुछ 'सोऽहम्' मंत्र से अभिमन्त्रित हो उठता है । ज़ो साधक, योगाभ्यास में रत जीवात्मा (प्राणी) निर्गुण, सत्, रजस्, और तमस् के बन्धन से विवर्जित (रहित) है अर्थात् त्रिगुणों से ऊपर उठ जाता है, जो पाप और पुण्य के परिवेश (सीमा) से अतीत हो जाता है, जिसे दुःख, लोभ-मोह, हर्ष-शोक के द्वन्द्व परिश्रान्त नही करते हैं, जो अनासक्त और निष्प्रपंच है, निर्मल मन और अन्तःकरण से युक्त है, 'सोऽहम्-हंस' ... र शब्द-मंत्र का अनवरत जप करते हुए अर्थात् अजपाजाप में तत्पर रहते हुए अपने स्वरूप-चिन्तन में लगा रहता है, उसे समस्त जगत् स्वरूपगत दीख पड़ता है ।

पाषंडी सो काया पषालै । उलटि पवन अगनि प्रजालै ।।
व्यंद न देई सुपनैं जाण । सो पाषंडी कहिए तत्त समांन ।। 47 ।।

योगी पाखंडी नहीं होता है, वह तो मन, वचन और कर्म से निर्मल तथा पवित्र अन्तःकरणवाला होता है । यदि यौगिक क्रियायें पाखण्ड हैं तो वह पाखंडी अवश्य होता है, पाखंडी योग की क्रियाओं, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा तन को निर्मल रखता है, मन को वश में रखता है, वह पवन को उलट कर (प्राणायाम के द्वारा) योगाग्नि को प्रज्वलित करता है । योगी बिन्दुपात नही होने देता है, वह उर्ध्वरेता होता है, वीर्यस्खलन नहीं होने देता । इस तरह का योगी ही पाखण्डी-पवित्र आचार-विचार से सम्पन्न कहा जाता है, वह परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है, आत्मतत्वज्ञ होता है ।

मनवां जोगी काया मढ़ी । पंच तत्त ले कंथा गढ़ी ।
षिमा षड़ासण अघारी । सुमति पावड़ी डंड बिचारी ।। 48 ।।

यह शरीर मन्दिर, मठ (मढी) है । इस शरीर रूपी मढ़ी में मनरूपी योगी निवास करता है, मन महान्योग-साधक है । जिस तरह योगी के शरीर पर कन्था (गुदड़ी, चिथड़ों से गुँथा वस्त्र) रहती है, उसी तरह मनरूपी योगी पाँच

तत्व पृथ्वी जल, तेज, गगन और वायु के संयोग से निर्मित परिधान से आवेष्टित रहता है, मनरूपी योगी के लिये क्षमा ही षड़ासन है । षड़ासन के सहारे योगी को खड़े-खड़े बैठने का सुख मिलता है, इसी प्रकार जिसके मन में क्षमा है, वह साधन में सफलता पाता है । मनरूपी योगी ज्ञानकी अधारी का उपयोग करता है । (काठ के डंडे में लगे पीढें को अधारी कहा जाता है) इसे योगी सहारे के लिये रखता है । ज्ञान से ही मन योग-पंथ में अग्रसर होता है । वह सुमति-सद्‌बुद्धि की पादुका का उपयोग करता है, यदि मन में सद्‌बुद्धि, सद्विवेक न हो तो पतन की आशंका रहती है । जिस तरह योगी डंडा लिये रहता है, इसी तरह मनरूपी योगी विचाररूपी डंडा का उपयोग कर पथ में, साधना के मार्ग में, भ्रमित होने से बच जाता है । काया-मन्दिर में रहने वाले मनरूपी योगी के लिये क्षमा, ज्ञान, सद्‌बुद्धि और विचार की निरन्तर अपेक्षा रहती है अथवा वह निरूद्धवृत्ति वाला नहीं हो सकता है ।

चालत चंदवा षिसे-षिसे पड़ै । बैठा ब्रह्म अगनि परजलै ।
आडै आसणि गोटिका बंध । जावत प्रथिमी तावत कंध ।। 49 ।।

योगी कुण्डलिनी-जागरण और षट्चक्र-भेदन के परिणामस्वरूप सहस्त्रदल-सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से झरते अमृत का पान कर इसी शरीर से प्रलयपर्यन्त अमर हो जाता है । चंचलता से चन्द्रद्रव, प्राणामृत खिसक-खिसक कर क्षरित हो जाता है, स्थिरता से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है, ज्ञानदीप्ति स्थिर रहती है । तिरछी अवस्था में, चल और अचल के मध्य की अवस्था में (आदि) अभ्यास से गोटिकाबन्ध-सिद्धि की प्राप्ति होती है, जिससे योगी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर धारण कर अदृश्य हो जाता है । (कहा जाता है कि सिद्ध योगी अभिमंत्रित गुटिका, गोली मुख में रख कर अदृश्य हो जाता है) इस तरह वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है और जब तक पृथ्वी स्थिर रहती है, तब तक उसका शरीर बना रहता है ।

यहु मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्त का जीव ।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।। 50(क) ।।

योग-साधना में सिद्धि मन को सम्पूर्ण वश में करने का चरम फल है । मन योग-क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है, यही मन परम शक्ति, जागृत कुण्डलिनी महामाया है, तो यही मन परमशिव का रूप ग्रहण कर लेता है । यही मन पांचभौतिक शरीर में निवास करनेवाला जीवात्मा है । इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्म चिन्तन के अभिमुख रखता है, वह तीनों लोक, आकाश, पाताल, और मृत्युलोक का रहस्य समझ लेता है ।

अवधू नव घाटी रोके लै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अबिचल बिध । छाया बिबरजित निपजै सिध ।। 50 (ख) ।।

हे अवधूत ! प्राणायाम की सिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर के नवों द्वार, एक मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नासिका रन्ध्र, उपस्थ और गुदा पर संयम रखे । इसका सुपरिणाम यह होगा कि शरीर भीतर वायुको पचा लेने में समर्थ होगा और शरीर की चौसठ सन्धियों में वायु का व्यापार सुव्यवस्थित ढंग से होगा, वायु में विकार नहीं आयेगा और प्राणायाम में सिद्धि मिलेगी । शरीर में पूर्ण आरोग्य का लाभ होगा, यह एक प्रकार का कायाकल्प है, इससे योग-साधक सिद्धावस्था में पहुँच जायेगा, उसके शरीर की छाया नही पड़ेगी, वह सर्वत्र गमन करने में सक्षम होगा ।

अवधू दंग कौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं ।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूंर ।। 51 ।।

हे अवधूत ! प्राण का संयम करना चाहिए । दम अथवा प्राण का संयम प्राणायाम के अभ्यास से ही सिद्ध होता है । प्राण को नियन्त्रित करने पर मन पूर्णतया वश में हो जाता है, उन्मनावस्था सिद्ध होती है । नव द्वार, मुख, नेत्र, नासारन्ध्र, कान, उपस्थ, गुदा तो प्रत्यक्ष हैं पर ब्रह्मरन्ध्र दसवां द्वार अप्रत्यक्ष है । दशम द्वारा में ही योगी उन्मन होता है, नाद बिन्दु के मेल से उत्पन्न अनाहत नाद का श्रवण कर वह निराकार परब्रह्म शिव के प्रकाश का ब्रह्मरन्ध्र में दर्शन करता है । ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के बिना ही अलख निरंजन, चिन्मय तत्व भासित होता है ।

सास उसास बाइ कौं भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं ।
छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमैंनी जोग अपारं ।। 52 ।।

कुम्भक प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर श्वासोच्छ्वास का भक्षण करना चाहिए, इस कार्य में जितनी अधिक सफलता मिलेगी, उतनी ही प्राणशक्ति अक्षुण्ण होती जायेगी और मृत्यु का भय दूर होता जायेगा । नवों द्वारों को रोक कर वायु को शरीर में पचा लेने से कायाकल्प तो अनायास हो ही जाता है, पर साथ-ही-साथ सालभर में दो बार, छः-छः माह की अवधि में यौगिक विधि से कायाकल्प करने से शरीर में नये प्राण दौड़ने लगते हैं, इससे उन्मन योग सिद्ध होता है । मन स्थिर हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र, दसवाँ द्वार के खुल जाने, पर निष्कल निरंजन, चिन्मय परमात्मतत्व अभिव्यक्त हो उठता है, इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है ।

अवधू सहंस्र नाड़ी पवन चलैगा, कोटि झमंकै नादं ।
बहतरि चंदा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आदं ।। 53 ।।

हे अवधूत ! ब्रह्म्रन्ध्र, दसवें द्वार में मन के स्थिर तथा उन्मनी अवस्था में सिद्ध होने पर शरीर प्राणामृत से परिपूर्ण हो उठता है । शरीर को समस्त नाड़ियों का मल निकल जाता है, शरीर में फैली सहस्र नाड़ियों में पवन का संचार होने पर करोड़ों नाद के समान अनाहत नाद प्रस्फुटित हो उठता है, इस तरह ब्रह्म के मूल प्रकाश (आदि ज्योति) के प्रकट होने पर वायु बहत्तरों चन्द्रमाओं को सोख लेती है । प्राणायाम के सफल प्रयास से ही शरीर की नाड़ियों में पवन का संचरण होता है और मन की चंचलता मिट जाती है । इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है और योगाभ्यासी सहज समाधि में परब्रह्म-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

अमावस के घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिंम कै घरि सूरं ।
नादकै घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं ।। 54 ।।

षट्चक्र-भेदन तथा महाशक्ति कुण्डलिनी की जागृति की पूर्व स्थिति ही अज्ञानान्धकार, अमावस्या है । कुण्डलिनी इसी अवस्था में सुप्त रहती हैं ।

जब जीव बिन्दु (चन्द्र)-रज (सूर्य) के संयोग के मार्ग पर चलते हुए मूलाधार स्थित परमशक्ति कुण्डलिनी को जगाते हुए मूलाधारचंक्र, मणिपुर, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों का भेदन करते तथा सुषुम्णा-मार्ग में स्थित प्राण-शक्ति को ऊर्ध्वमुख करते हुए सहस्रार में परम शिव के सान्निध्य में उपस्थित होता है तो अमावस्या पूर्णिमा में परिवर्तित होती है, इस तरह सहस्रार में चन्द्रमा और सूर्य अथवा बिन्दु और रज अथवा शिव और शक्ति के महायोग के पर्व पर जीवात्मा अमृत पान करता है, प्राण अमर परब्रह्म से भी अतीत परमशिव अलख निरंजन शून्य पद में संस्थित हो जाता है । प्राणायाम की सम्पूर्ण सिद्धि होने पर शरीर को चौसठ सन्धियों में वायु के वेगवान प्रवाह से नाद में बिन्दु, (चन्द्रमा) शुक्र के प्रवेश से जीवात्मा अमरता की दिशा में ऊर्ध्वमुख हो उठता है, उसकी उन्मनावस्था सिद्धि होती है और सहज अनाहतनाद का श्रवण होने लगता है ।

उलटंत नादं पलटंत ब्यंद, बाई के घरि चीन्हसि ज्यंद ।
सुनि मंडल तहाँ नीझर झरिया , चंद सुरजि ले उनमनि धरिया ।। 55 ।।

प्राण-शक्ति का संयम हो अमरत्व है, अमृतत्व है । चन्द्र (बिन्दु) और सूर्य (रज) के योग से अथवा शिव और शक्ति के समागम से उन्मनावस्था की सिद्धि होती है । मन पाँचभौतिकक्षेत्र, शरीर से अमनस्क होकर सहस्रार की ओर गमन करता है । चन्द्र और सूर्य के योग से शून्य मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अमृत का निर्झर झरने लगता है और नाद उलट जाता है नाद सूक्ष्म-शब्द तत्व का क्रियमाण स्वरूप है और यह क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होकर सृष्टि का कारण होता है । नाद का सृष्टि-निर्मायक स्थूल स्वरूप अपने मूल स्रोत की ओर लौट पड़ता है और अधोगामी बिन्दु ऊर्ध्वगामी हो जाता है ।

अवधू प्रथम नाड़ी नाद झमंकै, तेजंगनाड़ी पवनं ।
सीतंग नाड़ी ब्यंद का बासा, कोई जोगी जानत गवनं ।। 56 ।।

योग-साधना की सिद्धि के मार्ग में निर्मल नाड़ियों से प्रवाहित वायु, प्राण-शक्ति के सुषुम्णा नाड़ी में स्थित होने पर नाद अपने सूक्ष्म स्वरूप में

सहज निनादित होकर श्रवणगत होने लगता है । सूर्य (रज), यह प्राण का शोषण करता है परन्तु इस पिंगला (सूर्य)- नाड़ी-पवन का संचार होने पर शरीर में अमृतरस को पचाने की शक्ति बढ़ती है, शीतल (इड़ा) चन्द्र-नाड़ी में बिन्दु, वीर्य के समाहित होने पर मन उन्मन होने लगता है, इस तरह नाद-बिन्दु का व्यापार सुषुम्णा के द्वारा पिंगला और इड़ा में यौगिक विधि से आरम्भ होने पर और मन के उन्मन होने पर प्राण-शक्ति शरीर में प्रवाहित होती है । यह योगानुभव किसी महान् योगी को ही सुलभ होता है ।

उठंत पवनां रवी तपंगा, बैठंत पवनां चंदं ।
दहूँ निरंतरि जोगी बिलंबै, बिंद बसै तहाँ ज्यंदं ।। 57 ।।

सूर्य नाड़ी (पिंगला) में पवन की गति बड़ी तीव्र होती है, जब श्वास बाहर निकलता है तब सूर्य नाड़ी चलती है और जब श्वास भीतर आता है तब चन्द्र (इड़ा) नाड़ी में स्थिर होता है । नाड़ी से वायु के इस बहिर्गमन तथा उसमें अन्तर्गमन से परे होकर योगी सुषुम्णा नाड़ी में समाश्रित होकर बिन्दु को स्थिर करता है क्योंकि सुषुम्णा में ही बिन्दु का निवास होता है । इस बिन्दु-साधन से योगी अमरत्व का लाभ करता है, बिन्दु का क्षरण ही मृत्यु है, बिन्दु का संरक्षण ही अमृतत्व है ।

केता आवै केता खाई, केता मांगे केता जाई ।
केता रूष विरष तलि रहै, गोरष अनभै कासौं कहै ।। 58 ।।

योग की बात योगी ही समझते हैं । घर का त्याग कर, पारिवारिक बन्धन से विरक्त होरक इधर-उधर अनेक स्थानों पर परिभ्रमण करते रहने से ही कोई योगी नही बन जाता है, संचय और संग्रह की वृत्ति का परित्याग, भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करना मात्र ही योग-साधना नहीं है, इसी तरह गांव और नगर से दूर होकर अरण्य में या वृक्ष के नीचे आवास बदलते रहने से और अनिकेत कहलाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता । (गोरखनाथजी का कथन है) अभयपद ज्ञान का अनुभव, महायोग का निरूपण मैं किसके प्रति करूँ, मुझे वास्तविक योगी तो दीख ही नहीं पड़ते हैं ।

पढ़ि देखि पंडिता रहि देषि सारं । अपणी करणी उतरिवा पारं ।
बदंत गोरखनाथ कहि धू साषी । घटि घटि दीपक (बलै) षणि पसु न
(पेषे) आंषी ।। 59 ।।

शास्त्र-बचन पढ़ने मात्र से ही कराल भवसागर, माया-मोह-व्याधिग्रस्त संसारसागर से पार उतरना सम्भव नहीं है, इस ज्ञान को अपने जीवन में उतारने से, उसके अनुसार सद्गुरू के सान्निध्य में जीवन बनाने से ही ज्ञानियों में जीवन के रस का अनुभव पाया जाता है, (गोरखनाथजी का कथन है,) प्रत्येक घट, शरीर में आत्मज्योति प्रकाशित है, मैं इसके लिये किसे साक्षी बनाऊँ, साक्षी की आवश्यकता नहीं है । इस ज्ञान दीपक-ज्योति, आत्मप्रकाश का दर्शन आँख रहते भी पशु, योगानुभवशून्य प्राणी को नही हो पाता है ।

सुसबदे हीरा बेधिलै अवधू जिम्या करि टकसालं ।
औगुंन मध्ये गुंन करिले, तौ चेला सकल संसारं ।। 60 ।।

जिह्वा टकसाल के समान है, इसमें 'सोऽहम्'-जप के द्वारा परमतत्वरूपी हीरे का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमृतवचन में ही परमात्मा का निवास है । अमृतवचन, मधुरवाणी से असार संसार में, जो अवगुण अथवा दुर्गुण का स्थान है, गुण (सुन्दर जीवन का परिचय देकर) को अपना लेने से जीवन निस्सन्देह सार्थक और परम कृतार्थ हो उठता है । शब्द-साधना में सिद्ध योगी के पीछे-पीछे परमात्मज्ञान से लाभ के लिये सारा संसार चलने लगता है ।

अभरा था ते सूभर भरिया नीझर झरता रहिया ।
षांडे थैंबुरसाण दुहेला, यूँ सतगुरि मारग कहिया ।। 61 ।।

जो ज्ञान से रिक्त रहता है, वह प्राणी भी योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । योग-साधना से सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का स्राव निरन्तर होने लगता है पर यह सद्गुरू मार्ग, सद्गुरू की कृपा से ही अनुभवगम्य योगमार्ग, खड्ग, कृपाण की धार से भी सूक्ष्म और

और दुस्साध्य है, इस पर चलते समय तनिक भी पद के पतित हो जाने पर, पैर के फिसल जाने पर निरापद महाज्ञान से हाथ धोना पड़ता है, इस पर बड़ी सावधानी से चलना चाहिए ।

प्यंडे होई तौ पद की आसा, बंनि निपजै चौतारं ।
दूध होई तौ घृत की आसा, करणी करतब सारं ।। 62 ।।

निस्सन्देह परमात्मा वन के जीव-जन्तुओं में उसी तरह सहज व्याप्त है, जिस तरह पिण्ड मात्र में उसके विद्यमान होने की आशा की जाती है । शरीर में, वन में, सब जगह परमात्मा है पर उसको पाने की युक्ति होती है, बिना युक्ति के वह प्रकाशित नही होता है । यह सच है कि दूध में जिस तरह घृत की आशा की जाती है, उसी तरह पिण्ड में ब्रह्म है ही परन्तु उसकी खोज करनी चाहिए । दूध को बिना मथे जिस तरह घी नहीं मिला करता, उसी तरह योग-साधना में ही सारवस्तु है, योगानुभव से ही परमात्म साक्षात्कार होता है ।

मन मैं रहिणां भेद न कहिणां, बोलिबा अंमृत बांणी ।
आगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पांणी ।। 63 ।।

सच्चे योगी साधक को मन में ही स्थिर रहना चाहिए और अपनी साधना की बात किसी से प्रकाशित नही करनी चाहिए । सबसे मधुर बचन बोलना चाहिए, इस अमृतवाणी से किसी के मन में क्षोभ नहीं होता है और साधना बिना किसी विघ्न के सफलता की दिशा में बढ़ती रहती है । यदि सांसारिक अथवा लोक-व्यवहार में हमारे ऊपर कोई अज्ञानवश क्रोध करे, आलोचना करे, कड़ी बात कहे तो हमें सदा शान्त रहना चाहिए । इससे हमारा विरोध करने वाला स्वतः शान्त हो जाता है । योग-मार्ग का रहस्य है, कोई आग बने, तो हम पानी बन जाँय, मन में उद्वेग आने ही न दें ।

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नीझर पांणी ।
लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेबा बांणी ।। 64 ।।

योगी को उन्मनावस्था में रहना चाहिए, सदा सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए, उसे जगत् के प्रपंचों से ऊपर उठ जाना चाहिए और अपनी आत्ममुखी अन्तरंग साधना का रहस्य किसी भी व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए । जो प्रपंची और सांसारिक माया-मोह में ग्रस्त होता है, वह योग-साधना का स्वारस्य नहीं समझ सकता है । गुरू के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखकर योगी को जगत् के माया-मोह का बन्धन तोड़ देना चाहिये और इससे परे अमायिक, आध्यात्मिक विचार का गुरू की कृपा से परिशीलन करना चाहिए । ऐसा योगी ही सद्गुरुनिष्ठ होता है ।

नग्री सोभंत बहु जल मूल बिरषा, सभा सोभंत पंडिता पुरषा ।
राजा सोभंत दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि-बुधिकी बांणी ।। 65 ।।

नगर की शोभा उसमें स्थित अनेक उद्यानों और तड़ागों से बढ़ती है, इसी तरह सभा की शोभा विद्वानों से सार्थक होती है, राजा तभी शक्तिमान् कहा जाता है, उसे जब अपनी सेना का विश्वास प्राप्त रहता है अन्यथा वह नाममात्र का राजा होता है और निर्बल तथा शक्तिहीन समझा जाता है । ठीक इसी तरह योगसिद्ध पुरूषों की शोभा आध्यात्मिक सत्ता की परिचायिका निर्मल शुद्ध बुद्धियुक्त विवेकमयी वाणी है, जिसके श्रवणमात्र से इस बात का परिज्ञान हो जाता है कि यह सिद्ध पुरूष की अनुभूति की ही प्रकाशिका है ।

बिरला जाणंति भेदांनिभेद बिरला जाणंति दोइ पष छेद ।
बिरला जाणंति अकथ कहांणी,
बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांणी ।। 66 ।।

अभेद-अखण्ड अलख निरंजन शून्य पद, परमपद अथवा परमात्मा के रहस्य को कोई-कोई ही जान पाते हैं, परमात्मा अद्वैत, निराकार, निर्विकार और केवल शून्य है, अपनी योग माया के प्रभाव से वह द्वैत रूप में प्रतिभासित होता है । इस द्वैत का निरसन किसी बिरले विवेकी सद्-असद्

के निर्णायक के ही द्वारा हो पाता है । उसकी इस अकथनीय कथा का तात्पर्य किसी विरले योगसिद्ध की वाणी में परिलक्षित होता है ।

उत्तरखंड जाइबा सुंनिफल खाइबा, ब्रह्मअगनि पहरिबा चीरं ।
नीझर झरणैं अंमृत पीया, यूं मन हूबा थीर ।। 67 ।।

योगी को उत्तर खण्ड सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी को जागृत करते हुए स्थित होना चाहिए, वहाँ शून्यपद का अनुभव प्राप्त होता है, अलख निरंजन की ज्योति का साक्षात्कार होता है । योगी उस सहस्रार में स्थिति होकर ब्रह्माग्निरूपी चीर (वस्त्र) धारण करता है, समस्त संकल्पों का होम कर परमात्मज्ञान की महाज्योति का वरण करना ही उसका परिधान धारण करना है । इस तरह योगी सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत के पान के द्वारा अपनी आध्यात्मिक ज्ञानसिद्धि की चिर पिपासा की तृप्ति कर लेता है । (गोरखनाथजी का कथन है ।) इस तरह की शून्य अन्तरंग साधना के द्वारा मेरा मन स्थिर अथवा उन्मन हो गया ।

हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत ।
जोगी ध्यावै परम पद जहा देहुरा न मसीत ।। 68 ।।

हिन्दू मन्दिर में परमात्मा के श्रीविग्रह की प्राण प्रतिष्ठा कर उसके स्वरूप का ध्यान करते हैं । मुसलमान, इस्लाममत के अनुयायी मसजिद में निराकार ईश्वर के स्वरूप का आवाहन और चिन्तन करते हैं, पर योगी के लिये यह परम पद सर्वत्र है, देवालय, मन्दिर, मसजिद, सब जगह उसे परमात्मा का सहज बोध सुलभ होता है । योग का परम तात्पर्य यही है कि जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्न सामरस्य की सिद्धि हो ।

हिन्दू आषैं अलष कौं तहां राम अछै न षुदाइ ।। 69 ।।

हिन्दू राम के नाम से अपने उपास्य परमात्मा का ध्यान करते हैं । वे परमात्मा को राम कहते हैं, इसी तरह इस्लाम में विश्वास रखने वाले मुसलमान अपने परमात्मा को अल्लाह और खुदा के सम्बोधन से स्मरण और

चिन्तन करते हैं । यह राम, यह खुदा (अल्लाह) परमात्मा घट-घट में व्यापक अलख निरंजन चैतन्यस्वरूप परब्रह्म है, यही योगियों का परम ध्येय परमशिव है ।

प्यंडे होई तौ मरै न कोई, ब्रह्मांडे देषै सब लोई ।
प्यंड ब्रह्मंड निरंतर बास, भणंत गोरष मछ्यंद्र का दास ।। 70 ।।

परमात्मा, निराकार अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित अदृश्यब्रह्म है सर्वत्र परिव्याप्त है, वह शरीर में आत्मारूप में हैं पर शरीर भौतिक है, परमात्मा चिन्मय है, यदि शरीर सम्पूर्ण चिन्मय अथवा परमात्म होता तो उसका नाश नही होता, परमात्मा ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं पर ब्रह्माण्ड स्थूल हैं, आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उसमें सूक्ष्मामातिसूक्ष्म स्वरूपस्थ परमात्मा निराकार होने के कारण प्रत्यक्ष (साकार) नही हो पाता है । यह नितान्त सच है कि शरीर ब्रह्माण्ड में समान रूप से परमात्मा विद्यमान है । वह सच्चिदानन्द-स्वरूप परमशिव अलक्षित है । ऐसा मत्स्येन्द्रनाथ के दास गोरखनाथ का ही स्वतः सिद्धः सत्य है, अनुभव है ।

बैठा अवधू लोह की षूंटी, चलता अवधू पवन की मूंठी ।।
सोवता अवधू जीवता मूवा, बोलता अवधू प्यंजरै सूवां ।। 71 ।।

योगी जब योगासनों से सुदृढ़ अभ्यास में सफल अथवा सिद्ध हो जाता है तो वह अपनी इन्द्रियों की कार्य-विधि पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखता है । जिस तरह लोहे की खूँटी को उखाड़ना अथवा हिला-डुलाकर निकाल लेना आसान नही है ठीक उसी तरह आसनसिद्ध योगी को किसी प्रलोभन के द्वारा चंचल चित्तवाला नही बनाया जा सकता है । अभ्यास में सिद्ध योगी जब प्राणायाम में सफल होता है, प्राण पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह आकाश में पवन के द्रुत वेग के समान उड़ता रहता है । वह क्षणमात्र में संकल्प करते ही समय और स्थान के बन्धन से परे होकर मनोवांछित स्थान में पहुँच जाता है । जो अवधूत अथवा योगी योगाभ्यास से विमुख होकर, इन्द्रियों के वश में होकर, भोग-सुख और वैषयिक रसास्वादन में कालक्षेप करता है, आलस्यवस होकर उद्बोधन की शक्ति का त्याग कर निद्राभिभूत

(सोता) रहता है, उसे जीते जी मृतक के समान ही समझना चाहिए, जो योगी साधना-सिद्ध होकर शरीर, आत्मा और परमात्मा का सद्विवेक प्राप्त कर मौन नही धारण कर लेता, वह उस सुग्गे के समान है, जो पिंजरे में डाल दिया जाता है और उसी में चहचहाता रहता है । ऐसे योगी के शारीरिक - मानसिक बन्धन का अन्त नही होता, वह बद्ध ही रहता है ।

गोरष कहै सुणह रे अवधू जग मैं ऐसैं रहणां ।
आंषैं देषिबा कांनैं सुणिबा मुष थैं कछू न कहणां ।। 72 ।।

(गोरखनाथजी का कहना है) हे अवधूत, यह संसार द्वन्द्वात्मक है, इसमें सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, शीत और उष्णता, दिन-रात, ये सभी प्रपंच चलते रहते हैं, योगी को इनके प्रति तटस्थ रहकर इनकी गति-विधि का द्रष्टा मात्र रहना चाहिए । द्रष्टा बने रहने का तरीका यह है कि जो कुछ संसार के सम्बन्ध में वार्ता चले, उसे सुने, जो दृश्य हों, उन्हें देखे, पर इनके सम्बन्ध में अपना मत न व्यक्त करे, सर्वथा तटस्थ और मौन रहे, संसार की माया, मोह से परे रहना ही युक्त जीवन है, योगसाधना है ।

नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि बाद न करणां ।
यहु जुग है कांटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां ।। 73 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी, आत्मरक्षा करनी चाहिए, शरीर-धर्म अथवा भौतिकता का वरण करने से श्रेयस्कर आत्मधर्म नष्ट हो जाता है, व्यर्थ वाद-विवाद में पड़ने से सद्वस्तु हाथ नही लगती । यह संसार कंटकमय है, यह कांटे के खेत के समान है, जिसमें चलने पर पद-पद पर कांटे गड़ने की सम्भावना बनी रहती है । इसमें सोच-विचार कर एक-एक पग सावधानी से रखते हुए चलना चाहिए । अन्यथा भौतिक प्रपंच में उलझने का भय है ।

गोरष कहै सुणौं रे अवधू सुसूपाल थैं डरिये ।
ले मुदिगर की सिर मैं मेलै तो बिनही षूटी मारिये ।। 74 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी सदा योग-साधना में तत्पर रह कर आत्मचिन्तन करना चाहिये, मृत्यु (सुसपाल) से निरन्तर सावधान रहना चाहिये, यह किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में शरीर पर आक्रमण कर उसे अपना ग्रास बना सकती है, इसमें किसी भी तरह का आश्चर्य नही करना चाहिये, यह नहीं देखती है कि आयु में कितने दिन बाकी रह गये है, यह तो किसी भी समय सिर पर अपने मुद्गर से आघात अथवा प्रहार कर सकती है ।

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कांनं ।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांनं ।। 75 ।।

योगी के लिए प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रिय-निग्रह अनिवार्य है । नेत्र का कार्य देखना है, प्रपंच-विकार (भौतिकरूपरस) में आसक्त रहने का नेत्र का स्वभाव, दृष्टिन्यास रूपान्तरित कर देना चाहिये, इसी तरह कान का धर्म सुनना है उसके, प्रपंच अथवा (लोक)-चर्चा, व्यर्थ प्रलाप सुनने की शक्ति को अनाहत नाद-श्रवण में नियोजित कर परमानन्द का अनुभव करना चाहिये, नाक से निकलने वाले श्वास-प्रश्वास को प्राणायाम से नियंत्रित कर प्राण को सबल बनाना चाहिये । इसह तरह अभ्यास में तत्पर होने पर परमपद, कैवल्य की सिद्धि होती है ।

अवधू मनसा हमारी गोंद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं ।
अनहद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं ।। 76 ।।

हे योगी, योग-साधना चौगान का खेल है, इसमें मन गेंद है, सुरति, मन का उन्मन होना, ही चौगान अथवा बल्ला है, जिससे मन को अपने वश में किया जाता है । शब्दातीत अनहदनाद ही घोड़ा है, जिस तरह घोड़े पर सवार होकर मैदान में चौगान खेला जाता है, ठीक उसी तरह अनहदनाद के श्रवण के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र (शून्य गगन) रूपी मैदान में योगी, योगसिद्धि प्राप्त करता है ।

पंच तत्त सिधां मुड़ाया तब भेटिलै निरंजन निराकरं ।
मनमस्तहस्ती मिलाइ अवधू, तब लूटिलै अषै भंडारं ।। 77 ।।

हे योगी, पाँचों तत्व, क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन को यौगिक प्रक्रियां अथवा साधना के द्वारा धारण कर उन पर विजय पा जाने से, उन्हें वश में कर लेने से, अलख निरंजन निराकार परब्रह्म (परमशिव) का साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है । इसी तरह मनरूपी गज को साधना के अंकुश से अपने वश में कर लेने पर तथा मन को उन्मन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर उसमें विलीन कर देने पर अक्षय भण्डार, सहस्रार से झरता चन्द्रामृत उपलब्ध हो जाता है ।

अरध-उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई ।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरषनाथ परमगति पाई ।। 78 ।।

मूलाधार में स्थित सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए मैंने षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अपनी प्राणचेतना, जीवनी-शक्ति प्रतिष्ठित कर ली अथवा-अपान प्रणवायु को संयमित कर या कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते हुए (शून्य) गगन, ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव से सायुज्य प्राप्त कर लिया अथवा महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव में अन्तर्भूत हो गयी, ऐसा होने पर मैंने अलख निरंजन का साक्षात्कार कर लिया, कैवल्य पद पा लिया ।

डंडी सो जे आप डंडै, आवत जाती मनसा षंडै ।
पंचौ इन्द्री का मरदै मांन, सो डंडी कहिये तत्त समांन ।। 79 ।।

दण्डधारी संन्यासी वह होता है, जो अहंकार के वश में नहीं रहता, अहंकार का दमन कर देता है, तथा क्षणिक, चंचल कामनाओं से छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति में अपने जीवन का दुरूपयोग नहीं करता है । दण्डी अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वैषयिक सुखोंपभोग में आसक्त होने से रोकता है, उसी विषयासक्ति की शक्ति का मर्दन कर देता है, इस तरह अहंकार, इच्छाओं और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर दण्डी (संन्यासी) ब्रह्मपद अथवा परमात्मपद, सत्य का साक्षात्कार करता है ।

पाया लो भल पाया लो, सबद थांन सहेती थीति ।
रूप संहेता दीसण लाया, तब सर्व भई परतीति ।। 80 ।।

मुझे तत्वबोध हो गया , मैंने अच्छी तरह स्वरूप समझ लिया, शब्द की साधना, नादानुसन्धान के द्वारा मैंने ब्रह्मपद में प्रवेश कर शिवैक्य की स्थिति प्राप्त कर ली, मुझे पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमाशिव अथवा परब्रह्म का, अलख निरंजन शून्य पद में समाहित परमात्मतत्व का साक्षात्कार अथवा निर्मल-निर्विकार दर्शन हो गया । मुझे इस बात पर तनिक भी संशय नहीं है कि मुझे तत्वबोध नहीं हो सका ।

अरधंत कवल उरधंत मध्ये प्रांण पुरिस का बासा ।
द्वादस हंसा उलटि चलैगा, तबही जोति प्रकासा ।। 8। ।।

मूलाधार में स्थित कमल (चक्र) में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण करते हुए द्वादश प्रणवात्मक जप, प्राणाभ्यास के द्वारा ऊपर के अन्य चक्रों (कमलों) का भेदन करते हुए जब सहस्रार , ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य पद में प्राण पुरूष जीवात्मा निवास कर परमाशिव का सायुज्य अथवा अलख निरंजन ब्रह्म का सहज साक्षात्कार करता है, तब परमात्मज्योति सम्पूर्ण कलाओं से प्रकाशित हो जाती है और जीवात्मा अपने अभिन्न कैवल्य स्वरूप में संस्थित हो जाता है, प्राणवायु जो, बाहर उत्क्रामित होती है, कुम्भक की विधि से भीतर कर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी करने से आत्महंस जो कुण्डलिनी से समाश्रित रहता है, ऊर्ध्वमुखी हो उठता है, हंस प्राण के आधारभूत होता है, और वह प्राण द्वादस अंगुल के परिमाण का होता है । अजपा (गायत्री) जप द्वारा (प्रणवात्मक हंस को ऊर्ध्वमुख करते हुए) जब जीवात्मा ऊर्ध्व कमलों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी के जागरण द्वारा शून्यपद -ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है तो वहाँ उसे परम ज्योति का सहज दर्शन होने लगता है ।

आसण बैसिबा पवन निरोधिबा, थांन मांन सब धंधा ।
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जल दीसै चंदा ।। 82 ।।

(गोरखनाथ का कहना है,) योगाभ्यास की सिद्धि का परमफल है आत्मचिन्तन और आभ्यन्तर साधना । जब तक आत्मा का विचार नहीं किया जाता, आत्मतत्व के परिशीलन में दृष्टि नहीं रहती, तब तक आसन, प्राणायाम

और प्रत्याहार आदि बहिरंग साधनों का कोई महत्व ही नहीं है, वे तो योग की सिद्धि की दिशा में बाह्य उपकरण (धंधा) है, आत्मतत्व का विचार करने से यह पता चल जाता है कि सारा दृश्य (जगत्) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिस तरह जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब वास्तविक चन्द्रमा नहीं है, उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है, उसी तरह जगत् परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, जगत् ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म से प्रतिबिम्बित दृश्य मात्र है ।

गोरष बोलै सुणि रे अवधू पंचौं पसर निबारी ।
अपणी आतमां आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी ।। 83 ।।

(गोरखनाथ के वचन हैं,) हे अवधूत, हे योगी, सदा आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए । शरीर नश्वर है, जड़ है और इसमें विद्यमान पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को उनके भौतिक विषयों (रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द,) से प्रत्याहारित कर आत्मा के चिन्तन की ही ओर मोड़ना चाहिये । ज्ञानेन्द्रियों के इस तरह अन्तर्मुखी हो जाने पर जीवात्मा अनायास ही परमात्मपद में प्रतिष्ठित हो जायेगा । उसका आत्मचिन्तन उसे जीवन्मुक्त बना देगा और वह भौतिक सम्बन्धों की हानि और बियोग की चिन्ता से सम्पूर्ण मुक्त होकर निर्भय पद में निश्चिंत और निश्चल हो जायेगा । वह पैर पसार कर (पूर्ण अभय यपद में स्थित होकर) परमात्मा में विश्राम करेगा ।

अहार न्यंद्रा बैरी काल, कैसे कर रखिबा गुरू का भंडार ।
अहार तोड़ो, निंद्रा मोड़ौ, सिव सकती लै करि जोडौं ।। 84
तब जानिबा अनाहद का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन नहीं पड़ै कंध ।
रकत की रेत अंग थैं न छूटै, जोगी कहतां हीरा न फूटै ।। 84 ।।

योगी को अल्पाहारी होना चाहिए । अधिक भोजन कर लेने से नींद सताती है, समय काल बन जाता है, समय बीत जाता है और योग-साधना नहीं हो पाती है । जिस तरह सोने वाले की सम्पत्ति चोरों के द्वारा अपहृत कर ली जाती है, ठीक उसी तरह भौतिक विषय और निद्रा में आसक्त होने से आत्मज्ञान की रक्षा करना कठिन हो जाता है । इसका तो एक मात्र उपाय

यह है कि योगी कम-से-कम आहार ग्रहण करे और समय का आत्मचिन्तन में उपयोग करते हुए योगाभ्यास में तत्पर रह कर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परम शिव से संयुक्त कर अलख निरंजन का साक्षात्कार करे । अत्यल्पाहार से इन्द्रियों में स्फूर्ति बनी रहेगी, नाड़ियों के मल का प्राणनिरोध अथवा प्राणायाम के अभ्यास से शोधन होगा, नाड़ियों में सम्यक् प्राण-संचार और चक्रों के भेदन से अनाहत नाद-श्रवण होगा । परमात्मा की ज्योति प्रकाशित होगी । यह उसी अवस्था में सिद्ध समझना चाहिए, जब योगी का शरीर-पात न हो, वह पक्व देह, सिद्ध देह की प्राप्ति कर ले और तीनों लोकों में उसकी प्राणायाम की सिद्धि के द्वारा (आकाश-मार्ग से) अबाध गति, आना-जाना हो, वीर्य, लाल रक्त का सारतत्व अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो जाय और पूर्ण ब्रह्मानुभव प्राप्त हो गया, ऐसा योगी कह पड़े ।

सबद एक पूछिबा कहौ गुरू दयालं, बिरिधि थैं क्यूं कारे होइबा बालं ।
फूल्या फूल कली क्यूं होई, पूछैं कहै तो गोरष सोई ।। 86 ।।

गुरू के चरण में शिष्य की एक शब्द में जिज्ञासा है कि शरीर में जीर्ण-शीर्ण होने पर वृद्धावस्था आने पर किस तरह उसे नव यौवन प्रदान कर तरूणावस्था का रसास्वादन किया जा सकता है, क्या यह सम्भव है कि पूर्ण विकसित फूल अपनी प्रारम्भिक अवस्था (कलीरूप) में परिणत हो जाय । शिष्य के इस एक शब्द की जिज्ञासा में षडंग-योग अथवा हठयोग का सम्पूर्ण सारतत्व अन्तर्निहित है, जिसके समाधान में जीवन का अविकल अमृततत्व भरा पड़ा है, इस रहस्य का, जिज्ञासा का समाधान करनेवाले गुरू ही जितेन्द्रिय सर्वसमर्थ महायोगी गोरखनाथ हैं (इस सबदी का यही महत्व है) ।

सुणौं हो देवल तजौ जंजालं, अमिय पीवत तब होइबा बालं ।
ब्रह्म अगनि सीचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं ।। 87 ।।

हे नाथसाधक, श्रद्धापूर्वक इस बात को सुनो कि सहस्रार में स्थित परम शिवपद की अनुभूति के लिये इन्द्रिजन्य विषयभोगों के रसास्वादन का

त्यागकर जगत् के प्रपंचों और बन्धनों से मुक्त होने पर ही शुद्ध परिपक्व शरीर की इसी जीवन में फिर प्राप्ति हो जाती है । इस साधना में सहस्रार से द्रवित अथवा स्रावित चन्द्रामृत का पान और ब्रह्मअग्नि अथवा ब्रह्मानुभूतिमयी अग्नि अथवा तेज के प्रति पूर्ण निष्ठा अथवा श्रद्धामयी समर्पण-भावना अमित सहायक स्वीकार की गयी है । चन्द्रामृत - पान शारीरिक यौवन अथवा पुष्टि और आरोग्य के लिये आवश्यक है । इड़ा - चन्द्रनाड़ी है, सुषुम्ना अग्निनाड़ी है, प्राण को विपरीत कर, उलटकर सूर्यनाड़ी द्वारा अमृत का शोषण रोक देना ही अमृतपान की सिद्धि है । जब तक प्राण या पवन संयमित नहीं होता, तब तक सांसारिक भोग में रुचि रहती है । इस पवन के प्रत्यावर्तन से शरीर में आरोग्य बढ़ता है, इसके विपरीतकरण से योगाग्नि का प्रज्वलन होता है तथा इसके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश से परमतत्व का साक्षात्कार होता है । सुषुम्ना द्वारा पवन की विपरीतकरण-स्थिति में अमृतपान सहज सुलभ हो जाता है । गुरू की कृपा से अपने भीतर ज्ञान प्रकाशित होता है, ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । पिण्डगत पवन से ही ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । ब्रह्माग्नि आभ्यंतरिक अग्नि है, जिस तरह बाह्य हवन में आहुति दी जाती है, उसी तरह ब्रह्माग्नि में श्रद्धापूर्वक भाव समर्पित किया जाता है । शरीर अथवा दिव्य काया से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । दिव्य काया प्राप्त करना ही फूलेफूल की फिर से कली की अवस्था की प्राप्ति है । आशय यह है कि योग की युक्ति से अमृत का पान करने से बालक का तरूण होना सम्भव है तथा ब्रह्माग्नि से मूल प्राण को सीचने से खिला फूल भी कली हो जाता है । यही अमरकायत्व है ।

> उलट्या पवनां गगन समाइ तब बाल रूप परतषि होई ।
> उदै ग्रहि अस्त हेम ग्रहि पवनमेला, बंधिलै हस्तिय निज साल मेला ।। 88 ।।

शरीर को परिपक्व करने, नित्य तारूण्य, यौवन अथवा अमरकायत्व प्रदान करने का एकमात्र उपाय यह है कि प्राणवायु (पवन) को उलट कर अथवा प्रत्यावर्तित कर उसे सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा परमशिव के निवास-स्थान शून्यपद में सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर दिया जाय । इससे वहाँ से द्रवित चन्द्रमामृत का पान करने से शरीर परिपक्व हो जाता है, उसमें

जरा-मृत्यु का भय नहीं रह जाता है । मूलाधार, उदय के घर में सूर्य को अस्त कर देना चाहिए, उसका प्रभाव निर्मूल कर देना चाहिए, जिससे वह ऊर्ध्वमुख (उत्क्रमित) होकर चन्द्रामृत (प्राणामृत) का शोषण न कर सके, और इसी तरह चन्द्रमा के निवास-स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पवन को अधोमुख होने से प्रत्याहारित अथवा उलटकर सुषुम्नानाड़ी में संचारित कर प्राणामृत का, चन्द्रामृत-द्रव का निरन्तर पान करना चाहिए, पवन अथवा प्राण के संयमित अथवा स्थिर होने पर मनरूपी मतंग योगी के वश में हो जाता है, और योगी अपनी योग-साधना में सिद्धि प्राप्त करता है ।

बारा कला सोषै सोला कला पोषै, चारे कला साधै अनंत कला जीवै ।
ऊरम धूरम जोती ज्वाला सौधि साधंत चारि कला पीवै ।। 89 ।।

मूलाधार में स्थित बारह कला वाले सूर्य (अपान वायु की उष्णता) को सोख लेने से, प्रभावहीन कर देने से योगी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सोलह कला वाले चन्द्रमा का पोषण करने में समर्थ होता है । इस तरह बारह कलावाले सूर्य के प्रभावहीन होने पर सोलह कला से युक्त चन्द्रमा की चार कलायें विशेषता से अमृतदायिनी हैं और इन चार कलाओं से पुष्ट अमृत के द्वारा अनन्त कलामयी, शक्तिमयी ब्रह्मानुभूति प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में महत् चैतन्य तेज, ज्योतिस्वरूप परमात्मा के अभिव्यक्त होने पर योगसाधक चार कला से युक्त अथवा विशिष्ट चन्द्रद्रवपान कर परमानन्द में मग्न रहता है ।

असाध सांधत गगन गाजंत, उनमनी लागंत ताली ।
उलटंत पवनं पलटंत बांणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यांनी ।। 90 ।।

ब्रह्मज्ञान, परमात्मसाक्षात्कार के लिए योगी को अपने चंचल मन को वश में करने की असाध्य साधना करनी चाहिए । इसी तरह प्राणायाम के द्वारा मलरहित शुद्ध नाड़ियों से पवन (प्राण) संचारित करते हुए नादानुसन्धान भी ब्रह्मानुभूति के लिये आवश्यक है । ब्रह्मरन्ध्र में नाद (अनाहत नाद) के गर्जन से तथा षट्चक्र-भेदन करते हुए कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण

के द्वारा उन्मनी समाधि सिद्ध होने से ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । पवन को अधोमुखी होने से रोक कर उसे सुषुम्ना (सरस्वती अथवा अग्नि) नाड़ी के मार्ग में उलट कर लगा देने से, स्थिर कर देने से ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है ।

अलेष लेषंत अदेष देषंत अरस परस ते दरस जांणी ।
सुंनि गरजंत बाजंत नाद अलेष लेषंत ते निज प्रवांणी ।। 91 ।।

अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित परब्रह्म परमशिव परमात्मा अक्षर है, वह वर्णन में नहीं आता, वह नेति-नेति शब्द द्वारा श्रुति में प्रतिपादित है । वह निराकार है, उसे चक्षु-इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है पर वह विज्ञानचक्षु द्वारा आभ्यन्तरिक अनुशीलन में दर्शनीय है । ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी उसकी महिमा और वयापकता का शब्दांकन करते हैं, वे वर्णनातीत परब्रह्म का निरूपण करते हैं, पर यह निरूपण उनकी परमात्म अनुभूति का ही परम फल है, यह निर्विवाद है, समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक ब्रह्म पिण्ड में अनुभवसंवेद्य है । परब्रह्म का साक्षत्कार, स्वरूप-चिन्तन अनुभवगम्य है ।

निहचल घर बैसिबा पवन निरोंधिबा कदे न होइबा रोगी ।
बरस दिन मैं तीनि बार काया पलटिबा, नाग बंग बनासपती जोगी ।। 92 ।।

योगी को आत्मस्थ होकर प्राणायाम की साधना करनी चाहिए और शारीरिक आरोग्य की प्राप्ति के लिए पूरे एक वर्ष में तीन बार, चार-चार मास के अन्तर पर कायाकल्प करते रहना चाहिए । आयुर्वेद शास्त्र में निर्दिष्ट विधि से चार-चार मास के अन्तर से नाग (सीसे) के भस्म, बंग (टीन) के भस्म तथा वानस्पतिक आहार (आम के रस आदि) का क्रमशः सेवन करते हुए कायाकल्प के द्वारा शरीर का पोषण करना चाहिए । इस प्रकार आत्मशक्ति, मनोबल और शारीरिक आरोग्य के द्वारा योगी को सदा स्वस्थ रहना चाहिए ।

षोड़स नाड़ी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भांनं ।
सहंस्त्र नाड़ी प्रांण का मेला, जहां असंष कला सिव थांनं ।। 93 ।

अमृत की वर्षा करने वाली नाड़ी इड़ा है । वह चन्द्रनाड़ी है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन से इस चन्द्रनाड़ी से निरन्तर अमृत की निर्झरिणी बहती है, यह चन्द्रनाड़ी सोलह कला से युक्त है । सूर्य नाड़ी पिंगला है, वह सदा अमृत को सोखती है, इसलिए योगी इसे मूलाधार में समाहित कर चन्द्र की चार कलाविशिष्ट नाड़ी से झरते अमृत का पान करता है । सहस्त्र नाड़ी सुषुम्ना है । यही सरस्वती नाड़ी कहलाती है, योगी अपने प्राण-पवन को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी कर (इसमें संस्थित कर) मन को वश में कर असंख्य कला से युक्त परम शिव का सहस्रार में अनुभव अथवा साक्षात्कार करता है ।

अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भांनं ।
सुषमनां मारग बांणीं बोलिये त्रिय मूल अस्थांनं ।। 94 ।।

हे अवधूत योगी, इड़ा नाड़ी ही चन्द्रनाड़ी है, यह अमृतवर्षिणी हैं और पिंगला भानु अथवा सूर्यनाड़ी है । इसके द्वारा अमृत का शोषण होने पर योगी जरा-मृत्यु के वश में हो जाता है । सुषम्नानाड़ी सरस्वती नाड़ी कही जाती है । इसमें ऊर्ध्वमुख प्राण स्थित होकर (योगी को) अमृत पीने में सहायता करता है । ये तीन नाड़ियाँ (योगी द्वारा) मूल स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में शिव के साक्षात्कार के माध्यम का कार्य सम्पादित करती हैं ।

अवधू काया हमारी नालि बोलिये दारू बोलिये पवनं ।
अगनि पलीता अनहद गरजै ब्यंद गोला उड़ि गगनं ।। 95 ।।

हे अवधूत (योगी), शरीर बन्दूक की तरह है, उसमें बारूद का कार्य प्राण-वायु द्वारा सम्पन्न होता है और अनाहतनाद ही अग्नि का पलीता है, जिसके द्वारा धड़ाका सुन पड़ता है । जिस तरह बारूद अग्नि के पलीते से धड़ाका करती हुई बन्दूक से गोले को आकाश की ओर उड़ा देती है, ठीक

उसी तरह शरीर में प्राण की साधना करते हुए तथा अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी अपने बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वगामी कर गगन ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित कर लेता है । इस तरह वह ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हो जाता है और सहज ही शिवपद में स्थित होकर अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने में सफल होता है ।

काजी मुलां कुरांण लगाया, ब्रह्म लगाया बेदं ।
कापड़ी संन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृबांण पद का भेवं ।। 96 ।।

मुसलमानों के काजी और मुल्ला 'कुरान' को सब कुद मानते हैं । मन्त्र द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी ऋषि तत्वबोध के लिए वेदों के अध्ययन पर बल देते हैं । कापड़ी (गंगोत्री से गंगा जल लेकर चलने वाले तीर्थ यात्री) और सन्यासी तीर्थ यात्रा को महत्व देते हैं । गुरू गोरक्षनाथ का मत है कि इनमें से किसी ने परमतत्व का रहस्य नही समझा है । परमपद या निर्वाण मात्र पुस्तक ज्ञान या तीर्थ-भ्रमण से प्राप्त नही होता । वह साधना गम्य है ।

देवलजात्रा सुंनि जात्रा, तीरथ जात्रा पांणी ।
अतीत जात्रा सुफल जात्रा, बोलै अमृत बांणी ।। 97 ।।

तीर्थ-यात्रा और देव-दर्शन की तुलना में आत्मज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, वास्तव में तीर्थ और देवालय-देव-दर्शन से कही महत्वपूर्ण आत्मज्ञान-प्राप्ति की यात्रा है, यही अतीत यात्रा है, यही सत्संग है, इस पुण्य-यात्रा में संत सद्गुरू ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं, परमात्मा के तत्वज्ञों और बड़े-बड़े योगियों और संन्यासियों की अनुभववाणी सुनने का सौभाग्य मिलता है । संत महात्मा साक्षात् तीर्थ और चलते-फिरते देवालय हैं । इस अतीत यात्रा का फल है कि साधक भी अमृत वाणी बोले । यह सत्संग का फल है ।

अधरा धरे बिचारिया, धर या ही मैं सोई ।
धर अधर परचा हूवा तब उत नाही कोई ।। 98 ।।

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में, प्रत्येक पिण्ड में घट-घट में विद्यमान अथवा व्यापक है । मैंने (गोरखनाथ) अधर, शून्य ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में उस (परम तत्व) का अनुभव किया । सहस्रार (शून्य) में अलख निरंजन स्वरूप में वह है ही, पर वही धरा (मूलाधार) में भी विद्यमान है । उसकी व्यापकता के विचार के माध्यम से सहस्रार में जब कुण्डलिनी (मूलशक्ति) प्रबुद्ध होकर शिव की प्राप्ति करती है (शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है), तब साधक के लिए अपने अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ विचारणीय ही नही रह जाता, वह ब्रह्मानुभूति के द्वारा परमज्योतिमय अलख-निरंजन तत्व का साक्षात्कार कर लेता है ।

ऊभा मारूं बैठा मारूं, मारूं जागत सूता ।
तीनि लोक भग जाल पसाऱ्या, कहां जाइगौ पूता ।। 99 ।।

गोरखनाथ जी का कथन है कि काल कहता है कि मुझसे बचकर अमर होना कठिन है, मैं यह नहीं देखता कि सोते हो या जागते हो, खड़े हो या आसन लगाकर बैठे हो, तीनों लोक में मेरा प्रभुत्व स्थापित है, आकाश पाताल और पृथ्वी के समस्त जीवजन्तु क्षण-क्षण में मेरे ग्रास बनते रहते हैं, मैंने सर्वत्र योनिरूप जाल पसार रखा है । उसमें गिर कर प्राण से हाथ धोना ही पड़ेगा, तीनों लोगों में कही कोई भी ऐसा स्थान नही है, जहाँ मेरा अभाव हो, मुझसे बच कर रहोगे कहाँ ?

ऊभा षंडौं बैठा षंडौं जागत सूता ।
तिहूं लोक तैं रहूँ निरंतरि तौ गोरख अवधूता ।। 100 ।।

महाकालस्वरूप शिवगोरक्ष योगिराजेश्वर गोरखनाथ काल (मृत्यु) का समाधान करते हैं कि तुम आत्मा को नही मार सकते, आत्मा अमृत है । मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को प्रबुद्धकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में परमशिव का सायुज्य प्राप्त कर लिया, इसलिए मेरे शरीर और प्राण पर तुम्हारा वश नही चल सकता । मैं आसन-सिद्धि के द्वारा प्रत्येक अवस्था में खड़े-सोते जागते-बैठते तुम्हारा खण्डन कर तीनों लोकों में पसारे गये योनिरूप

जाल से सर्वदा मुक्त, अलग (निरन्तरि) और परे हो जाऊँ, तो मुझे योगसिद्धि अमरकाय गोरख अवधूत जानो अर्थात् मैं स्वयं तुम्हारा काल हूँ, तुम्हारा अस्तित्व क्षीण करने में सर्वथा समर्थ योगी हूँ ।

न्यंद्रा कहै मैं अलिया, ब्रह्मां विष्न महादेव छलिया ।
न्यंद्रा कहै हूं षरी बिगूती, जागै गोरष हूँ पड़ि सूती ।। 101 ।।

निद्रा (अविद्या) का कथन हे कि त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी, मेरे मायावी प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके । बड़े आश्चर्य की बात है कि मेरी अविद्या-तामिस्त्रा अथवा माया या स्वरूप-विस्मृतिकारिणी शक्ति शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथ को अपने वश में नहीं कर सकी, उन्होंने मेरे रूप को, स्वभाव को ही, निष्प्रयोजन और विकृत करके छोड़ दिया, वे अलख-निरंजन के शून्य पद से भी परे कैवल्य पद में स्वरूप से ही आत्मलीन होकर जागते हुए, शाश्वत चैतन्य में सम्पूर्ण प्रबुद्ध रहते हुए योगसिद्धि में स्थित हैं और मैं ही उनकी योगशक्ति से बिमोहित होकर, अपना स्वभाव भूल कर निष्क्रिय हो उठी । उन योगब्रह्म गोरखनाथ को मैं नहीं छल सकी ।

जोगी सो जे मन जोगवै बिलाइत राज भोगवै ।
कनक कांमनी त्यागें दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ ।। 102 ।।

योगी वह है, जिसका मन पर एकच्छत्र राज्य स्थापित हो जाता है । योगी मन को वश में कर योग की साधना में सिद्धि प्राप्त करता है । वह विलाइत राज्य का (शून्य पद में स्थित होकर) अधिकार भोग करता है अथवा परमात्मा के सायुज्य में स्वराज्य की स्थापना कर परब्रह्मपद में, कैवल्यपद में, तल्लीन हो जाता है । वास्तव में योगसिद्धि का अधिपति योगीन्द्र वह है, जो कनक और कामिनी के विषय-भोग में अनुरक्त नहीं रहता, उसकी आसक्ति से परे होकर वैराग्य के राज्य में निर्भय और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है ।

संन्यासी सोई करै सर्वनास, गगन मंडल महिमांडै आस ।
अनहद सूं मन उनमन रहै, सों संन्यासी अगम की कहै ।। 103 ।।

(गोरखनाथजी संन्यासी के स्वरूप और स्वभाव, स्थिति तथा गुण अथवा धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) संन्यासी वह है, जो अपने सर्वस्व (जगत् के सम्बन्धियों और पदार्थों) का मन से पूर्णरूप से त्याग कर शून्यपद, अलख निरंजन परमशिव में स्वस्थ हो जाता है । वह अनाहतनाद का श्रवण करता हुआ मन को उन्मन अथवा परमात्म चिन्तन में तल्लीन कर अमनस्कयोग की साधना में निरंन्तर - तत्पर रहता है । स्वाध्याय अथवा स्वानुभव की वाणी में वह अगम-अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का तात्विक विवेचन करता है ।

लाल बोलंती अम्हे पारि उतरिया, मूढ़ रहै उर वारं ।
थिति बिहूंणां झूठा जोगी, ना तस वार न पारं ।। ।04 ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) योगी लालनाथ का दावा है, विश्वास है कि मैं (लालनाथ) संसार-सागर से योगसाधना के बल से पार उतर गया पर जो अविद्याग्रस्त और अज्ञानी और आधी राह तक ही आकर भटकने वाले योग-साधक हैं, वे केवल संसार-सागर से पार उतरने की बात करते हैं पर वास्तव में न वे संसार में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं और न संसार बन्धन से मुक्त होकर आत्मज्ञान के सहारे परमात्मा का ही साक्षात्कार कर सकते हैं, वे न इधर रहे हैं न उधर (उस पार) ही पहुँच सके हैं ।

उलटिया पवन षटचक्र बेधिया, तातै लोहै सोषिया पांणी ।
चन्दसूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलख बिनांणी ।। ।05 ।।

योगी अलख-निरंजन तत्व का मर्मज्ञ होता है, वह अलखविज्ञानी है । वह प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मल-शोधन कर प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी बनाता है, वह प्राणवायु निरूद्ध होकर जब सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में यथाक्रम उत्थित होती है, तब शरीर में स्थित षट्चक्र, का भेदन होता है और इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ियाँ सुषुम्ना में स्थित हो जाती हैं, मूलाधार स्थित सूर्य ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) से द्रवित चन्द्रामृतद्रव का शोषण

नही कर पाता तथा योगी परमशिव का मन को उन्मन कर सायुज्य प्राप्त कर लेता है ।

> नाद हमारै बावै कवन, नाद बजाया तूटै पवन ।
> अनहद सबद बाजता रहै, सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।। 106 ।।

श्रीगोरखनाथजी का संकेत है कि योगसिद्ध पुरूष अनाहतनाद-श्रवण में पूर्णतन्मय होकर अपनी योगसाधना में सदा तत्पर रहता है और इस नादानुसन्धान के द्वारा वह आभ्यन्तर आत्मानुभूति में निरन्तर रमण करता है, उसे बाह्य वाद्यध्वनि आदि के श्रवण की आवश्यकता ही नहीं रहती । श्रृंगीनाद बजाने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता है । श्रृंगीवाद बजाने से प्राण की गति टूट जाती है। वह प्राणवायु का संयम कर नाड़ियों का मल-शोधन करने के बाद सुषुम्ना-मार्ग से प्रस्फुटित नाद का श्रवण करता है । नादानुसन्धान में कान, नेत्र, नासारन्ध्र तथा मुख आदि को निरूद्ध कर इन्द्रियों और मन को एकाग्र किया जाता है । योगसाधक घंटा, भेरी, मर्दल, वंशी-वीणा आदि की ध्वनि का श्रवण यथाक्रम करता रहता है तथा इस नाद-श्रवण से चित्त का एकाग्र होकर परमशिव के चिन्तन अथवा साक्षात्कार में तन्मय हो जाना ही राजयोग है ।

> सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिधां की बांणी ।
> सीस नवावत सतगुर मिलिया, जागत रैंणि विहांणी ।। 107 ।।

हे गुणवानो, हे बुद्धिमानो । अनन्त (असंख्य) सिद्धों के बचन को श्रवण करो, उन्होंने अपनी अनुभूति की वाणी में योग-साधना में सिद्धि-प्राप्ति की ओर संकेत करते हुए इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि सद्गुरूदेव की कृपा से साधक में अविद्या अन्धकार का नाश होता है । साधना के क्षेत्र में सिद्धि-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है गुरू-सद्गुरू के चरण में श्रद्धापूर्वक प्रणति, इस विनम्रता के वरण से ही साधक महत्तम परमात्मा में अनुरक्त होने का गुरू की कृपा से सौभाग्य प्राप्त करता है ।

भिष्या हमारी कामधेनि बोलिये, संसार हमारी बाड़ी ।
गुर परसादे भिष्या षाइबा, अंति कालि न होइगी भारी ।। 108 ।।

योगी अपरिग्रही होता है, वह लोक-संग्रह की भावना से भी अपने आप को मुक्त रखकर अत्यन्त निष्काम भाव से भिक्षा माँग कर जीवन यापन करता है, उसकी भिक्षा-वृत्ति अक्षुण्ण रहती है, जिस प्रकार कामधेनु सर्वदा दूध देती रहती है, योगी भिक्षावृति पर निश्चिन्त रहता है तथा समस्त संसार उसकी खेती का रूप धारण कर अक्षय भण्डार बन जाता है । गुरूकृपा से जो कुछ वह भिक्षा माँग कर लाता है, प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण कर वह जीवन धारण करता है । इस तरह निष्काम प्रवृत्ति, पूर्ण निवृत्ति का वरण कर योगी अपनी योगसाधना में तत्पर रह कर जीवन को सांसारिक सम्बन्धों और वस्तुओं के क्षणभंगुर भोगास्वाद से मुक्त रखकर अन्तकाल में, देहावसान के समय जीवन्मुक्त अवस्था परमपद, कैवल्य में स्थित हो जाता है ।

बड़े-बड़े कूले मोटे-मोटे पेट, नही रै पूता गुरू सौं भेट ।
षड़ षड़ काया निरमल नेत, भई रे पूता गुय सों भेट ।। 109 ।।

योगी का शरीर योगाग्नि में पक्व होकर सर्वथा निर्मल और स्वस्थ होता है । यदि उसके कूल्हे बड़े-बड़े हैं (कमर के पेडू के निकट की हड्डियां दृढ़ और अत्यधिक बड़ी हैं) और पेट बढ़ गया है, तोंद बढ़ी है तो यही समंझना चाहिए कि वह साधनारत. नही है, योगसाधक तो वह है, जिसकी काया निर्मल है जो क्षीणकाय है तथा जिसने नेति कर्म के द्वारा वात-पित्तकफ, त्रिदोष से छुटकारा पा लिया है अथवा जिसके नेत्र में तेज है । उस योगी को ही सद्गुरू का ज्ञानोपदेश प्राप्त हुआ है, यह समझना चाहिए ।

निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नही तहाँ रोगं ।
गोरष बोलैं एकंकार, नहि तहँ बाचा ओअंकार ।। 110 ।।

परम शून्य, अलखनिरंजन के परमानुभव-पद में निवृत्ति, निर्विकल्प समाधि तथा सुरति, नादानुसन्धान और परमशिव का ध्यान आदि कुछ भी नहीं है, वहाँ न योग है, न भोग। उसमें जरा, मृत्यु और रोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता। वहाँ वाणी की भी पहुँच नहीं है, उस निर्विकल्प समाधि से परे कैवल्य पद का वर्णन वाणी के द्वारा नहीं हो सकता और यह पद ओंकार-अ, उ, म- तीनों अक्षरों से सर्वथा परे सहज शून्य है। यह एकाकार कैवल्यपद अंलख-निरंजन परमशिव की मौन अभिव्यक्ति मात्र है।

उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल ।। ।1। ।।

समस्त ब्रह्माण्डनायक अलख निरंजन परमात्मा सर्वव्यापक हैं, वह महान् से महान् और अणु से भी अणु है - ऐसा भी कहना उचित नहीं दीखता है, क्योंकि न तो वह सूक्ष्म है और न स्थूल ही है, वह सर्वाकार है, वह काल और देश से सर्वथा अतीत है। वह सार्वकालिक और सर्वाकार है, उस परब्रह्म विराट्पुरूष के लिए यही संकेतमात्र सम्भव है, वह कालातीत है, वह अकाल पुरूष है, वह जिस स्थिति में है, उसमें सूर्य के उदय और अस्त, दोनों का अभाव है, इसलिए रात और दिन की कालावधि से वह अतीत है। उसकी व्यापकता अथवा विस्तृति या सृष्टिमयता से उसकी आकृति को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह शून्य है, मूल से भी परे है, उत्पत्ति-धर्मी है ही नहीं। वही (योगियों का) परमाराध्य अलख निरंजन है।

ब्रह्मांड फूटिबा नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवां भेवं।
बदंत गोरषनाथ प्यंड दर जब घेरिबा, तब पकड़िबा पंच देवं ।। ।।2 ।।

गोरखनाथ का वचन है कि मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, चक्रों का भेदन करते हुए तथा नाड़ियों का प्राणायाम द्वारा मल-शोधन करते हुए योग-साधक को ब्रह्मरन्ध्र फोड़ना चाहिये, कुण्डलिनी का परमशिव से संगम

चाहिए, (शरीर के विभिन्न शक्ति-केन्द्रों) पर साधक का अधिकार हो जाता है, यह बड़े रहस्य का विषय है, इसका भेद कोई दूसरा नही जान पाता है। पाँचों भूत- छिति, जल, पावक, वायु और आकश-की योगिक धारणा करने से पाँचों देव सहज जीत लिये जाते हैं और मन पर भी योगी का सम्पूर्ण अधिकार हो जाता है।

अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमन का पानी।
चंद सूरज दोऊ समिभाषि राषिला, कहो हो अवधूत तहांकी सहिनांणी।। ।।3।।

जब योगी को अपनी पृथक् सत्ता के होने का अहंकार या बोध नही रह जाता तब शरीर में व्याप्त परब्रह्म अलख निरंजन, निराकार परमात्मा प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त हो उठता है, इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में विलय अथवा संगम कर कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार के अभिमुख कर उसे शिव के योग से, सम्मिलन से पूर्ण प्रबुद्ध क़र देने से योगी को सहज सिद्धिपद कैवल्य की अनुभूति हो जाती है। मूलाधार स्थित सूर्य सहस्रार स्थित कमलयोनि से द्रवित चन्द्रद्रव, चन्द्रामृत का शोषण करता है। योगी इस सूर्य को चन्द्रामृत का पान करके संरुद्ध करता है। विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा नाभि में स्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुखी करता है और तालुमूल में स्थित चन्द्र को अधोमुखी कर स्वयं अमृत का पानकर जरा और मृत्यु से शरीर की रक्षा करता है। ऐसा होने पर अवधूत परब्रह्म शून्यस्थ अलखनिरंजन परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में रमण करता है।

चेता रे चेतिबा आपानरेतिबा, पंच की मेटिबा आसा।
बदन्त गोरष सातते सूरिवां, उनमाने मन मैं बासा।। ।।4।।

इस सबदी में अमनस्कयोग की साधना पर प्रकाश डाला गया है। गोरखनाथ का कथन है कि वीरात्मा योगी साधक वह है, जो चंचल मन का सम्पूर्ण निग्रह अथवा नियंत्रण कर इन्द्रियजन्य विषय-भोगों के बन्धन से मुक्त होकर मन को विषयातीत अथवा उन्मन कर देता है। गोरखनाथ सावधान

करते हैं कि योगी का विषय-सुख की कामना नहीं करनी चाहिए । पंचेन्द्रियों से मिलने वाले विषय-सुख की आशा का परित्याग करने से ही सहज स्थिति की प्राप्ति होती है ।

सिध क संकेत बुझिलै सूरा, गगन अस्थांनि बाइलै तूरा ।
मीमा के मारग रोपीलै भांणं, उलट्या फूल कली मैं आणं ।। ।।5 ।।

(योगेश्वर गोरखनाथ ने इस सबदी में योगीन्द्र मत्स्येन्द्रजी द्वारा प्रतिपादित हठयोग की साधना का संकेत मीनमार्ग कह कर किया है । गोरखनाथ जी का कथन है) हे शूर वीर योगसाधक, यह योगसिद्ध पुरूष का संकेत है, इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये । हे साधक, शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद का श्रवण कर कैवल्यपद में स्थित रहना चाहिए। नाभि में स्थित सूर्य (अग्नि) तालुमूल में द्रवित चन्द्रामृत का शोषण न करने पाये, इसके लिये विपरीतकरिणी मुद्रा का अभ्यास कर अमृत का पान करना चाहिए । जिस तरह मछली नदी की धारा के विरूद्ध चल देती है, किन्तु इसका पता किसी को नहीं चलता है, क्योंकि यह कार्य पानी के तल में होता है, इसलिये इस विपरीतकरिणी के द्वारा सूर्य को चन्द्र के सम्मुख करने की हठयोग की प्रक्रिया का पता दूसरे को नही लगता है । योग का मार्ग अत्यन्त गुप्त है । इस तरह यह मीन मार्ग कहा गया है । इससे फूल कली में बदल जाता है, योगाग्नि में शरीर को पक्व कर योगी चन्द्रामृत का पान कर नवयौवन प्राप्त करता है, नित्य स्वस्थ रहता है, वृद्धावस्था तरूणावस्था में परिणत हो जाती है ।

बास बसंत तहां प्रगट्या षेलं । द्वादस अंगुल गगन घरि मेलं ।
बदंत गोरख पूतां होइबा चिराई । न पडंत काया न जंम घरि जाई ।। ।।6 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि जो योगी ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा अनुभव से सुवासित हो जाता है, सौरंभित रहता है, उसके लिये (वहाँ) उस शून्य कैवल्य पद, परमात्मपद की ज्योति का दर्शन सहज हो जाता है । योगी प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर द्वादस अंगुल तक नासिका

के बाहर प्रसरित प्राण (वायु) को सुषुम्ना के मध्यवर्ती मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कर जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है । वह योगाग्नि में शरीर को पक्व कर दीर्घ आयु का भोग करता है, न तो उसके शरीर का पात (नाश) होता है और न उसे यमराज के प्रकोप का शिकार होना पड़ता है ।

अंन का मास अनिल का हाड़ तत का बंद भषिबा बाई ।
बदंत गोरषनाथ पूता होइबा चिंराई न पड़ै घट न जंम घरि जाई ।। ।।7 ।।

इस सबदी में प्राण-साधना का निरूपण किया गया है । गोरखनाथ का योगसाधक को निर्देश है कि हे वत्स ! यह शरीर अन्न से बने माँस और वायु से बनी हड्डी से निर्मित है, इसमें निवास कर तत्व (ज्ञान और अमृत पान) का बन्ध देकर संजीवन प्रदान कर वायु (प्राण) की साधना करनी चाहिये, इससे प्राण शरीर में स्थिर रहता है, श्वास-प्रश्वास की क्षीणता-विच्छिन्नता से वह प्रभावित नहीं होता है । शरीर का इस प्राण-साधना से नाश, पतन नहीं होता है, वह स्वस्थ रहता है तथा यम (मृत्यु) का भय समाप्त हो जाता है ।

ऊं लोहा पीर । तांबा तकबीर ।
रूपा महंमद सोना षुदाई । दुहु बिचि दुनिया गोता षाई ।
हम तो निरालंभ बैठे देखत रहैं, ऐसा एक सुषन बाबा रतन हाजी कहै ।। ।।8 ।।

(गोरखनाथजी का इस सबदी में संकेत है कि) बाबा रतननाथजी सिद्धपुरूष की यह उक्ति है कि गुरू लोहे के समान है, उसके द्वारा उपदिष्ट योग की युक्ति ताँबे के समान है । मोहम्मद चाँदी के समान है और खुदा (परमात्मा) सोने के समान है । दुनिया के लोग जबतक सद्‌गुरू से योगज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, तब तक वे ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर को समझ नही पाते हैं । उनके मन में भ्रम बना रहता है, वे गोता खाते रहते हैं । पार तो सद्‌गुरू की कृपा से ही परमात्मज्ञान देने वाले और परमात्मा के सन्निधान में जीवात्मा हो पाता है । हम तो योगी हैं, अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का चिन्तन करते रहते हैं ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी ।
पढया गुंण्या सूबा बिलाई षाया पंडित के हाथि रह गई पोथी ।। ।।9 ।।

कहना या कोरा उपदेश देना या ज्ञान की बात करना सरल है, पर उसके अनुरूप आचरण करना या उस ज्ञान को जीवन में उतारना कठिन है, दुर्लभ है । यदि करनी नहीं है, आचरण नहीं है, तो कहना केवल बकवाद है, जिस तरह पिंजड़े में बन्द सुग्गा (शुक पक्षी) बड़े बड़े ज्ञान की बात रटता है पर सावधान न रहने पर पिंजड़े का द्वार खुलते ही बिलार का ग्रास बन जाता है, ठीक इसी तरह पण्डित के हाथ में ज्ञान की पोथी (शास्त्र) पड़ी रहती है, वह शब्द मात्र का उच्चारण करता रहता है, पर उसके अनुसार जीवन यापन न करने पर वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली बिन षायां गुड़ मीठा ।
खाई हींग कपूर बषांणै गोरष कहै सब झूठा ।। ।20 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि कहना या कोरा उपदेश देना आसान है पर उपदेश को अपने जीवन में धारण कर दूसरों के लिये आदर्श या उदाहरण प्रस्तुत करना कठिन है । यदि कोई व्यक्ति गुड़ को बिना खाये ही उसके मीठे स्वाद का बखान करता है तो यह उसका दूसरों को धोखा देना है, यह बात तो ऐसी ही है कि कोई खाय हींग और कहता फिरे कि मैंने कपूर का रसास्वाद लिया है । इसी तरह जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की बात करता है, योग का उपदेश करता है और रहता है सांसारिक बन्धन में आसक्त विषयी पुरुष की तरह या भोग में रचा-पचा रहता है, उसका कहना प्रपंचमात्र है ।

मूरिष सभान बैसिबा अवधू पंडित सों न करिबा बादं ।
राजा संग्रामे झूझ न करबा हेलै न षोइबा नादं ।। ।2। ।।

हे योगी, मूर्खों की सभा में कभी नहीं बैठना चाहिये, जो व्यक्ति अपने आप को पण्डित कहता है तथा पोथियों को पढ़-पढ़ कर ज्ञान तो बढ़ा लिया है पर जिसने उसे जीवन में अनुभूत नहीं किया है, उससे वाद-प्रतिवाद

नही करना चाहिये, हे योगी, राजा के साथ युद्ध या उसके विरोध में संलग्न नहीं रहना चाहिए । कभी अनाहतनाद-श्रवण से प्राप्त चित्त की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था की अवहेलना नही करनी चाहिए, परमशिव के चिन्तन में सदा लगे रहना चाहिए ।

हिरदा का भाव हाथ मैं जाणिये यहु कलि आई षोटी ।
बदंत गोरष सुणौं रे अवधू करवै होई सु निकसै टोटी ।। ।22 ।।

गोरखनाथ का वचन है कि अवधूत योगी, सुनो, यह भयानक कलिकाल है, इसमें असत्य व्यवहार-अनाचार और मिथ्याचरण की ही प्रबलता होती है । इस कलिकाल में जिसके हृदय में जो भाव रहता है, वह उसके हाथ (कर्म) से प्रकट हो जाता है । यह निर्विवाद है कि जलपात्र (करवे) में जो द्रव (जल या अन्य पेय) रहता है, वही उसमें लगी टोटी से बाहर आ जाता है, करवा में विषैला द्रव हो तो निर्मल पेयजल नही आ सकता, इसलिये योगी को तटस्थ हो कर साधना में तत्पर रहना चाहिए ।

जल कै संजमि अटल अकास अन कै संजमि जोति प्रकास ।
पवनां संजमि लागे बंध, व्यंद कै संजमि थिर ह्वै कंध ।। ।23 ।।

जल का संयम करने से आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में योगसाधक की सुदृढ़ स्थिति होती है तथा अन्न का संयम करने से ज्योति प्रकाशित होती है । प्राण का संरोध अथवा संयम करने से, (प्राणायाम करने से) नाड़ियों का मल-शोधन होता है और शरीर के नवद्वारों को अवरूद्ध कर योगी प्राण के बल से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है । इसी तरह बिन्दु (वीर्य) के संयम से वह मृत्यु-भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है । उसका शरीर स्थिर और स्वस्थ रहता है, शरीर पात नही होता ।

सबद बिंदौ रे अवधू सब बिंदौ रे अवधू सबद बिंदौ थांनमांन सब धंधा ।
आतमांमधे प्रमातमा (परमात्मा) दीसै ज्यौं जल मधे चंदा ।। ।24 ।।

हे अवधूत, शब्द की प्राप्ति करो, शब्द ही सारतत्व है, अनवरत अनाहतनाद-श्रवण से परमतत्व का रहस्य समझ में आता है, यही अन्तरंग साधना का मूल है, साधना के बाह्य उपकरण, स्थान आदि में मन को उलझाने से तत्व की प्राप्ति दुर्लभ और अगम हो जाती है । आत्मा में परमात्मा की साक्षात् अभिव्यक्ति है, यह परमात्मा आत्मा में उसी तरह प्रतिभासित है, जिस तरह जल के मध्य में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है ।

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई ।
गोरष कहै सुणौं रे पूता मरै न बूढ़ा होई ।। ।25 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे वत्स, शिष्य, योगी को युक्त आहार-विहार से ही योग-साधना में सिद्धि सुलभ होती है । यदि वह अपने आसन में दृढ़ है, अल्प मात्रा में शरीर के निर्वाह-मात्र के लिये भोजन लेता है और निद्रा को वश में रखता है, तो वह बुढ़ापा का शिकार नहीं बनता और दीर्घायु प्राप्त करता है, उसे जरा और मृत्यु का भय आतंकित नहीं करता है ।

कोई न्यंदै कोई ब्यंदै कोई करै हमारी आसा ।
गोरष कहै सुणौं रे अवधू यहु पंथ षरा उदासा ।। ।26 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे अवधूत, सुनो, हमारा योग-पंथ, सिद्धामृत मार्ग अनुपम है, यह पूर्ण वैराग्य, और सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा उदासीन और तटस्थ योगमार्ग है । कोई हमारे मार्ग की निन्दा करता है, कोई हमारे मार्ग की प्रशंसा करता है, तो कोई हमसे वरदान और सिद्धियों को पाना चाहता है । किन्तु हमारा योगमार्ग तो तटस्थता, अनासक्ति और पूर्ण वैराग्य का मार्ग है । यह न निन्दा से प्रभावित होता है न स्तुति से ।

इक लष सींगणि नव लष बांन । बेध्या मीन गगन अस्थांन ।
बेध्या मीन गगन कै साथ । सति सति भाषंत श्रीगोरषनाथ ।। ।27 ।।

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित लक्ष्य, शून्यस्थ कैवल्य पद का भेदन अमित कठिन है, मीन मार्ग, योगी मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा निर्धारित लक्ष्य उतना ही दुर्गम है, जितना एक लाख प्रत्यंचाओं पर नव लाख (असंख्य) बाण के संधान से गगन (उच्चातिउच्चस्थान) में प्रतिष्ठित मीन (लक्ष्य) का भेदन कठिन है । गोरखनाथ का यह सत्य वचन है कि हठयोग की साधना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य गगन में स्थित परमशिव अलख-निरंजन अथवा पूर्णतम कैवल्य पद की प्राप्ति सहज हो गयी है ।

तूटी डोरी रस कस बहै । उनमनि लागा अस्थिर रहै ।
उनमनि लागा होइ अनंद । तूटी डोरी बिनसै कंद ।। ।28 ।।

योगसाधना की परमफलरूपा सिद्धि योग के अन्तिम अंग 'समाधि' में ही पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है, यदि समाधि टूट जाती है, तो सद्वस्तु-परमात्मतत्व का रस ध्यानावस्था से बह जाता है, और साधक दिव्य (रसौ वे सः) रूपी सच्चिदानन्दधन के आस्वादन से वंचित हो जाता है । मन के अमनस्क अथवा उन्मन होने से-मन के ब्रह्मरन्ध्र में विलय से प्राप्त समाधि (उन्मनी अवस्था की समाधि) में स्थिरता होती है, इस तरह की उन्मनी समाधि से योगसाधक परमानन्द की प्राप्ति करता है । समाधि टूट जाने पर योगसाधना का स्वारस्य नष्ट हो जाता है और शरीर का पतन (अवसान) हो जाता है ।

सबद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ सबदे सीझंत काया ।
निनांणवै कोड़ि राजा मस्तक मुड़ाइले परजा का अंत न पाया ।। ।29 ।।

हे अवधूत । शब्द की प्राप्ति अथवा परमानुभूति करनी चाहिये । शब्द की प्राप्ति अर्थात् अनाहत नाद के अनुसंधान से शरीर की समस्त नाड़ियों में प्राणामृत का संचार होता है । शब्द ब्रह्म परमात्मा में विलीन चित्तवृत्ति (उन्मनी समाधि) में योगी सिद्ध देह की प्राप्ति करता है, उसका शरीर अमृत के रसायन से परिपक्व हो उठता है, उसे कायसाधन की सिद्धि होती है । इस कायसिद्धि और अनाहत नाद के स्वारस्य की परमानुभूति के लिये

निन्यानबे करोड़ (असंख्य) ऐश्वर्यशाली राजाओं ने योगमार्ग की दीक्षा ग्रहण की तथा कितने लोगों ने इस मार्ग का अनुशीलन किया । यह कहना असम्भव है ।

षरतर पवनां रहै निरंतरि । महारस सीझै काया अभिअंतरि ।
गोरख कहै अम्है चंचल ग्रहिया । सिव सक्ती ले निजघरि रहिया ।। ।30.।।

प्राणायाम, बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान और जालन्धर बन्ध) तथा मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण स्थिर हो जाता है । शरीर में प्राण के स्थिर होने पर मन की चंचलता का सहज निरोध हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीर में महारस की सिद्धि कर मन को अपने वश में कर लिया, महाशक्ति कुण्डलिनी को जगाकर उसे सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर परमशिव से उसका सामरस्य, अभिन्नत्व सम्पादित कर मैं अपने आप में, स्वरूप में, अलख निरंजन (शून्य) कैवल्य पद में, स्थित हो गया ।

पेट कि अगनि बिबरजित दिष्टि की अगनि षाया ।
ग्यांन गुरू का आगैं ही होता पणि बिरलै अवधू षांया ।। ।31।।

हे अवधूत ! मैंने (गोरखनाथ ने) क्षुधा, भूख को नियंत्रित किया, जठराग्नि की वृद्धि नहीं होने दी । मैंने भ्रूमध्य में स्थित ज्ञान-नेत्र की अग्नि-ज्योति से, ज्ञान की दीप्ति से मायारूपी अविद्या-अन्धकार का अन्त कर दिया और सद्विवेकपूर्वक परमात्मा में स्वस्थ होकर योगसिद्धि प्राप्त कर ली। यह सद्ज्ञान ही गुरूज्ञान है, यह ज्ञान पहले से ही प्राप्त रहता है पर इसकी प्रतीति सबको नहीं हो पाती, किसी बिरले साधक अथवा योग-साधना में रत प्राणी को गुरूज्ञान का सद्बोध उपलब्ध होता है ।

अगम अगोचर रहै निहकांम । भंवर गुफा नांही बिसराम ।
जुगति न जांणैं जागैं राति । मन काहू कै न आवै हाथि ।। ।32।।

परमात्मा - परमशिव अलख निरंजन परब्रह्म अगम है, यह अगोचर है, इन्द्रियों के द्वारा इसकी अनुभूति अथवा साक्षात्कार सम्भव नही है । जब

तक कुण्डलिनी को जगाते हुए तथा प्राण को सुषुम्ना की मध्यनाड़ी (ब्रह्मनाड़ी) में स्थापित अथवा स्थिर करते हुए षट्चक्र का भेदन कर उन्मनी समाधि के द्वारा जीवात्मा, योगसाधक ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर विश्राम नहीं करता स्थिर नहीं होता, तबतक उसकी साधना निष्फल है, केवल रात भर जागते हुए साधना में रत रहने से सिद्धि नहीं मिल सकती, जबतक मन उन्मन अथवा ऊर्ध्वमुख होकर स्थिर और विषयातीत नहीं होता, तबतक अमनस्कता अथवा निर्विकल्पसमाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

नव नाड़ी बहोतरि कोठां । ए अष्टांग सब झूठा ।
कूंची ताली सुषमन करै उलटि जिभ्या ले तालू धरै ।। ।33 ।।

योग की साधना का चरम-परम फल आभ्यन्तरिक अनुभूति है, जो ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के, अलख निरंजन ब्रह्म के साक्षात्कार और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृतपान के आधारभूत है । शरीर में कितनी नाड़ियाँ हैं, कितने कोठे हैं, अष्टांगयोग-साधना के अन्तर्गत इन विषयों के ज्ञान से किसी भी तरह की यौगिक सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती । मूलाधारस्थित कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा इड़ा-पिंगला नाड़ियों के प्राण को सुषुम्ना में स्थित करते हुए षट्चक्रों के भेदन द्वारा योगी को ब्रह्मरन्ध्र में चित्तवृत्ति निरूद्ध कर परमशिव से आत्मा का सामरस्य स्थापित करना चाहिए तथा विपरीतकरिणी मुद्रा के द्वारा नाभिस्थित सूर्य से सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को अमृतरसायन को बचाकर जिह्वा को उलट कर तालुमूल में स्थित कर स्वयं उस (अमृत) का पान कर योगी को सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ।

पंडित ग्यांन मरौ क्या झूझि । औरे लेहु परम पद बूझि ।
आसण पवन उपद्रह करैं । निसिदिन आरम्भ पचि पचि मरैं ।। ।34 ।।

शास्त्रों में वर्णित ज्ञान केवल सिद्धान्त मात्र हैं, मात्र उन्हीं पर निर्भर रहकर व्यर्थ शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) में उलझे रहने से अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान महाज्ञान मिलना कठिन है, यह कैवल्यपद (परमात्मपद) आभ्यन्तर अनुभूतिगम्य है । बाह्य साधन, आसनों और प्राणायाम के अभ्यास

तबतक व्यर्थ हैं, जबतक उनके अभ्यास से योगी आत्मज्ञान के द्वारा परमपद की प्राप्ति की प्रक्रिया में अग्रसर नही होता । इस बाह्य साधन से साधक सदा आरम्भ में ही अटका रहेगा, वह परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

उनमन जोगी दसवैं द्वार । नाद ब्यंद ले धूं धूं कार ।
दसवे द्वारे देइ कपाट । गोरख षोजी औरै बाट ।। ।35 ।।

योग-साधना की सिद्धि योगी के लिए दसवें द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में समाधिस्थ होकर, मन को उन्मन कर अथवा उन्मनी समाधि में नाद-बिन्दु को एकीभूत अथवा समरस कर अनाहतनाद, महाशब्द का श्रवण है । बिन्दु साक्षात् शिवस्वरूप है । नाद से प्राण की उत्पत्ति होती है । पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर देने से नाद-बिन्दु, दोनों की स्थिरता होती है । बिन्दु (वीर्य) का ऊर्ध्वगमन, ब्रह्मरन्ध्र में (उसका वहाँ) पहुँचना तथा नाद का उसमें गर्जन ही योग-साधना की पूर्णता है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने ब्रह्मरन्ध्र में नाद बिन्दु के सामरस्य के परे ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार को बन्द कर अलख निरंजन परमशिव की खोज की और उनका सहज साक्षात्कार लाभ किया ।

आरम्भ जोगी कथीला एकसार । षिणषिण जोगी करै सरीर विचार ।
तलबल व्यंद धरिबा एक तोल । तब जांणिबा जोगी आरंभ का बोल ।36

(हठयोग की साधना में) आरम्भ योगी वह है, जो सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए बिना किसी व्यतिक्रम के एकरस होकर साधन और योग के अभ्यास में तत्पर रहता है, आरम्भ योगी अपनी दृष्टि शरीर के प्रत्येक अंग पर केन्द्रित रख कर उसकी नीरोगता और कार्य की शक्ति पर प्रत्येक क्षण विचार करता रहता है, इसके साथ-ही-साथ आरम्भ योगी वीर्य की पूर्ण रूप से रक्षा करता है, क्योंकि वह समझता है कि बिन्दुपात से ही शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसा होने पर ही यह बात समझनी चाहिये कि योगसाधक घट-साधन अथवा काययोग में प्रवृत्त है ।

घट ही रहिबा मन न जाई दूर । अहनिस पीवै जोगी बारुणी सूर ।
स्वाद विस्वाद बाई कालछीन । जांनिबा जोगी घटकालछीन ।। ।37 ।।

काययोग अथवा घट-दशा की विद्यमानता अथवा उत्पत्ति या आगम योगी में तब समझना चाहिये, जब वह पिण्ड, शरीर में ही ब्रह्माण्ड की शक्तियों और विस्तार का अनुभव करता हो तथा उसका मन बाह्य विषयों में न भटककर स्थिर हो गया हो । ऐसा योगी शरीर में स्थिर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा षट्चक्रों के भेदन द्वारा प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित करते हुए सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत, अमरवारुणी का रात-दिन निरन्तर आस्वादन करता है । योगी कुम्भक की विधि से प्राण को संयमित कर सुख-दुख, स्वाद-विस्वाद आदि द्वन्द्वों से परे होकर परमानन्द में तल्लीन होकर परब्रह्मपरमात्मा का चिन्तन करता है । उसकी यह स्थिति उसकी घट अवस्था के लक्षणों की उपस्थिति सूचित करती है ।

परचय जोगी उनमन षेला । अहनिसि इंछया करै देवता स्यूं मेला ।
षिन षिन जोगी नानां रूप । तब जानिबा जोगी परचय सरूप ।। ।38 ।।

परिचय योगी मन और पवन की साधना कर उन्मनी समाधि में लीन होकर अमनस्क योग के अभ्यास से सच्चिदानन्द स्वरूप परमशिव, अलख निरंजन की अभिन्नता अथवा तादात्म्य लाभ करता है । वह अष्टसिद्धियों पर ध्यान, धारणा, और समाधि की साधना के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, कभी सूक्ष्म, लघु रूप धारण कर अन्य लोगों की दृष्टि से अदृश्य रहता है तो कभी आकाश मार्ग से लोकलोकान्तर में भ्रमण करता है । वह ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर देता है, स्थिर कर देता है । यही परिचय योगी का लक्षण है ।

निसपती जोगी जानिबा कैसा । अगनी पांणीं लोहामांनै जैसा ।
राजा परजा समि करि देष । तब जांनिबा जोगी निसपति का भेष ।। ।39 ।।

आरम्भ योगी, घट योगी और परिचय योगी की दशा से भी उत्कृष्ट दशा निष्पत्ति-प्राप्त योगी की होती है । जिस तरह लोहा को अग्नि से

तपा कर उसे पानी में डालकर निर्मल अथवा शुद्ध किया जाता है, ठीक उसी तरह अनेकानेक कठोर योगसाधना के द्वारा योगी अपने शरीर, नाड़ियों, प्राण को शुद्ध करता है, योगाग्नि से पक्व अथवा सिद्ध देह की प्राप्ति कर उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा निष्पत्ति-कैवल्य पद की अनुभूति करता है तथा प्रत्येक प्राणी में आत्मभाव रख कर समदृष्टि से सम्पन्न रहता है । इस तरह का योगी ही निष्पत्ति-प्राप्त कहा जाता है ।

अवधू षारै षिरै षाटै झरै मीठै उपजै रोंग ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू अंनै पांणी जोग ।। ।40 ।।

हे अवधूत । योगसाधना की सिद्धि के लिये सात्विक आहार का सेवन बड़ा ही उपयोगी होता है । भोजन के पदार्थो में नमकीन का सेवन नही करना चाहिए, अधिक नमक का सेवन करने से वीर्य नष्ट हो जाता है और यदि खटाई अथवा खट्टे पदार्थ का उपयोग किया जाता है तो वीर्य पतला और शक्तिहीन रहता है, इसी तरह अधिकाधिक मीठे पदार्थो का सेवन आरोग्य का नाश करता है और शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । हे अवधूत । सात्विक आहार में तो केवल अन्न से सिद्ध पदार्थ और जल ही पर्याप्त है, जहाँ तक हो सके, सादा भोजन ही करना चाहिए ।

बजरी करंतां अमरी राषै अमरि करंतां बाई ।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ते गोरष का गुरभाई ।। ।4। ।।

योगी के लिए ही नहीं, भोगी के लिये भी यह आवश्यक है कि वीर्य की रक्षा करें, शरीर वीर्य के स्थिर रहने पर स्वस्थ रहता है, क्षीण नहीं होने पाता है । वीर्य की रक्षा के लिए वज्रोली मुद्रा और उसकी सहायिका अमरोली मुद्रा का अभ्यास किया जाता है । वज्रोली और अमरोली का अभ्यास करते हुए योगसाधक को अपानवायु को उर्ध्वगामी करना चाहिये तथा प्राण को सुषुम्ना में स्थापित कर पवन-विजय का अभ्यास करना चाहिए । इससे प्राण स्थिर होता है तथा विन्दुपात नहीं होता है, साधक का वीर्य शरीर में स्थिर रहता है । गोरखनाथ का वचन है कि स्त्री के सहवास-काल में जो

योगी वीर्यस्खलित न होने देकर स्वयं उसको ऊर्ध्वस्थ रखता है और प्राण का संयमन करता है, वह महायोगी है, मेरा गुरूभाई है अथवा योगाभ्यास में मेरे समकक्ष है ।

भग मुषि ब्यंद अगनि-मुषि पारा। जो राषै सो गुरू हमारा ।। ।42 ।।

वह प्राणी महान् योगी है, जो भोगकाल में अपने वीर्य को स्खलित न होने देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर सुषुम्ना में प्राण को स्थिर कर शरीर को क्षीण अथवा नष्ट होने से बचा लेता है । जिस तरह अग्नि के ताप से पारद की रक्षा कठिन है, उसी तरह रमणोन्मुख प्राणी का वीर्य-संयमन कठिन है पर जो वीर्य की रक्षा कर लेता है, वह योगसिद्ध साक्षात् गुरू है ।

जिभ्या स्वाद तत तन षोजै हेला करै गुरू बाचा ।
अगनि बिहूँणां बंध न लागै ढलकि जाइ रस काचा ।। ।43 ।।

जो योगी जीभ के स्वाद के लिए अनेक स्वादिष्ट, नमकीन और खट्टे भोज्य पदार्थ का सेवन करता है और गुरू के उपदेश की उपेक्षा कर मनमाने ढंग से साधना करता है, वह कभी यौगिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है । जबतक शरीर को योगाग्नि में पक्व कर पुष्ट नहीं किया जाता है, तबतक वीर्य क्षीण रहता है, इन्द्रियाँ चंचल रहती हैं और कामवासना साधक को सताती रहती है । प्रत्येक क्षण पतन की सम्भावना बनी रहती है और क्षीण वीर्य शरीर में नहीं ठहर पाता है । वह ढलक जाता है, बाहर निकल जाता है, शरीर निर्बल हो जाता है ।

अवधू ईस्वर हमारै चेला भणींजै मछींद्र बोलिये नाती ।
निगुरी पिरथी परलै जाती तार्थें हम उल्टी थापना थापी ।। ।44 ।।

हे अवधूत । योगमहाज्ञान, जो शिवप्रदत्त कहा गया है, मूल-स्वरूप (शिवगोरक्ष-रूप) मुझसे ही प्रकट है । परमाराध्य ईश्वर, जो योगज्ञान के प्रतिपाद्य हैं, इस दृष्टि से हमारे ही शिष्य हैं और उनसे महायोगी (हमारे

गुरु) मत्स्येन्द्रनाथ ने महायोगज्ञान श्रवण किया था, उन्हें हमारा पौत्र शिष्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है । मैंने गुरू की गरिमा सुरक्षित और मर्यादित रखने के लिये ही गोरक्षनाथ के रूप में प्रकट होकर मत्स्येन्द्रनाथ को अपना पथप्रदर्शक गुरू बनाया, यदि मैं ऐसा नहीं करता तो गुरुतत्व से रहित पृथ्वी का नाश हो गया होता, इसलिये हमने गुरू होकर भी शिष्य का वेश अपना कर उलटा (विपरीत) अनुक्रम स्थापित किया ।

भरि भरि षाइ ढरि ढरि जाइ । जोग नहीं पूता बड़ी बलाइ ।
संजंम होइ बाइ संग्रहौ । इस विधि अकल पुरिस कौ गहौ ।। ।45 ।।

योगसाधक को युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए । भर-भर पेट भोजन करने से कामवासना की तीव्रता बढ़ जाती है, वीर्य का नाश होता है, यह योग नहीं है, हे वत्स । यह तो योगसाधना के नाम पर बला है, व्यर्थ का दिखावा और प्रपंच है । योगी के लिये संयम बहुत आवश्यक है, आहार-विहार में संयम रखकर प्राणायाम करने से नाड़ियों का मलशोधन होता है, मन की चंचलता मिट जाती है, वह उन्मन हो जाता है, कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और योगसाधक षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में अकल-निष्कल पर परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

षाये भी मरिये अणषांये भी मरिये । गोरष कहैं पूता संजमि हीं तरिये ।
मधि निरंतर कीजै बास । निहचल मनुवा थिर होइ सास ।। ।46 ।।

योगी साधक के लिये अत्यधिक शरीर पोषण और अत्यधिक व्रत उपवास दोनों ही हानिकर है उसे मध्यम मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है, उसे स्वल्पाहार से काम चलाना चाहिए, इस संयम के फलस्वरूप वह साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेगा और परमशिव का साक्षात्कार कर कैवल्य पद में स्थित हो जायगा, उसका मन स्थिर रहेगा तथा शरीर में प्राण भी स्थिर रहेगा, प्राण के क्षीण न होने पर वह मुद्राबन्ध, आसन, कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन की साधना में पारंगत रहेगा ।

पवन ही जोग पवन ही भोग। पवन ही हरै छतीसौं रोग।
या पवन कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।47 ।।

योगसाधना का एक प्रमुख अंग पवन का संयम है। प्राणायाम के साधन से योग-भोग दोनों में निपुणता और सिद्धि मिलती है। जिसका शरीर प्राण का संयम करने से स्वस्थ और निर्विकार रहता है। उसके छतीसों (सारे) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो साधक प्राण को अपने शरीर में स्थिर रखता है और इसका रहस्य समझ लेता है, वह सिद्ध हो जाता है, वह सृष्टि करने की शक्ति रखता है और शिव स्वरूप हो जाता है।

ब्यंद ही जोग ब्यंद ही भोग। ब्यंद ही हरै चौसठि रोग।
या बिंद का कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।48 ।।

योगी साधक के लिए वीर्य (बिन्दु) की रक्षा अनिवार्य है। वीर्य रक्षा से योग और भोग दोनों की सिद्धि होती है। वीर्य के पुष्ट होने पर शरीर की शक्ति बनी रहती है और वह सदा स्वस्थ और नीरोग रहता है, उसके सभी (चौसठों) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो योगी या साधक वीर्य का रहस्य समझ लेता है, वह स्वयं सृष्टि कर सकता है, ब्रह्म है और स्वरूप में स्थित परब्रह्म परमात्मा में अभिन्न हो जाता है।

साच का सबद सोना का रेख। निगुरां कौं चाणक सगुरा कौं उपदेस।
गुर का मुंड्या गुंण मैं रहै। निगुरा भ्रमै औगुण गहै ।। ।49 ।।

सत्य शब्द सत्स्वरूप में स्थिति का मूल आधार है। सत्य की साधना खरा सोना है, जो समस्त कसौटियों, परीक्षाओं में धूमिल नहीं होता है। यह सत्य शब्द उन्हीं को प्राप्त होता है अथवा इसको धारण करने के वे ही अधिकारी हैं, जो गुरू की कृपा - दृष्टि से कृतार्थ और अनुगृहीत हैं। जो व्यक्ति गुरू से हीन होते हैं, निगुरे होते हैं, वे चालाकी से अपनी सिद्धि का ढोंग करते रहते हैं। जिस व्यक्ति को गुरू, ज्ञाननिष्ठ महायोगी अपनी शरण में स्वीकार कर दीक्षा प्रदान करते हैं, वही वास्तव में सत्यज्ञान का

अधिकारी है और साधना - सम्बन्धी समस्त गुणों को ग्रहण कर लेता है । जो निगुरे हैं वे अवगुण ग्रहण करते हैं और भ्रमित होते हैं ।

अवधू बूझना ते भूलना नही अनबूझ मग हारै ।
सूंने जंगल भटकत फिरहीं, मारि लिहीं बटमारैं ।। ।50 ।।

हे अवधूत । गुरूपदेश जब अच्छी तरह समझ जाये, तब फिर किसी भी स्थिति में इस गुरूज्ञान और इसके प्रभाव की विस्मृति न होने पाये, इस बात का ध्यान रखना चाहिए । जो साधक इस महान् गुरूज्ञान को भूल जाता है, वह साधना के पथ में गिर पड़ता है । यह संसार एक भयानक जंगल है, इसमें काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि बटमार, डाकू साधना-निधि को लूट लेने की ताक में हैं, वे अवसर पाते ही टूट पड़ेंगे और उसका सर्वस्व अपहरण कर लेंगे, जो गुरूज्ञान को भूलकर इस संसार में भटकता फिर रहा है ।

गुरू की बाचा षोजैं नाहीं, अहंकारी अहंकार करै ।
षोजी जीवैं षोजि गुरू कौं, अहंकारी का प्यंड परै ।। ।51 ।।

योगसाधक को अहंकार से दूर रहना चाहिए । जब तक साधक गुरूपदेश और गुरू के बचन के अनुसार आत्मतत्व का चिन्तन नहीं करता है, तबतक वह अज्ञान में भटकता है और अहंकार करता है कि मैं अध्यात्मतत्व का रहस्य समझ गया । जो आत्मा के खोजी हैं, वे गुरू की खोज करते हैं, क्योंकि बिना गुरू की प्राप्ति कें परमार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती । अहंकारी अज्ञानी है, वह आत्मज्ञान के अभाव में विनाश को प्राप्त है उसका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा । गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा ।
काछ का जती मुष का सती । सो सत्पुरूष उतमो कथी ।। ।52 ।।

जो व्यक्ति शिश्नइन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं रखता और अपनी जिह्वा को असंयमित वाणी और असत्यभाषण तथा अशिष्ट और व्यर्थ वचनों से दूषित करता है, वह तो प्रत्यक्ष भंगी है, विषयवासना के मैल से उसकी चित्तवृत्तियाँ ढँकी रहती हैं । गोरखनाथ का कथन है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, और जिसकी वाणी में सत्य होता है, वही सत्पुरुष उत्तम कहा जाता है ।

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा । वांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला ।
बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारैं ते रेष न रूप ।। ।53 ।।

हे अवधूत । मन के शुद्ध और संयमित तथा पवित्र विचारों से सबल होने पर कठवत का जल भी गंगाजल है । माया ही मन को अपवित्र बनाती है, वह निर्मल नहीं हो पाता और बन्धन में बँधा रहता है, यदि इस तरह मायाबद्ध दूषित मन को सद्विचार और सदाचार के द्वारा मुक्त कर लिया जाय तो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जायेगा, और तीनों लोक, आकश,पाताल और पृथ्वी के समस्त प्राणी उससे सद्ज्ञान प्राप्त करेंगे । गोरखनाथ का कथन है कि मन का दोषमुक्त होकर शुद्ध हो जाना ही सत्स्वरूप में जीवात्मा का अवस्थान है । इस सत्स्वरूप अथवा कैवल्य का विचार करते-करते प्राणी रूप-रेखा, रूप और नाम की उपाधि से सर्वथा परे होकर अपने आप (स्वयं) में स्वस्थ हो जाता है ।

सीषि सीषि बिसाह्या बुरा । सुपिनैं मैं धन पाया पड़ा ।
परषि परषि ले आगैं धरा । नाथ कहै पूता षोटा न षरा ।। ।54 ।।

जिस तरह स्वप्न में द्रष्टा धन की राशि देखता है और द्रव्य उसके नेत्रों के सामने एकत्र रहता है, पर वह असत् हैं, आँख खुलने पर अदृश्य हो जाता है, व्यर्थ सिद्ध होता है, ठीक उसी तरह ज्ञाननेत्र के खुल जाने पर, शास्त्र और ग्रन्थादि के शब्दों का कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि यह वस्तुतत्व है ही नहीं, न तो यह सत्य है और न खोटा ही है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान (धन) है ही नहीं । ग्रन्थों में वर्णित ज्ञान के शब्द तो एक निकम्मा सौदा है, व्यर्थ की खरीद हैं ।

आओ देवी बैसो । द्वादिस अंगुल पैसो ।
पैसत पैसत होइ सुष । तब जनम मरन का जाइ दुष ।। ।55 ।।

(गोरखनाथ जी का कथन है,) हे देवि कुण्डलिनी। द्वादस अंगुल प्राणवायु को वहन करने वाली सुषुम्ना नाड़ी में अपने जागरत रूप में प्रवेश करके चक्रों के स्थान से ऊर्ध्वमुख होते हुए सहस्रार में परमशिव में मिल जाओ । इस मिलन से परमानन्द की प्राप्ति होती है और योगी (जीवात्मा) साधना में सिद्धि लाभ कर आवागमन, जन्म लेने और पार्थिव शरीर के मरने, के बन्धन से मुक्त होकर परमशून्य कैवल्यपद गोक्षस्वरूप अलखनिरंजन तत्व में स्वस्थ हो जाता है ।

स्वामी काची बाई काचा जिंद । काची काया काचा बिंद ।
क्यंकरि पाकै क्यूंकरि सीझै । काची अगनी नीर न षीजै ।। ।56 ।।

योग साधना में काया-साधना अनिवार्य है । यदि काया कच्ची है (योगाग्नि में तपाकर सिद्ध नहीं की गई है) तो प्राण वायु भी कच्ची रह जायेगी और बिन्दु (वीर्य) भी कच्चा रहेगा और योगी का जीवन भी कच्चा रह जायेगा । योगाग्नि में पक जाने पर शरीर सुदृढ़ होता है । शरीर में योगाग्नि के सिद्ध होने पर ही शरीर, वीर्य, जीवन और प्राण की स्थिरता होती है । जब तक योगाग्नि के द्वारा इन्हें पक्व नहीं किया जाता, तबतक साधन में लाभ नहीं मिलेगा, कच्ची अग्नि से पानी नहीं पक सकता, सिद्ध नहीं हो सकता ।

तौ देबी पाकी बाई पाका जिंद । पाकी काया पाका बिंद ।
ब्रह्मअगनि अषंडित बलै । पाका अगनी नीर परजलै ।। ।57 ।।

हे महाशक्ति कुण्डलिनी देवि । हठयोग की साधना से प्राण शुद्ध हो जाता है, जीवन पवित्र हो जाता है, शरीर नीरोग और वीर्य पुष्ट हो जाता है । इन चारों की पुष्टि अथवा परिपक्वता का आधार है निरन्तर ब्रह्माग्नि अथवा योगाग्नि का शरीर के भीतर प्रज्वलित रहना । यही योगाग्नि ही

ज्ञानाग्नि है । सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान वायु के संयोग से इड़ा-पिंगला की भट्टी में योगाग्नि प्रज्वलित होती है, इसके तेज से हमारे जीवन का रस, वीर्य परिपक्व होता है और हमें कायसाधनयोग में सिद्धिसुलभ होती है ।

सोवत आडां ऊभां ठाढां । अगनी ब्यंद न बाई ।
निस्चल आसन पवनां ध्यानं । अगनी ब्यंद न जाई ।। ।58 ।।

यदि योगसाधक तिरछा सोता है, सीधा सामान्य अवस्था में खड़ा होता है, तब वह शरीर की स्थिरता और प्राण की संयमन-शक्ति के अभाव में अपने शरीर में अपान-प्राणवायु के संयोग से योगाग्नि प्रज्वलित नहीं रख सकता और न तो वीर्य और प्राण की रक्षा ही कर सकता है, इसलिये योगसाधक को साधनोपयोगी योगासनों में स्थिर रहना चाहिए । इससे ज्ञानग्नि, योगाग्नि की दीप्ति से शरीर अथवा पिण्ड पुष्ट होगा और साधक पूर्णरूप से वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मचर्य में स्थित रहेगा, क्योंकि योगाग्नि और वीर्य ही योगासाधना के आधार हैं ।

उगवंत सूर पत्र पूर काल - कंटक जाइ दूर ।
नाथका भंडार भरपूर रिजक रोजी सदा हजूर ।। ।59 ।।

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी और सहस्रार स्थित शिव के सामरस्य से पिंड में ब्रह्मतेज का उदय होने पर मृत्युरूपी कण्टक, अविद्या-अन्धकार और आत्मविनाश का भय समाप्त हो जाता है । परब्रह्म शिव-माया से परे अनादि रूप में स्थापित आकाश, पाताल और पृथ्वी से नाथ शब्द की सार्थकता चरितार्थ होती है, यह नाथ परब्रह्म हमारे पिंड में पूर्ण प्रकाशित है, अक्षय है, उसका आश्रय ग्रहण करने पर योगी अथवा योगसाधना में रत प्राणी अमृत हो जाता है, वह शाश्वत ब्रह्म अथवा कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

थांन मांन गुर ग्यांन । बेधां बोध सिधां परग्रांम ।
चेतनि बाला भ्रम न बहै । नाथ की कृपा अषंडित रहै ।। ।60 ।।

आकाश, पाताल, मृत्युलोक में सर्वत्र ही अनादि परब्रह्म परमात्मा नाथ-परमशिव परिव्याप्त है, उसकी कृपा निरन्तर समस्त सृष्टि का अभिषेक करती रहती है । नाथ सिद्ध महायोगी गुरू की शरणागति में महाज्ञानोपदेश प्राप्त कर शिष्य अविद्या-अन्धकार, अज्ञान में न तो भ्रमित होता है और न विमुग्ध रहता है । वह इस संसार में सिद्धों की सिद्धि आदि से सर्वथा निर्लिप्त रहकर एकान्त में आत्मचिन्तन कर स्वबोध प्राप्त करता है । सद्गुरू श्रीनाथ महायोगेश्वर शिव की कृपा और प्रसन्नता से वह कृतार्थ हो जाता है ।

अधिक तत्त ते गुरू बोलिये हींण तत ते चेला ।
मन मांनैं तो संगि रमौ नहीं तौ रमौ अकेला ।। ।6। ।।

गुरू गुरूता से सर्वथा सम्पन्न रहता है ओर शिष्य उससे गुरूता, गुरूज्ञान प्राप्त कर अपनी कमी, हीनता का नाश कर गुरूपद में अभय होकर स्थित रहना चाहता है, गुरू और शिष्य का यही अन्योन्याश्रय शाश्वत सम्बन्ध है । गुरू से ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह उसके सत्संग में रहकर आत्मज्ञान में रमण कर सकता है या गुरू की कृपा से वह इतना समर्थ हो जाता है कि वह असंग होकर उसके ज्ञान के प्रकाश में स्वेच्छा से जीवनयापन कर जीवन्मुक्तावस्था का अनुभव कर सकता है ।

चलंत पंथा तूटंत कंथा उडंत षेहा बिचलंत देहा ।
छूटंत ताली हरि सूंनेहा ।। ।62 ।।

हठयोग की साधना में योगाग्नि से पक्व शरीर, प्राण और बिन्दु, वीर्य का अमित तथा असाधारण महत्व है । शरीर वस्त्र की तरह है, इसके जीर्ण-शीर्ण होने पर जीवात्मा इसका या तो परित्याग कर देता है या उसके साधन और अभ्यास छूट जाते हैं । यदि साधक की चित्तवृत्ति चंचल है, शरीर सुदृढ़ नहीं रह सकता है, जीवन-यात्रा में साधक भटकता रहेगा तो शरीर कपड़े की तरह जीर्ण हो जायेगा और शरीर की जीर्णता का अर्थ यह है कि वह धूलि में मिल जायेगा, नाश को प्राप्त होगा । ऐसा होने पर साधक की धारणा-ध्यान द्वारा सिद्ध समाधि टूट जायेगी । वह परमशिव,

परब्रह्म परमात्मा के सरस प्रेम की प्राप्ति से, अनुग्रह और कृपा की अनुभूति से वंचित हो जायेगा । वह भ्रमित हो उठेगा और हरि की स्नेह-प्राप्ति उसके लिये दुर्लभ हो जायेगी ।

पंथि चले चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरू बाई ।
घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई ।। ।63 ।।

योगसाधक को अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए अन्तस्साधना में तत्पर रह कर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए । अन्तर्मुखी साधक को बाहर बाह्य तीर्थों में सद्ज्ञान-प्राप्ति करने के लिये भटकते रहने से व्यर्थ श्रम होता है और वह स्वरूपबोध से दूर रहता है । समस्त (अड़सठों) तीर्थ हमारे शरीर में ही हैं और उन्हीं में चित्त को लगाते हुए हम परमात्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति की सिद्धि कर सकते हैं ।

जोगी होइ पर निंद्या झषै । मद मांस अरू भांगि जो भषै ।
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई । सति सति भाषंत श्री गोरषराई ।। ।64 ।।

योगी वह है, जो अपनी जिह्वा और वाणी पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखता है । वह कभी दूसरे प्राणी की (राग) द्वेषवश (स्तुति) निन्दा नहीं करता । वह मद, मांस और भांग का सेवन नहीं करता । परनिन्दक और मदिरा-मांस आदि का सेवन करने वाले प्राणियों के पितर वैकुण्ठ और स्वर्ग से च्युत होकर नरकगामी होते हैं । अपनी सन्तान के पाप और असत्कर्म से उनकी दुर्गति होती है । योगी का स्वभाव तो सद्ज्ञान और पवित्र आचरण के परिशीलन का फल है । (यह गोरखनाथ का) सत्यवचन है ।

अवधू मांस भषंत दया धरम का नास । मद पीवत तहाँ प्रांण निरास ।
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत । जम दरबारी ते प्रांणी रोवंत ।। ।65 ।।

मांस-भक्षण हिंसा को प्रोत्साहन देता है और उससे प्राणी में दया-भाव और दूसरे के प्रति सद्-व्यवहार अथवा सदाचार-सत्कर्तव्य का नाश

होता है । इसी तरह जो प्राणी मदिरा का सेवन करता है, उसकी प्राणशक्ति क्षीण होती है, शरीर विकारग्रस्त होता है और जो प्राणी भाँग का सेवन करता है, वह ज्ञान और ध्यान दोनों से वंचित होता है । हे अवधूत । मांस- भक्षण, मदिरा-भाँग-सेवन से मनुष्य की बुद्धि विकृत होती है, वह अपने पापकर्म के विपाककेरूप में नरक में जाता है, यमराज की यातनाओं से प्रताड़ित होकर निरन्तर शोकसंविग्न होकर रोता रहता है ।

चालिबा पंथा कै सीबा कंथा । धरिबा ध्यांनं कै काथिबा ग्यानं ।
एकाएकी सिधके संग । बदंत गोरषनाथ पूता न होयसि मन भंग ।। ।66 ।।

योगी के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है । मन भंग न हो, इसके लिये या तो वह अकेला रमता रहे या एकान्त स्थान में बैठकर अपनी गुदड़ी सीता रहे (शरीर का शोधन करता रहे) अथवा अपने इष्टदेव परब्रह्म परमात्मा अथवा परमशिव के ध्यान में तल्लीन रहे या अनुभव से प्राप्त आत्मज्ञान का दूसरों के हित और मार्ग-दर्शन के लिये उपदेश करता रहे । गोरखनाथ का कथन है कि ऐसा करने से मन चंचल नहीं होगा और साधना सुचारू रूप से चलती रहेगी ।

पढ़ि देषे पंडिता ब्रह्मगियानं । मूर्बी मुकति बैकुंठा थांन ।
गाडया जौल्या चौरासी मैं जाई । साँते साँते भाषंत गोरष राइ ।। ।67 ।।

हे विद्वानों ! शास्त्र में वर्णित आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान आदि को पढ़कर उसका अपने जीवन में अनुभव करना चाहिए । पार्थिव शरीर से प्राण के निकल जाने पर मुक्ति की प्राप्ति या बैकुण्ठ में निवास आदि की बात का आत्मज्ञान के अभाव में कोई महत्व नहीं है । शरीर निष्प्राण होने पर गाड़ दिया जाता है, समाधि में सुरक्षित किया जाता है या चिता पर रखकर जला दिया जाता है, जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार अगणित (चौरासी लाख) योनियों में जन्म लेता रहता है तथा शरीर छोड़ता रहता है, इसलिये परब्रह्म

का ज्ञान, स्वरूप का अनुभव करना चाहिए । अपरोक्षानुभूति का ही मार्ग सिद्धिप्रद है ।

आकाश तत सदासिव जांण । तिस अभिअंतरि पद निरबांण ।
प्यंड परचांनै गुरमुषि जोइ । बाहुड़ि आवागवन न होइ ।। 168 ।।

हमारे शरीर में षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार स्थित है, यह आकाश, शून्य-गगन है, यह कैलाश है, इसमें परम शिव सदाशिव निवास है, जिसके साक्षात्कार से अथवा मूलाधारस्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति के शिव में सामरस्य से, जागरत अवस्था में मिलन से कैवल्यपद का सहस्रार में अवस्थान होता है । इस परमतत्व का परिज्ञान सद्गुरू के मुख से श्रवण करना चाहिए, उनकी कृपा से कैवल्यपद में स्थित होकर परमनिर्वाण स्वरूप सदाशिव का साक्षात्कार करना सुलभ होता है, जिससे बार-बार शरीर में जन्म लेना और मरना समाप्त हो जाता है, जीवात्मा नित्यमुक्त हो जाता है ।

ऊरम धूरम ज्वाला जोति । सुरजि कला न छीपै छोति ।
कंचन कवल किरणि परसाइ । जल मल दुरगंध सरब सुषाइ ।। 169 ।।

मूलाधारस्थित प्रसुप्तकुण्डलिनी महाशक्ति जागरत होने पर षट्चक्रों को प्रकाशित करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर अपनी पूर्ण प्रदीप्ति से उसे प्रकाशित कर परमशिव में अभिन्न हो उठती है, अध्यात्मसूर्य की यह कला, प्रज्वलित परमज्योति आधिभौतिक मल से आच्छन्न नहीं हो सकती, इस अखण्ड सूर्यकला से ब्रह्मरन्ध्र स्थान, सहस्रार (कमल) पूर्ण रूप से खिल जाता है, उसके स्पर्श से प्रकाशित हो उठता है । सूर्य की प्रभा से जिस तरह अपवित्र जल सूख जाता है, उसी तरह सहस्रार से प्रकाशित महाशक्ति के तेज से मायिक विकार मिट जाते हैं, आत्मकला अथवा आत्मशक्ति प्रकाशित हो उठती है ।

घटि घटि सूण्यां ग्यांन न होइ । बनि बनि चंदन रूष न कोइ ।
रतनरिधि कवन कै होइ । ये तत बूझै बिरला कोइ ।। 170 ।।

यह नितान्त असंदिग्ध है कि सभी वनों में चन्दन के पेड़ नहीं होते हैं, किन्हीं-किन्हीं वन में उनकी उत्पत्ति होती है, ठीक इसी तरह

रत्न-ऋद्धि, परमात्मज्ञान की समृद्धि किन्हीं बिरले अधिकारी में प्रकाशित होती है । परमात्मज्ञान का श्रवण कर उसे स्वानुभूति के धरातल पर प्रकाशित करने के अधिकारी सभी नहीं होते, यह सौभाग्य तो (परमात्मा के अनुग्रह से) किन्हीं-किन्हीं को ही उपलब्ध होता है ।

नीझर झरणैं अमींरस पीवणां षटदल बेध्या जाइ ।
चंद बिहूंणां चांदिणां तहाँ देष्या श्रीगोरष राइ ।। ।7। ।।

(इस सबदी में गोरखनाथजी की योगसाधना की सम्पूर्ण सिद्धि की, फल-प्राप्ति की उन्हीं की अमृतवाणी में सहज अभिव्यक्ति परिलक्षित है ।) सहस्रार में अमृत का प्रपात द्रवित होता है, ब्रह्मरन्ध्र, शून्य आकाश के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नाम का त्रिकोण चक्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है, इसी से सदा अमृत झरता रहता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर षट्चक्र का भेदन करते हुए सहस्रार से द्रवित निर्झर के अमृत रस को पी लिया और वहाँ निरालम्ब शून्य गगन में निराधार, स्वरूपस्थ अलख निरंजन की परमज्योति का स्वयं साक्षात्कार कर लिया, जो ऐसी अमृतचन्द्रिका है कि उसका उद्गम वह स्वयं है, उसमें अन्याश्रय अथवा अन्य आधार में निर्भरता नहीं है । कारणरहित स्वतः प्रकाशित परब्रह्म परमशिव का मैंने स्वयं साक्षात्कार कर लिया ।

कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कै मन रहै गुरू के ओलै। कै मन रहै कांमनि कै षोलै।। ।72 ।।

मन स्वभाव से चंचल है, या तो यह सदा आशान्वित रहकर अतृप्त अवस्था में यत्र-तत्र चंचल रहता है, या आशा, अभिलाषा-पूर्ति की वासना के पाश में आबद्ध रहता है या परम उदास हो जाता है, या यह विषयरत और कामोपभोग-परायण रहकर कामिनी की रति में आसक्त रहता है, या सद्गुरू की शरणागति का वरण कर यह विषय-प्रपंच से परे होकर वैराग्यरस में निमग्न होकर परमात्म साक्षात्कार में जीवात्मा की सहायता करता है ।

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा जांनिबा अगनि का भेवं ।
बूढीहीं थै गुरबानी होइगी सति सति भाषंत श्रीगोरष देवं ।। ।73 ।।

मन को वश में करने के लिये उसे अवारित रखना चाहिये, उसे वारित करने, रोकने, प्रताड़ित करने या हठपूर्वक प्रत्याहारित करने से साधना में विघ्न उपस्थित होने की आशंका सदा विद्यमान रहती है । इसका आशय यह नहीं है कि उस पर संयम ही न किया जाय, असंयमित मन तो और भी अस्थिर और चंचल रहता है, इसलिये उसे सदा अभ्यास में तत्पर रखकर योगाग्नि के ज्ञान से अपने आप को सम्पन्न रखना योगसाधक का महान् कर्तव्य है । इस तरह योगाग्नि से शरीर के पक्व होने पर साधक में आत्मज्ञान स्वरूपस्थिति के साक्षात्कार की जिज्ञासा का उदय होता है, आदिशक्ति, अनादि पुराणपुरूष परब्रह्म की संगिनी, अभिव्यक्ति शक्ति मूलमाया अविद्यारूपिणी न होकर विद्यास्वरूपिणी हो जाती है, गोरखनाथ का यह अनुभवसिद्ध सत्यवचन है कि यह विद्यास्वरूपिणी माया परम बोधस्वरूप साक्षात् गुरूवाणी है और गुरूज्ञान की चिरसंगिनी ब्रह्मविद्या है । मन की शक्ति से इस महाविद्या का अनुग्रह मिलता है ।

बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूर । षोजत रहे ब्रह्मा अरू सूर ।
सेत फटक मनि हीरै बीधा । इहि परमारथ श्रीगोरष सीधा ।। ।74 ।।

गोरखनाथजी का कथन है कि परमात्मतत्व न केवल मात्र भीतर खोजने से, न बाहर (पिण्ड के बाहर) देखने से, न देश-काल से परे दूर अथवा अपने स्वरूप में सन्निकट समझने से उपलब्ध हो सकता है, इस महत्तम का परिज्ञान ब्रह्मा (वेदज्ञ) और सूर्य तक भी न पा सके । आत्मा ही निर्मल स्फटिक मणि है, जो परमात्म हीरकरत्न का भेदन कर सकता है, आत्मा ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है, यही परमार्थ है, इसी को मैंने (गोरखनाथ ने) आभ्यन्तरिक साधना के स्वरूपस्थ सिद्ध किया । इस महाज्ञान का परिशीलन ही योगसाधना का चरम परम फल है ।

आवति पंच तत कूं मोहै जाती छैल जगावै ।
गोरष पूछै बाबा मछिंद्र या न्यंद्रा कहाँ थैं आवै ।। ।75 ।।
गगन मण्डल मैं सुंनि द्वार बिजली चमकै घोर अंधार ।
ता महि न्यंद्रा आवै जाइ । पंच तत मैं रहै समाइ ।। ।76 ।।

गोरखनाथ जी अपने परमगुरू, महायोगज्ञान के सिद्ध अधीश्वर मत्स्येन्द्रनाथ से जड़तत्वविमोहिनी निद्रा की जिज्ञासा करते हैं कि हे गुरूदेव ! यह निद्रा क्या है, जिससे पंचतत्व के शरीर में स्थित जीवात्मा संज्ञाशून्य होकर (सुषुप्ति का वरण कर) अचेतन-सा हो जाता है और जिसके चले जाने पर परमात्मानन्द का भोगी, शाश्वत चेतन, रसिक जीवात्मा संज्ञा में स्थिर होकर जागृति-अवस्था में समाहित हो जाता है । (श्री मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से उन्हें बोध सुलभ होता है कि) यह निद्रा, सुषुप्ति शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र से आती है और वहीं समा जाती है, गगनमण्डल सहस्रार में शून्यद्वार स्थित है, यही ब्रह्मरन्ध्र है, यहाँ गहनतम प्रलयान्धकार है और रह-रहकर परम चेतना, विद्युल्लता (अपनी कनक आभा में) चकमती रहती है । इसी ब्रह्मरन्ध्र से अविद्यास्वरूपिणी महामोहमयी निद्रा पंचतत्व के शरीर में प्रवेश कर उसके जीवात्मा को संज्ञाशून्य कर देती है पर यह स्थिति परिवर्तनशील है, क्योंकि निद्रा चंचल प्रकृति की है, अविद्या अथवा असत् की अभिधा का स्वभाव अस्थिर होता है, इसलिए निद्रावश जीव सोता है और निद्रा से परित्यक्त अथवा उन्मुक्त होने पर अपने सनातन स्वरूप के परिज्ञान में जाग जाता है ।

ऊभां बैठां सूतां लीजै। कबहूँ चित भंग न कीजै ।
अनहद सबद गगन मैं गाजै। प्यंड पड़े तो सतगुर लाजै ।। ।77 ।।

अनाहतनाद का गर्जन सहस्रार गगन-मण्डल में अनवरत हो रहा है, इसे योग-साधक को निरन्तर श्रवण करना चाहिए । इस अनाहतनाद को सोते, बैठते और खड़े होते - समस्त स्थितियों में साधक को सुनना चाहिए, इस नादानुसन्धान से जीवात्मा सहज समाधि में समाहित हो जाता है, यह सहस्रार में द्रवित अमृत का पान करता है तथा उसका वीर्यरस योगाग्नि में पक जाता है और शरीर स्थिर रहता है । यदि नादानुसन्धान के अभाव में, वीर्य के योगाग्नि से पकने के अभाव में, शरीर स्थिर नहीं रहता, मृत्यु का ग्रास बन जाता है, तो साधक अपने गुरू से प्राप्त ज्ञान की अवहेलना करता है, वह उस महाज्ञान को लज्जित करता है ।

एकलौ बीर-दूसरौ धीर, तीसरौ षटपट चौथौ उपाध ।
दस पंच तहाँ बाद विवाद ।। ।78 ।।

वह साधक वीरात्मा है, जो एकान्त में निवास कर जन-सम्पर्क से सर्वथा अप्रभावित और दूर रहकर योगाभ्यास करता है । वह साधक धीर है, जो अपने साथ में एक सहायक भी रखता है और उसकी उपस्थिति में अपनी साधना में किसी भी तरह का विघ्न नहीं होने देता । जब साधक के सम्पर्क में दो व्यक्ति आ जाते हैं, तब तीन की संगति से परस्पर कलह आरम्भ होता है और साधना में विघ्न पड़ता है तथा साधक के साथ जब तीन संगी रहकर साधना करते हैं तो साधना-स्थल की शान्ति भंग हो जाती है और आपस में चारों उत्पात करते हैं और जब योगसाधक के आश्रम में दसपाँच जन एकत्र हो जाते हैं, तब तो साधना के नाम पर राग-द्वेष के वातावरण में एक - दूसरे को नीचा दिखाने के लिये पारस्परिक संघर्ष और उपद्रव का बोलबाला होता है ।

एकाएकी सिधनांउं दोइ रमति ते साधवा ।
चारि पंच कुटुम्ब नाउं दस बीस ते लसकरा ।। ।179 ।।

अध्यात्म की साधना की सिद्धि एकान्तवास से ही होती है । वास्तव में जो एकान्त में अकेले साधना करता है । वही सिद्ध नाम को चरितार्थ करता है । एक से दो होने पर साधारण स्तर पर साधना में तल्लीन योगसाधक साधु कहे जाते हैं और जो साधक चार-पाँच लोगों के साथ रहकर साधना और योगाभ्यास करता है, वह तो एक कुटुम्बी है, इसके कुटुम्ब और सांसारिक गृहस्थों के परिवार के राग-द्वेष के बन्धन समान होते हैं और जो दस-बीस लोगों को एकत्र कर आध्यात्मिक साधना में लगता है, वह तो एक सेना ही एकत्र कर लेता है, जिससे लाभ के स्थान पर हानि की ही सम्भावना रहती है ।

मन मुषि जाता गुरमुषि लेहु । लोही मास अगनि मुषि देहु ।
मात पिता की मेटौ धात । ऐसा होइ बुलावै नाथ ।। ।80 ।।

मन बड़ा चंचल है, उसकी वृत्तियाँ चंचल रहती हैं, अमनस्क योग की साधना करते हुए उसकी वृत्तियों को गुरूज्ञान से अन्तर्मुखी कर उनका (हठयोग) साधना में उपयोग करना चाहिए । रक्त-मांस से निर्मित शरीर को

योगाग्नि में शुद्ध कर लेना चाहिए । माता की रज और पिता के वीर्य के संयोग से युक्त शरीर को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत के पालन से निर्विकार और निर्दोष कर लेना चाहिए, ऐसा करने से साधक अनायास नाथ, परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

नादा नाद सब कोइ कहै । नादहिं लै को बिरला रहै ।
नाद बिंद है फीकी सिला । जिहिं साध्या ते सिधैं मिला ।। ।८१ ।।

नाद का अनुसन्धान साक्षात् ऊँस्वरूप शब्द ब्रह्म परमात्मा की उपासना है, केवल नाद, नाद रटने से साधना की सिद्धि नहीं होती, इसमें मन को सम्पूर्ण एकाग्र कर, अमनस्क कर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध कर नाद की अन्तिम अवस्था, शब्दातीत अवस्था में प्रवाहित अनाहत ध्वनि में अपने आत्मस्वरूप को लय कर परमात्मा में तादात्म्य स्थापित किया जाता है, यह साधना कोई बिरला योगी ही कर पाता है । नाद बिन्दु, दोनों सूखे पाषाण-खण्ड के समान हैं पर उनकी साधना से आत्मरस-परमामृततत्व के बोध में योगसाधक सिद्धावस्था में समाहित अथवा स्वरूपस्थ हो जाता है ।

दरवेस सोइ जो दर की जांणै । पंचे पवन अपूठां आंणै ।
सदा सुचेत रहै दिन राति । सो दरवेस अलह की जाति ।। ।82 ।।

दरवेश वह है, जो परमात्मा के प्रेमस्वरूप में आत्मा को तदाकार कर देता है । इस महाज्योति के साक्षात्कार के लिये वह पंच प्राण-अपान, उदान, प्राण, व्यान, और समान-को नियंत्रित कर समस्त विषयसुखों में पूर्ण वैराग्य का वरण कर सर्वथा अनासक्त हो जाता है । रात-दिन वह निरन्तर परमात्मा, प्रियतम के ध्यान में सावधान रहता है, वह प्रियतम परमात्मा के स्वरूप में ध्यान करते-करते उन्हीं की आकृति में अभिव्यक्त हो उठता है । दोनों प्रेमस्वरूप हो जाते हैं, यही उसकी सजातीयता है । यह स्वरूपस्थिति ही परम कैवल्यपद की प्राप्ति है और दरवेश की यही श्रेय-सिद्धि है ।

बैसंत पूरा रमंति सूरा, एकरसि राषंति काया ।
अंतरि एकरसि देषिबा बिचरंति गोरषराया ।। ।83 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि जिस योगी ने सहस्रार स्थित अलख निरंजन परब्रह्म का कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण द्वारा साक्षात्कार कर लिया और कैवल्यपद में स्वरूपस्थिति प्राप्त कर ली, वह पूरा सिद्ध है । इसी तरह जो साधक साहसपूर्वक साधनागत विघ्नों और प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर शरीर को एकरस स्थिर रखते हैं, वे वीर हैं; पर मैं (गोरखनाथ) परमात्मा परब्रह्म अलख निरंजन, शून्य गगनस्थ अमृतब्रह्म के सहज साक्षात्कार, स्वरूप-बोध के लिये निरन्तर आभ्यन्तर साधना में सावधान रहता हूँ ।

नाद बिंद बजाइले दोऊ पूरिले अनहद बाजा ।
एकंतिका बासा सोधिले भरथरी कहै गोरष मछिंद्र का दासा ।। ।84 ।।

गोरखनाथ, महायोगीश्वर परम सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के सेवक का योगिराज भर्तृहरि के प्रति योगोपदेश है कि हे भर्तृहरि ! प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर तथा चित्तवृत्ति को निरूद्ध कर नाद-बिन्दु की साधना में तत्पर हो जाना चाहिये । हे भर्तृहरि, इस तरह नाद-बिन्दु की साधना में निरन्तर तत्पर रहकर एकान्त स्थान में निवास कर अथवा सहज शून्य गगनस्थ सहस्रार में आत्मा का लय (परमशिव से ऐक्य) कर सिद्धावस्था में रमण करना चाहिए । नाद-बिन्दु की साधना ही पूर्ण योग-सिद्धि का साधन-पथ है ।

सूर माहिं चंदचंद माहिं सूर । चपंपि तीनि तेहुड़ा बाजल तूर ।
भणन्त गोरषनाथ एक पद पूरा । भाजंत भौंदू सार्धति सूरा ।। ।85 ।।

जब 'ह' सूर्य (पिंगला नाड़ी) और 'ठ' चन्द्र (इड़ा नाड़ी) अथवा मूलाधार में स्थित सूर्य का सहस्रार स्थित चन्द्रमा से मेल हो जाता है, (और विपरीतकरिणी मुद्रा सिद्ध हो जाती है) और सत्, रज, तम तीनों गुणों की वृत्तियों में साधक का मन चंचल नहीं होता है, तब सहस्रार में अनाहद नाद का श्रवण होने पर साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है । इस तरह की सुदृढ़ योगसाधना में वीर साधक-तपस्वी ही सफलता का सौभाग्य पाता है, जो अज्ञानी है और साधना न कर, केवल शब्दमात्र का प्रलाप करता है, वह कायर कभी योगसिद्ध नहीं हो सकता ।

छत्र पवन निरंतर रहै, छीजै काया पंजरा रहै।
मन पवन चंचल निजि गहिया बोलै नाथ निरंतरि रहिया ।। ।86 ।।

शरीर में प्राण वायु, छत्र पवन की निरंतर अवस्था से नाड़ियों का मल-शोधन होता है, शरीर में स्थित दोष और विकार नष्ट हो जाते हैं, शरीर क्षीण और निर्मल होने पर एक पंजरमात्र सा दीख पड़ता है। योगसाधक मन और पवन तथा चंचल इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, और इस तरह वह तपस्वी योगी (निरन्तरि=अलग) एकान्त रहनी से जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

इकटी बिकुटी त्रिकुटी संधि पछिम द्वारे पवनां बंधि ।
षूटै तेल न बूझै दीया बोलै नाथ निरन्तरि हूवा ।। ।87 ।।

निरन्तर स्थिति, जीवन्मुक्ति अवस्था की सिद्धि अथवा सिद्धदेह या अमरकायत्व की प्राप्ति का मूलाधार शरीर में प्राण की स्थिरता है, जिसका प्रवाह इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ियों की निर्मलता और ग्रहणशीलता के आधारभूत है। इकटी का आशय पहली नाड़ी इड़ा से है, यह नासिका के बायें भाग में स्थित है, दायें भाग में पिंगला है और इन दोनों के बीच में सुषम्ना नाड़ी स्थित है। इन तीनों का मूल, उद्‌गम, मूलाधार पद्‌म (चक्र) की कर्णिका के त्रिकोण में है। उनके वायें कोण से इड़ा, दायें कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से सुषुम्ना की उत्पत्ति है, ये तीनों नासिका-छिद्रों में प्रवाहित हैं और सुषुम्ना ब्रह्‌मरन्ध्र में प्रवेश करती है। इन्हीं तीन नाड़ियों से प्राणायाम की साधना कर अमरता की प्राप्ति की जाती है। सुषुम्ना-मार्ग में पवन का निरोध होने पर साधक अमर हो जाता है। उसकी प्राण-ज्योति उसी तरह स्थिर रहती है, जिस तरह दीपक में तेल रहने तक उसकी दीप्ति बनी रहती है, इस तरह प्राण अपान का सुषुम्ना में संगम कर साधक नित्यस्वरूप जीवन्युक्त होकर अमरकाय हो जाता है।

ज्यू ज्यूं भुयंगम आवै जाई सुरही घरि नहीं गरड़ रहाइ ।
तब लग सिध दुर्लभ जोग तोयं अहार बिन ब्यापै रोग ।। ।88 ।।

यह श्वास भुजंग के समान है । सुषुम्ना ही इसका संरोध-स्थान है । जिस तरह सर्प को गरूड़ नियंत्रित करता है, सर्प का प्रभाव समाप्त हो जाता है, उसी तरह सुरही (सुरभी) गाय के घर-सुषुम्ना-में प्राण का स्थैर्य ही गरूड़ की विद्यमानता है, बाहर आते-जाते श्वासरूपी भुजंग को सुषुम्ना में संरोध करना ही योगसिद्धि का पथ प्रशस्त करना है । जल के आहार के बिना, वीर्य को ऊर्ध्वगामी या सुरक्षित क्रिये बिना शरीर पुष्ट और नीरोग नहीं होता हैं । इसलिए ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य को ऊर्ध्वस्थ करते हुए श्वासभुजंगम को सुषुम्ना में निरूद्ध कर, स्थिर कर योगसिद्धि की प्राप्ति योगाभ्यासी का लक्ष्य है ।

ग्यांन सरीषा गुरू न मिलिया चित्त सरीषा चेला ।
मन सरीषा मेलू न मिलिया तीथैं गोरष फिरै अकेला ।। 189 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि ज्ञान, आत्मतत्व ही गुरू है, जिस तरह गुरू के सदुपदेश से शिष्य का अज्ञान, अविद्या अथवा मायामोहग्रस्त जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है, उसी तरह मेरा (गोरखनाथ का मत्स्येन्द्ररूप में अभिव्यक्त) आत्मज्ञान ही गुरू है और इस आत्मज्ञान को ग्रहण करने वाला चेला ही मेरा चित्त है, मुझे अपनी अन्तस्साधना के लिये योगमहाज्ञानस्वरूप मत्स्येन्द्ररूप गुरूज्ञान से ही संतोष है, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मेरा चित्त ही योग्य शिष्य है और मन ही गुरू और शिष्य, ज्ञान और चित्त में सामंजस्य स्थापित करने वाला सहायक है, इसलिए ज्ञान, चित्त और मन के सहारे मैं अकेला, स्वरूपस्थित होकर साधना में तत्पर हूँ ।

सांग का पूरा ग्यांन का ऊरा । पेट का तूटा डिंभ का सूरा ।
बदंत गोरखनाथ न पाया जोग । करि पाषंड रिझाया लोग ।। 190 ।।

जो योगी वेश-भूषा और ब्रह्याडम्बर मात्र का सहारा लेता है और ज्ञान से (ऊरा) अधूरा है, खाली है, सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सका है, जिसका क्षुधा पर अधिकार नहीं है, भूख लगने पर अत्यधिक मात्रा में आहार ग्रहण करता है और जो दम्भ करने में कुशल है, वह योग की साधना में सिद्धि से वंचित रहता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है । वह पाखण्डी है,

स्वांग बनाकर और अपने अज्ञान को आडम्बर के सहारे छिपा कर लोगों का योगसाधना के नाम पर मन बहला कर योगी कहलाने का मिथ्या गौरव पाता है ।

अगनि हीं जोग अगनि हीं भोग । अगनि हीं हरै चौंसठि रोग ।
जो इहि अगनि का जाणै भेव । सो आप ही करता आप ही देव ।। ।91। ।।

शरीर में स्थित दिव्य तेज, अग्नि ही योगसाधना, भोगास्वाद और आरोग्य का मूलाधार है । जिस प्राणी के शरीर में प्राणवायु से निरन्तर शुद्ध अग्नि प्रदीप्त है, वही साधना, भजन और युक्ताहार-विहार में जीवन का सदुपयोग कर सकता है । देहस्थ अग्निमण्डल शरीर में त्रिकोण के आकार में विद्यमान है, मध्यस्थान गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर स्थित है, यहीं से सारे शरीर में अग्नि व्याप्त रहती है । यह अग्नि पाँच प्रकार की है, मूल अग्नि से शरीर नीरोग होता है, रक्त पित्त के विकार का शमन होता है, भुजंगम अग्नि से प्राण की स्थिरता रहती है, रूद्र अग्नि से बहिर्मुख वृत्तियाँ नष्ट होती हैं और साधन में मन लगता है । कालाग्नि से त्रिभुवन का ज्ञान होता है और ब्रह्माग्नि से जीवात्मा सहस्रार में परमात्मा का साक्षात्कार करता है । जो योगाभ्यासी इस अग्नि-साधना के महत्व और रहस्य का व्यावहारिक रूप समझ जाता है, वह सिद्धदेह प्राप्त कर जीवन्मुक्तावस्था से अमरकाय होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसमें सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार की दिव्य शक्ति आ जाती है ।

जीवता जोगी अमीरस पीवता अहंनिस अषंडित धारं ।
दिष्टि मधे अदिष्टि बिचारिबा ऐसा अगम अपारं ।। ।92 ।।

जीवन्मुक्त योगी जीते-जी सिद्ध देह, अमरकायत्व की प्राप्ति कर परमात्मस्वरूप में, अलख निरंजन, अगम अपार परमतत्व में समाहित अथवा निरन्तर समाधिस्थ रहता है । वह सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र (चन्द्र स्थान) से स्रवित अमृत रस का निरन्तर पान करता है । वह दृश्य में अदृश्य अलख निरंजन की परिव्याप्ति का बोध पाता है । बाह्य सृष्टि ही हमारे शरीर में, पिण्ड में भी विद्यमान है, इस बाह्य सृष्टि के नियामक परब्रह्म शाश्वत चैतन्य, अगम, अपार, अलख निरंजन का वह

चिन्तन, विचार करता है । पाताल की गंगा-कुण्डलिनी शक्तिरूपी परमज्योति को ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर योगी चन्द्रामृत का निरन्तर पान करते हुए जीवन्मुक्त अथवा अमर हो जाता है ।

जीवता बिछायबा मूंवां वोढ़िबा कबहु न होयबा रोगी ।
बरसवै दिन काया पलटिबा यूं कोई कोई बिरला जोगी ।। 193 ।।

आसन से जड़ शरीर को निर्विकार और सुदृढ़ तथा निर्दोष करना चाहिये और प्राण को स्थित रखकर संयमित अथवा शरीर में निरुद्ध कर निरन्तर जीवन-शक्ति का संवर्धन करना चाहिये । कोई-कोई बिरला योगी शरीर (मूवां-जड़) को आसनों के अभ्यास से पुष्ट करता है तथा प्राण (जीवता) का संयम अथवा संरोध करता है, इस तरह साधना करते रहने से शरीर क्षीण नहीं होता, प्राण पर मृत्यु का भय नहीं रहता, प्रत्येक वर्ष पूरा होते रहने पर यह साधना कायाकल्प की भूमिका निभाती है । काया संशोधित और प्राणवती बनी रहती है ।

सूरजे षायबा चंद्र सोयबा उभै न पीबा पांणी ।
जीवता कै तलि मूंवा बिछायबा यूं बोल्या गोरष बांणी ।। 194 ।।

सूर्य (पिंगला) नाड़ी से दायाँ स्वर चलने पर ही हमें भोजन करना चाहिये, इसी तरह चन्द्र (इड़ा) नाड़ी से बायां स्वर चलने पर ही हमें शयन करना चाहिये, दोनों स्वरों के चलने पर पानी नहीं पीना चाहिये । आत्मा (जीवता) के नीचे शरीर (मूंवा) को बिछाना चाहिये, इसका आशय यह है कि आत्मचिन्तन के लिये, योग-साधना के लिये शरीर आधार है, उसके नीरोग रहने पर ही परमात्म चिन्तन होता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है ।

जहां गोरष तहां ग्यांन गरीबी दुंद बाद नहीं कोई ।
निसप्रेही निरदावै षेलै गोरष कहीयै सोई ।। 195 ।।

जहाँ महायोगी गोरक्षनाथ हैं वहाँ न किसी प्रकार का दैन्य है, न द्वन्द्व । वहाँ पुस्तकीय ज्ञान को लेकर चलने वाला पण्डितों का वाद-प्रतिवाद भी नहीं है । नाथ योगी निस्पृह भाव से बिना किसी

शर्त के ज्ञान-साधना में लीन रहता है । पूर्ण ज्ञान या आत्मबोध ही गुरू गोरक्षनाथ के स्वरूप का प्रतिमान है ।

गिगनि मंडल मैं गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छांछि छांणि पंडिता पीवी सिधां माषण षाया ।। ।96 ।।

सिद्धों ने हठयोग की साधना में स्थित होकर (मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर, षट्चक्रों के भेदन और नाद-बिन्दु की साधना में सुदृढ़ रह कर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करते हुए परब्रह्म परमात्मा, परम शिव, अलख निरंजन की) परमानुभूति प्राप्ति की, यह परमानुभूति ही गाय द्वारा वत्सामृत पय अथवा दूध देना है, जिस तरह दूध का सारतत्व खीचकर दही जमाया जाता है और उससे छांछ-माखन, दोनों प्राप्त होते हैं, ठीक इसी तरह सिद्धों ने परमानुभूति प्राप्त कर उसका सारतत्व (दूध) निगमागम, उपनिषदादि में भर दिया । शब्द ज्ञान में उलझने वाले पंडित केवल छांछ पीते हैं । परमानुभूति रूपी सारतत्व (माखन) तो सिद्ध योगी ही प्राप्त करते हैं ।

गूदड़ी जुग च्यारि तैं आई । गूदड़ी सिध साधिकां चलाई ।
गूदड़ी मैं अतीत का बासा । भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का दासा ।। ।97 ।।

योगी योगसाधना में पूर्ण वैराग्य और पूर्ण अपरिग्रह (लोकसंग्रह में निःस्पृहता) और दैन्य का प्रतीक गूदड़ी को धारण करता है, यह परंपरा युग-युग (चारों युगों से) से चली आ रही है । गुदड़ी में ही, मूर्तिमान् वैराग्य अथवा अकिंचनता तथा दैन्य से ही परमात्मा की प्राप्ति एवं अनुभूति होती है। गुदड़ी में ही अतीत (अलख निरंजन परब्रह्म शिव) की अभिव्यक्ति तथा परिव्याप्ति है । योगीन्द्र मत्स्येन्द्र के सेवक (परमयोगिगुरू) गोरखनाथ का यह अनुभव है ।

असाध कंद्रप बिरला साधंत कोई ।
सुर नर गण गंध्रप ब्याप्या बालि सुग्रीव भाई ।
ब्रह्मा देवता कंद्रप ब्याप्या । यंद्र सहंस्र भग पाई ।। ।98 ।।

अठ्यासी सहंस्र रषीसर कंद्रप ब्याप्या असाधि विष्न की माया ।
यंन कंद्रप ईस्वर महादेव नाटारंम नचाया ।। 199 ।।
विष्न दस अवतार थाप्या असाधि कंद्रप जतीगोरषनाथ साध्या ।
जनि नीझर झरंता राष्या ।। 200 ।।

कामदेव पर विजय पाना बड़ा कठिन है, कोई बिरला महायोगी ही इसको अपने वश में कर पाता है । देवता इसके आकर्षण से नहीं बच सके, मनुष्य तो इसके प्रभावशाली आकर्षण से बच ही नहीं सकता । यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सभी इस कामदेव के द्वारा प्रशासित हैं । काम के वशीभूत बालि और सुग्रीव भी थे । ब्रह्मा भी पुष्पधनुष के टंकार से सदाचार की मर्यादा को तिलांजलि देकर अपनी अंगजा सरस्वती का ही कामोपभोग के लिये वरण करने में अपने मन को चंचल होने से न बचा सके । स्वर्ग-वैभव के विलासी शचीपति इन्द्र तक ने महर्षि गौतम की तपस्विनी गृहिणी अहल्या के सौन्दर्य का कामप्रेरित होकर उपभोग किया और महर्षि के शाप से सहस्रभगयुक्त शरीर वाले हो गये । इतना ही नहीं, असंख्य तपस्वी ऋषि मुनि भी कामोपभोग की परायणता से अपने आपको विरक्त न कर सके । उन पर विष्णु, (श्रीराम) की मोहिनी, सौन्दर्य-माया का रंग चढ़ गया । महादेव ने इस कामदेव को जला कर अनंग कर दिया था पर नटराज भगवान् शिव ने (रति की प्रार्थना पर) पार्वती का पाणिग्रहण कर, दाम्पत्यजीवन के नाटक का समारम्भ कर कामदेव का, अनंग का, वरण किया । विष्णु ने दस अवतार लिये और प्रत्येक अवतार में उन्होंने अपनी लीलाशक्ति, लक्ष्मी, सीता, राधा, पद्मावती, पृथ्वी आदि) का वरण किया । असाध्य काम पर विजय करने में योगी गोरखनाथ (मैं) ने कठिन योगसाधना का वरण किया, सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत-प्रवाह को नाभिस्थिति सूर्य के तेज से शोषित होने से बचा कर और बिन्दु को ऊर्ध्वगामी कर पूर्ण ब्रह्मचर्य में स्थित होकर काम के विकार से शरीर को अप्रभावित रखकर योगसिद्धि प्राप्त की ।

आसति छै हो षंडिता नासति नाहीं अनभै होय परतीति निरंतरि माहीं ।
ग्यान षोजि अमे बिग्यांन पाया सतिसति भाषंत सिध सति नाथ राया ।: 201 ।।

अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा है (आसति-अस्ति) । हे विद्वानों। परमार्थतत्व नहीं है, (नास्ति-नासति) ऐसा कहना सम्भव नहीं है, उसका

कही भी कभी अभाव नही है, अनुभव से यह विश्वास अटल हो गया है कि हमारे भीतर वह निरन्तर विद्यमान है, मैंने ज्ञान-दृष्टि से उस परमतत्व की खोज कर महाज्ञान, विज्ञान की प्राप्ति कर ली । यह सत्य वचन है, सत्य वचन है, यह सिद्धों की वाणी है । सिद्ध सत्यनाथ का भी ऐसा ही अनुभव है, अथवा बड़े बड़े सिद्धेश्वरों ने भी अपने अनुभव में परमात्मतत्वरूपी विज्ञान पाया ।

माता हमारी मनसा बोलिये पिता बोलिये निरंजन निराकरं ।
गुरू हमारे अतीत बोलिये जिनि किया पिंड का उधारं ।। 202 ।।

हमारी उत्पत्ति अनादि है, इसकी उत्पत्ति (मनसा) अथवा (माया-प्रधान-प्रकृति) से ही कही जानी चाहिये, निरंजन निराकार शून्यपद, पिता से ही इसकी स्थिति है अथवा यह परमात्मा का ही स्वरूप है । आत्म विवेक ही हमारा गुरू है । इस आत्मविवेकरूपी गुरू के ज्ञान-प्रकाश में ही हम शरीर और आत्मा का भेद समझ सके और उसी समझ के फलस्वरूप (हमने हठयोग की साधना पर) पिण्ड में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता का अनुभव कर शरीर रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबां जोगपंथ न करिबा हेला ।
फिरिफिरि मनिषा जनम न पायबा करि लै सिध पुरिस सूं मेला ।। 203 ।।

'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' - इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये, इस सीमित बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्गुरू, परमात्मज्ञानी की खोज करनी चाहिये । यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है इसलिये इस पुण्यमार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नही करनी चाहिये । मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य का फल है, यह बार-बार नही मिलता है । मनुष्य - जन्म पाकर योग की साधना कर लेनी चाहिये, योग की सिद्धि सिद्ध पुरूष, परमार्थज्ञानी के सत्संग से ही सुलभ है ।

थंभ बिहूँणी गगन रचीलै तेल बिहूँणी बाती ।
गुरू गोरष के बचन पतिआया तब धौंस नही तहाँ राती ।। 204 ।।

(शाम्भवी मुद्रा की साधना से यह तथ्य ज्ञात होता है कि) व्यापक शून्य, निरालम्ब आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में परमात्मा का पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है। गोरखनाथ ने गुरुज्ञान के प्रकाश में गुरूपद में स्थित होकर यह जान लिया, और उनके वचन में यह विश्वास हो गया कि सहज उन्मनी समाधि, मन की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था में, निरालम्ब आकाश की अमनष्क समाधि में बिना तेल और बत्ती, (साधन) के ही ब्रह्म निरन्तर प्रकाशित रहता है। न उस शून्य में भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्रूपी द्वन्द्वों से परे सहज-शून्य निरालम्ब गगन में अक्षय परमात्म प्रकाश की ही सत्ता है। निर्विकल्प समाधि में स्वरूपस्थिति का ही बोध है और इस बोध में विश्वास करना ही गोरखनाथ ऐसे गुरू योगसिद्ध के वचन में (गुरू) ज्ञान-प्रकाश में स्थित रहना है।

षंडित ग्यानी षरतर बोलै सांति का सबद उछेदै।
काया के बलि करड़ा बोलै भीतरि तत्त न भेदै ।। 205 ।।

पाण्डित्य तो आत्मज्ञान से होता है; पण्डित-(विद्वान्) वह है, जो आत्मज्ञान के बल पर भौतिक शरीर को अपना स्वरूप नहीं मानता बल्कि उसमें स्थित (जीव) आत्मा को परमात्मा में अभिन्न अनुभव करता है। जो अधूरा ज्ञानवाला है, जिसने शरीर को ही अपना रूप समझ लिया है, वह व्यर्थ तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर रूखे और निरर्थक कड़े, असह्य शब्दों का वाग्जाल प्रस्तुत कर अपने अज्ञान को छिपाता है, वह आन्तरिक चैतन्यतत्व का भेदन नहीं कर पाता।

महमां धरि महमां कूँ मेटै सति का सबद बिचारी।
नांन्हां होइ जिनि सतगुर षोज्या तिन सिर की पोट उतारी ।। 206 ।।

वास्तव में महिमावान् अथवा यशस्वी तो वह है, जो प्रभुता और महनीयता से यशस्वी अथवा सम्पन्न होते हुए भी अपने आपको महिमावान् नहीं समझता है। ऐसा प्राणी ही सद्ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी होता है, वह अत्यन्त विनम्र (नन्हा) और लघु होकर महान् सद्गुरूदेव के चरणाश्रय से सद्ज्ञान प्राप्त कर सिर की गठरी उतार फेंकता है, साक्षात् मुक्ति का वरण कर निर्द्वन्द्व और स्वस्थ हो जाता है।

एक कांमध्येनि बारि सिंधि कै गगन सिदर लै बांधी ।
लागि जीव ऊपरि बारि सिंधे की ल्यौ निरंजन सू सांधी ।। 207 ।।

सृष्टि, स्थिति और संहार की मूलशक्ति महामाया कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरूष की साक्षात् कामधेनु है, जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक अनुभूति का निरन्तर रसास्वादन करता रहता है, इस महाशक्ति को उसने सुप्त अवस्था से जगाकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए परमशिव के द्वार, (ब्रह्मरन्ध्र) शून्य गगन में पहुँच कर प्रतिष्ठित कर दिया । जीवात्मा आसन, प्राणायाम, नाड़ी-मलशोधन, षट्कर्म आदि के द्वारा उत्तरोत्तर साधना में सफलता प्राप्त करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है, उसकी चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं और वह कुण्डलिनी के शाश्वत प्रकाश में ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

आफू षाय भांगि भसकावै । ता मैं अकलि कहाँ तै आवै ।
चढ़तां पित्त ऊतरतां बाई । तातैं गोरष भांगि न षाई ।। 208 ।।

जो मनुष्य अफीम और भाँग का सेवन करता है, उसकी बुद्धि, सोचने-समझने और सदसत् के विवेक की शक्ति नष्ट हो जाती है । भाँग के सेवन से पित्त का प्रकोप बढ़ता है, पित्त चढ़ता है और वायु की गति नीचे की ओर होने से प्राण-अपान का सामरस्य नष्ट हो जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह पाता है । यही कारण है कि गोरखनाथ ने भाँग का सेवन नहीं किया अथवा गोरखनाथ का वचन है कि भाँग का सेवन नहीं करना चाहिए ।

म्यंदर छाड़ै कुटी बंधावै । त्यागै माया और मंगावै ।
सुन्दरि छाड़ै नकटी बासै । ताते गोरष अलगै न्हासै ।। 209 ।।

साधक को निष्प्रपंच होना चाहिए । यदि वह अपने प्रति ममता का त्याग कर एकान्त में जाकर कुटी बनाकर गृहस्थ की तरह रहते हुए साधना करता है तो यह तो वैराग्य नहीं है । इसी तरह यदि वह माया का परित्याग कर रूपये-पैसे आदि के संग्रह के प्रति निष्काम होकर साधना-काल में अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करता है कि वे द्रव्य आदि

का संग्रह कर उसे अर्पित करें तो यह साधना के नाम पर ढोंग है । यदि वह कामिनी के बन्धन से अपने आप को मुक्त करके शिष्य-शिष्याओं को अपने आश्रम में निवास करने की अनुमति देकर अपनी इन्द्रियजन्य कामनाओं की पूर्ति करता है तो वह वास्तविक त्यागी नहीं है । गोरखनाथ के लिये तो एकान्त साधना में प्रवृत होकर सम्पूर्ण त्याग और वैराग्य का वरण कनक-कामिनी के बन्धन से परे होकर योगपथ पर अकेला चलते रहना ही श्रेयस्कर है ।

त्रिया न सांति, ब र रोगी, रसायणी अर जाचि षाय ।
बूढ़ा न जोगी सूरा न पाठि पाछैं घाव यतनां न मानैं श्रीगोरषराय ।। 210 ।।

स्त्री, (कामस्वरूपा रमणी) से भोगासक्ति बढ़ती रहती है, वह कामिनी है, चंचला है, मनुष्य अपनी वृत्तियों को उसके सहवास में कभी भी निरूद्ध करने में सफल नहीं हो सकता, उसे शान्ति, की उपलब्धि नहीं हो सकती है । जो वैद्य है, जिसे शरीर के आरोग्य का ज्ञान है, वह कभी असंयमित जीवन-यापन के द्वारा रोगी नहीं हो सकता । यह बात सम्भव ही नहीं है कि रसायनी (रसायन के द्वारा ताम्बे-लोहे को स्वर्ण में रूपान्तरित करने वाला) कभी भिक्षा माँगकर शरीर का पोषण करे । योगी सिद्धदेह प्राप्त कर सदा नीरोग रहता है । कभी उसका शरीर जीर्ण ही नहीं होता, वह बूढ़ा नहीं हो सकता है । इसी तरह जो शूर है, वह शत्रु के सामने रहता है, कभी पीठ उसकी ओर (पीछे) कर उस पर घाव नहीं होने देता है । गोरखनाथ यह मान नहीं सकते कि स्त्री के साथ रहकर कोई शान्ति का जीवन बिताये, वैद्य रोगी रहे, रसायनी भिक्षा माँगकर भूख की निवृत्ति करे, योगी बूढ़ा हो तथा वीर अपनी पीठ पर शत्रु का प्रहार झेले ।

हंड ब्रह्मण्ड चहोड़ीया मानूं बेस्या अंन ।
कोई कोई कोरड़ रह गया यूं भाषै नाथ रतंन ।। 21। ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) हाजी बाबा रतननाथजी कहते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड माया से चारों ओर (चहोड़ीया) प्रभावित है । माया नर्तकी के समान है, वह वेश्या है । जिस तरह वेश्या के अन्न पर पलनेवाला प्राणी बिना घर-बार के होता है, न तो उसके माता-पिता का पता

रहता है, न उसके वर्ण-गोत्र का ही परिचय मिलता है, उसी तरह माया, असत् वस्तु की चमक और मोहिनी शक्ति से प्रभावित प्राणी परमात्मा के सान्निध्य और साक्षात्कार से दूर होकर जन्म-मरण और सुख-दुःख तथा विषय-भोग के द्वन्द्व में भ्रमित रहता है । माया के प्रभाव से कोई बिरला ही बच पाता है, वह सभी का स्पर्श कर सद्वस्तु से विमुख बना देती है ।

निंद्रा सुपनैं बिंद कूं हरै । पंथ चलंतां आतमां मरै ।
बैठां षटपट ऊभां उपाधि । गोरख कहै पूता सहज समाधि ।। 2।2 ।।

योगसाधना में निद्रा, भ्रमण, व्यर्थ बैठे और खड़े रहना, सब-के-सब बाधक हैं । गोरखनाथजी का कथन है कि हे शिष्य, वत्स, सहज समाधि में ही स्थित रहना श्रेयस्कर है । निद्रा में स्वप्न-दोष के द्वारा वीर्यपात होने का भय बना रहता है, ब्रह्मचर्य खण्डित होता है । इसी तरह, व्यर्थ भ्रमण करते रहने से भी योगी आत्मस्थ नहीं हो पाता । आसन लगाकर बैठने से ही योग-साधना की सिद्धि नहीं हो जाती, न खड़े रहकर तपस्या आदि करने से ही कार्यसिद्धि हो सकती है । उत्तम मार्ग तो यह है कि साधक स्वरूप में स्थित होकर आत्मचिन्तन करते हुए कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाय । यही सहज समाधि है, जो स्वानुभूति की अनायास देन है ।

सूकै कंठ अरू भूष संतापै । देह बिसर अर निंद्रा ब्यापै ।
बुधि बिन बकै बिकल होय जाय । तातैं गोरष भांगि न षाय ।। 2।3 ।।

भाँग का सेवन करने से शरीर के स्नायुओं में शुष्कता आती है, गला सूखने लगता है और बड़े जोर की भूख लगती है, अधिक भोजन कर लेने से पाचन-शक्ति का ह्रास होता है, देह में जो चेतना रहती है, वह क्षीण होने लगती है, उसमें संज्ञा-शून्यता अथवा जड़ता आ जाती है और भाँग खाने वाले प्राणी को निद्रा के सिवा कुछ भी अच्छा नहीं लगता है, इस तरह उसकी बुद्धि भी जड़ बन जाती है, वह व्यर्थ बकवास करता है । यही कारण है कि गोरखनाथ भाँग का सेवन नहीं करते ।

रूसता रूठा गोला-रोगी । भोला भछिक भूषा भोगी ।
गोरष कहै सरबटा जोगी । यतनां मैं नही निपजै जोगी ।। 2।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि योगी क्रोध नहीं करता, चिड़चिड़ा (रूठा) नहीं होता, वह वायु (गोला) का रोगी नहीं होता । योगी बुद्धिमान् होता है, अधिक खानेवाला (भछिक) नहीं होता और न भूखा ही रहता है । वह भोगों में आसक्त नहीं रहता, केवल जटा रख कर (बढ़े बालवाला, सरबटा) योगी होने का स्वांग नहीं बनाता है । योगी तो शान्त, स्वस्थ, आत्मचिन्तन में तत्पर, अल्पाहारी और कृत्रिम वेश-भूषा तथा आडम्बरों से परे होता है । इसके विपरीत आचरण में योगी पैदा (निपजै) ही नहीं हो सकता ।

अवधू अहार कूं तोड़िबा पवन कूं मोड़िबा ज्यौ कबहु न होयबा रोगी ।
छठे छमासि काया पलटंत नाग बंग बनासपती जोगी ।। 215 ।।

हे अवधूत ! अल्पाहार के सेवन और प्राणायाम के अभ्यास (निरोध) से योगी का शरीर नीरोग रहता है और वह योग की साधना में तत्पर रहता है । शरीर को निर्दोष, शुद्ध और स्वस्थ रखने के लिये उसे साल में कम-से-कम दो बार कायाकल्प करना चाहिए । यह कायाकल्प रासायनिक भस्म, सीसे (नाग) और टिन (वंग) के भस्म की आयुर्वेद में वर्णित विधि द्वारा सम्पन्न होता है तथा वनस्पति (आम्र आदि के रस) के प्रयोग से भी किया जाता है ।

सूरां का पंथ हार्‌यां का बिसराम सुरता लेहु बिचारी ।
अपंरचै पिंड भिष्या षात है अंति कालि होयगी भारी ।। 216 ।।

योग की साधना यही है कि इसमें बिना पंथ के ही चलना होता है, (पंथबिन चलिबा-सबदी 22) चलना-ही-चलना, निरन्तर परम शिव के साक्षात्कार का अनुभव ही योग का परम प्रतिपाद्य है, यह मार्ग वीरों का है, जो इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, इस योग-पंथ पर हार मान कर ठहरने वाला, विश्राम करने वाला, माया, मोह - इन्द्रियों के भोगास्वाद में अटकने वाला कायर है, पराजित अथवा विवश है ! हे श्रोताओं ! जिज्ञासुओं !! इस बात का अच्छी तरह विचार कर लो, इसको समझ लो । जो साधक पिंड में व्याप्त, परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लेता है और भिक्षा

माँग-माँग कर शरीर के ही पोषण में लगा रहता है, उसका पिंडपात होना, मृत्यु होना निश्चित, है, उसे कर्मविपाक का भोग करना ही पड़ेगा । अन्ततः उसके लिए कर्मफल का भार भारी पड़ेगा ।

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड नषसष पवनां षेलै सरबंग ।
उलटि चन्द्र राह कूं ग्रहै । सिध संकेत जती गोरष कहै ।। 217 ।।

योगी गोरखनाथ का संकेत है कि योगसिद्ध पुरूष सहस्रार में स्थित चन्द्र के मूलाधार में स्थित सूर्य द्वारा शोषित होने वाले अमृत को प्रत्याहरित कर लेता है । योगसिद्ध प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी कर सुषुम्ना मार्ग के द्वारा उसे षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देता है और इस तरह उसके अंग-प्रत्यंग समस्त (नखशिखपर्यन्त) शरीर में प्राणवायु स्थिर हो जाती है, प्रत्येक नाड़ी और स्नायु में प्राण शक्ति भर उठती है, ऐसा होने पर योगी के सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणचक्र में स्थित चन्द्रमा से द्रवित अमृत मूलाधार में स्थित सूर्य का ग्रास होने से बच जाता है, यह प्रत्याहरित हो जाता है, इस तरह चन्द्रमा सूर्य का शोषणकारी प्रभाव समाप्त कर देता है । यही चन्द्रमा द्वारा सूर्य को अपना ग्रास बना लेना है ।

धरे अधर बिचारीयां धरी याही मैं सोय ।
धरे अधर परचा हूवा तब दुतीया नाही कोय ।। 218 ।।

जीवात्मा के पिंड (धरे - धरा, पांचभौतिक शरीर) में ही ब्रह्म (अधर - पंचभूत में परमात्मा) व्याप्त है । पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलाधार ब्रह्म है, जो दोनों में व्याप्त है । योग की साधना से हठयोग के द्वारा शरीर के अन्तर अवयवों के सूक्ष्म विश्लेषण से स्वरूपानुभूति के प्रकाश में पिंड में ब्रह्म की विद्यमानता का रहस्य ज्ञात होने पर सभी तरह का द्वैत समाप्त हो जाता है ।

जिभ्या इन्द्री एकैं नाल । जो राषैं सो बंचै काल ।
पंडित ग्यांनी न करसि गरब । जिभ्या जीती जिन जीत्या सरब ।। 219 ।।

गोरष कहै हमारा षरतर पंथ । जिभ्या इन्द्री दीजै बन्ध ।
जोग जुगति मैं रहै समाय । ता जोगी कूं काल न षाय ।। 220 ।।

जो साधक अपनी जीभ (वाणी) को वश में रखकर एकमात्र परमेश्वर परमशिव (एकै नाल) के आश्रित रखता है, वह काल का भी वंचन (मृत्यु-विजय) कर लेता है । हे पण्डितों । ज्ञानियों । शास्त्रज्ञान को जीवन में बिना आचरित किये वाद-विवाद में ही कालक्षेप करने वालो । अपनी जानकारी का गर्व मत करो, यह तो व्यर्थ प्रलाप है और जिह्वा का दुरूपयोग है । वास्तव में जिसने जिह्वा को स्वाद के पीछे भटकने न देकर मिताहार से शरीर का पोषण कर लिया और व्यर्थ शास्त्रज्ञान का ढिढोरा न पीटकर प्रभु, परमेश्वर के चिन्तन में लगा दिया - उसने समस्त साधन सम्बन्धी विघ्नों पर विजय पा ली । हमारा (हठ) योग-मार्ग सूक्ष्म है, अनुभवगम्य और सर्वग्राह्य तथा निर्मल है, निष्पक्ष है और इस मार्ग का सबसे उत्कृष्ट साधन यह है कि साधक स्वादवृत्ति और वाणी को संयमित रखकर योग की युक्ति (साधना) में लग जाय, ऐसे योग-साधक योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता । गोरखनाथ का वचन है कि हमारा योगमार्ग अनुभूति का मार्ग है, (लेषै लिषी न कागद माड़ी सो पत्री हम बाचीः सबदी 264) हमारे योगमार्ग पर चलने में मृत्यु का भय मिट जाता है ।

बरष एक देखिलै हो पंडिता तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई ।
गोरखनाथ बोलै भ्रम न भूलिबा रे भाई ।। 221 ।।

हे ज्ञानियो (पंडिता), यह जगत् (वरष = वृक्ष) परमात्मा में अधिष्ठित है, उत्पन्न है, भीतर-बाहर एक ही परब्रह्म परमात्मतत्व की परिव्याप्ति का ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा में चित्त की वृत्ति (सुरति) का लय कर देना चाहिए, अज्ञान में भटकने से लाभ नहीं होगा, भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । इस सबदी में शब्द सुरति योग का आख्यान किया गया है । नाथ-सिद्धों की इस साधना का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है । मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होने पर शब्द का शून्य में लय ही शब्द में सुरति का समा जाना है । गोरखनाथ सावधान करते हैं कि हे ज्ञानियो । अविद्यावश भूल में नहीं पड़ना चाहिए, स्वरूप की विस्मृति नहीं करनी चाहिए, सूक्ष्म नादस्वरूप

परब्रह्म अलख निरंजन परमशिव में सुरति, चित्तवृत्ति की लयावस्था से ही स्वरूपबोध होता है ।

अबूझि बूझिलै हो पंडिता अकथ कथिलै कहांणी ।
सीस नवांवत सतगुर मिलीया जागत रैंण बिंहाणी ।। 222 ।।

हे विद्वानों । अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा ज्ञान-विज्ञान से परे परमतत्व है, वह अज्ञेय है पर अन्तर्चक्षु ज्ञाननेत्र से उनके स्वरूप का साक्षात्कार होता है, यह साक्षात्कार कर लेना चाहिए । वह शब्द से परे हैं (वेद की ऋचायें नेति-नेति के द्वारा उसके स्वरूप-चिन्तन में विवशता प्रकट करती हैं) हे ज्ञानियो, उसका रूप यद्यपि वाणी का विषय नहीं है तथापि अनुभव करने वाले अपनी अनुभूति का वर्णन करते ही हैं, इसलिये उसका वर्णन कर लेना गुरु के प्रति श्रद्धावनत होकर परमतत्व का बोध किया जा सकता है । इसलिए गुरु के चरण पर नतमस्तक होकर श्रद्धापूर्वक गुरुज्ञान की प्राप्ति, गुरु के उपदेश की प्राप्ति से परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेना चाहिये । गुरुज्ञान मे ही संसाररूपी रात जागते-जागते कट जायेगी, अविद्या अन्धकार का नाश हो जायेगा और परमात्म ज्ञान का प्रभात प्रकाशित हो उठेगा ।

विद्या पाढ़ै र कहावै ग्यांनी । बिनां अविद्या कहै अग्यांनी ।
परम तंत का बोध न मरमी । गोरष कहै ते महा अधरमी ।। 223 ।।

जबतक परमतत्व परमात्मा का तत्वबोध-स्वरूपानुभव नहीं होता, तबतक ज्ञान-अज्ञान, दोनों ही समान हैं । यद्यपि विद्या की प्राप्ति आवश्यक है, तथापि परमात्म ज्ञानशून्य विद्या पढ़कर ज्ञानी कहलाने से ही कोई ज्ञानी नही हो जाता । इसी तरह जिसने विद्या नही पढ़ी, वह यद्यपि लोकदृष्टि में अज्ञानी है पर ऐसा भी सम्भव है कि बिना विद्या पढ़े ही वह परमात्मज्ञानी हो जाय, वस्तुतः तत्वबोध के लिए पुस्तकीय ज्ञान के होने न होने का कोई अर्थ नही है । गोरखनाथ का वचन है कि जो परमात्मा का मर्मज्ञ, नहीं वह महा अधर्मी है ।

पंथ चले चलि पवनां तूटै तन छीजै तत जाई ।
काया तैं कछू अगम बतावै ताकी मूंडूं भाई ।। 224 ।।

पिण्ड में ही समस्त ब्रह्माण्ड तत्वतः समाविष्ट है, जो कुछ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, सरिता, समुद्र आदि ब्रह्माण्ड में हैं, वे ही हमारे पिण्ड में समान रूप से अधिष्ठित हैं । योगी को चाहिये कि वह पिण्ड में ही ब्रह्माण्डनायक, अलख निरंजन का योगयुक्ति से साक्षात्कार कर ले, इधर-उधर जिज्ञासावृत्ति से भ्रमण करने से इन्द्रियाँ चंचल हो उठती हैं, शरीर में प्राण की शक्ति क्षीण होती हैं, शरीर निस्तेज और दुर्बल हो जाता है और आत्मज्ञान अथवा परमात्मबोध की प्राप्ति में बाधा पड़ती है । शरीर परमात्मा के स्वरूपानुभव का माध्यम है । वह बाहर-भीतर सर्वत्र है । यह कोई सिद्ध नही कर सकता कि परमात्मा का स्वरूपबोध शरीर से परे अथवा अगम है । मैं ऐसा सिद्ध करने वाले शिष्यत्व ग्रहण कर सकता हूँ पर यह असम्भव है, ऐसा सिद्ध करने वाला अज्ञान, अविद्या का ही परिचय देगा । यह स्वतः सिद्ध है कि शरीर में हम परब्रह्म परमात्मा अलख निरंजन का स्वरूपानुभव करते हैं ।

महमंद महमंद न करि काजी महमंद का बौहोत बिचारं ।
महमंद साथि पैंकंबर सीधा ये लष असी हजारं ।। 225-26 ।।

हे काजी, न्याय प्रस्तुत करते समय मुहम्मद साहब के पवित्र शब्दों का मर्म समझे बिना बार-बार उनके नाम का उल्लेख मत करो, मुहम्मद साहब ने निष्पक्ष और निर्मल अमृतवाणी में कुरान में जीवन तत्व, मर्म अथवा सिद्धान्त निरूपित किया है । उनके वचन का मर्म समझने के लिये एक लाख अस्सी हजार पैगम्बरों ने, असंख्य सिद्ध महात्माओं ने कठोर साधना की और आत्मचिन्तन किया । मुहम्मद साहब के विचारों का रहस्य तो परमात्मा के अनुग्रह से ही प्रकट हो सकता है ।

जीव सींव संगे बासा । बधि न षाइबा रूध्र मासा ।
हंस घात न करबा गोतं । कथंत गोरष निहारि पोतं ।। 227 ।।

जीवात्मा ओर परमात्मा में भेद नही है, वे एक साथ निवास करते हैं, वे दो नहीं हैं, परमात्मा प्रत्येक जीवधारी के शरीर में भीतर-बाहर सर्वत्र

परिव्याप्त है, ऐसी स्थिति में किसी भी जीवकी हत्या कर उसके शरीर और रक्त-मांस को अपना आधार नहीं बनाना चाहिए । जीव-हिंसा महान् पाप है, प्राण का घात करना, किसी को मारना अपकर्म है । जिस तरह हम अपने पुत्र आदि का प्राणघात नहीं करते, उसी तरह हमें अन्य जीवधारियों को भी नहीं मारना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि अपने पुत्र आदि को देखकर इस तरह विवेक से काम लेना चाहिए ।

जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी । मारिलै पंच भू म्रगला ।
चरै थारी बुधि बाड़ी । जोग का मूल है दयाद्रण ।।
कथंत गोरष मुकतिलै मानवा मारिलै रे मन द्रोही ।
जाकै बप बरण मास नहीं लोही ।। 228 ।।

हे पिण्डधारी । जीव-हत्या क्यों करते हो ? वह तुम्हारे ही समान शरीरधारी हैं । तुम्हें मृगया का शौक हो, तो अपने मन को मारो । यह पांच भौतिक मृग है, यह मृग बुद्धिरूपी उपवन को सुषमा और हरीतिमा को नष्ट कर देता है, योग-साधना का आधार तो दया है, शुभ कर्म है, परोपकार है । यदि बुद्धि परोपकार से शून्य है तो ऐसा इसलिये है कि चंचल मृगरूपी मन ने इसकी विशिष्टता अथवा शक्ति का नाश कर दिया है । वास्तव में मुक्ति - प्राप्ति तो मन को अमन, अस्तित्वहीन करने से ही सम्भव है, इस मन को मारने में हिंसारूपी अधर्माचरण का पाप भी नहीं लगेगा, क्योंकि मन रक्त और मांस का शरीरवाला है ही नही । गोरखनाथ का यह अनुभवपूर्ण कथन है कि मन मारने से पुण्य होता है, मनोनाश से स्वबोध अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

जिनि मन ग्रासे देव द्राण ।
सो मन मारिले गहि गुरू ग्यांन बांण ।। 229 ।।

मन को मारना (जीत लेना अपने वश में कर लेना) बहुत ही कठिन है (पर योगयुक्ति से यह वश में हो जाता है, मर जाता है अथवा उन्मन हो जाता है) मन (रूपी मृग) देवता और दानव, दोनों को अपने शासन में पराधीन रखता है, इसको अपने वश में करने अथवा मारने का उपाय है गुरू का उपदेश, उनके शब्दरूपी बाण को (अपने विवेकरूपी धनुष) से संधानित

करने पर मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, इसलिये गुरू के शब्द, उपदेश, ज्ञानरूपी बाण का आश्रय लेकर मन को मार डालना, नष्ट कर देना अथवा उन्मन या अमनस्क कर देना चाहिए ।

जोगी सो जो राषै जोग । जिभ्या यंद्री न करै भोग ।
अंजन छोड़ि निरंजन रहै । ताकू गोरष जोगी कहै ।। 230 ।।

योग अमूल्य रत्न है, योगी वह है, जो परमात्मा में, स्वरूप में सदा युक्त रहता है । यदि योगसाधक जिह्वा-इन्द्रिय की तृप्ति के लिये भोगास्वाद में आसक्त हो जाता है, आहार की विधि का उल्लंघन कर देता है, तो यह योग की साधना नहीं कर सकता, वह तो माया (अंजन) के वशीभूत होकर शरीर के पोषण और भौतिकता में तल्लीन हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि योगी तो वह है, जो माया के वशीभूत न होकर, अमायिक (निरंजन, परब्रह्म पद, परमशिव) स्वरूप में स्वस्थ रहता है ।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप । सुंनि निरंजन आपै आप ।
सुंनि कै परचै भया सथीर । निहचल जोगी गहर गंभीर ।। 231 ।।

अनाहत नाद-श्रवण की अन्तिम निष्पत्ति अवस्था तथा उन्मनी समाधि के परे की अवस्था ही शून्य है, कैवल्यपद है, यही योगसिद्ध पुरूष की स्वरूप में स्थिति का अधिष्ठान है । यही अलख निरंजन मायातीत परब्रह्म परमात्मा परमशिव की स्वाभिव्यक्ति है, इस शून्य समाधि में परिचय (आत्मस्वरूपज्ञान अथवा स्वरूप बोध) से ध्रुव, अटलपद, स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है । योगी अचंचलता अथवा सम्पूर्ण निरूद्धचित्तावस्था, उन्मनी समाधि में, गाम्भीर्य (गहर) में अथवा 'तद्धाम परमं मम' के अनुरूप परमपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तजौ कुलती मेटौ भंग । अह निसि राषौ ओजुद बंधि ।
सरब संजोग आवै हाथि । गुरू राषै निरबाण समाधि ।। 232 ।।

हे योगसाधक ! योगसाधना की परम-चरमसिद्धि कैवल्यपद की प्राप्ति है, कुलती, कुण्डलिनी की साधना, जागृति, षट्चक्रभेदन और प्राण के

स्थैर्य तथा नाद बिन्दु की साधना की सर्वथा अपेक्षा है, पर कुल, पृथ्वी-तत्व में प्रसुप्त अथवा लीन, मूलाधार चक्र में स्थित महाशक्ति (स्त्री) के सहस्रार में स्थित सकल शिव के सायुज्य से भी परे अलख निरंजन परमशिव विराजमान है, उसके स्वानुभवबोध में अवरोध (भंग) को मिटा देना चाहिए । अनवरत रात-दिन तैलधारावत् शरीर (ओजुद) को संयमित कर सहज शून्य समाधि में (अभंग पद में) कैवल्यानुभव करना चाहिए, इससे सम्पूर्ण योगसिद्धि की अनुभूति होगी और गुरू निस्सन्देह अनुग्रह करेंगे, वे रक्षा करेंगे । (इस सबदी में कुलती, कुलथी की दाल और भांग के सेवन के त्याग का भी संकेत है । कुलथी से वायु विकार और भांग से पित्त-विकार होता है ।)

अकुच कुचीया बिगसिया पोहा ।
सिधि परिजलि उठी लागिया धुवा ।।
कहै गोरषनाथ धुवा प्राण । ऐसे पिंड का परचा जाणै प्राण ।। 233 ।।

इन्द्रियजन्य विषयभोगों में चंचल (अकुंचित) मन प्रत्याहार के अभ्यास के द्वारा स्थिर (कुंचित) हो गया है और ऐसा होने पर जीवात्मा रूपी पुष्प (पोहा) प्रफुल्लित हो उठा है, खिल गया है, योगसाधना की शिक्षा में उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए पूर्ण रूप से योगानुभव में परब्रह्म अलख निरंजन शिव के साक्षात्कार में सावधान है । यही योगसिद्धि है, इस सिद्धिरूपी अग्नि का परिचायक प्राण (का संयम) है । जिस तरह धुवाँ देखकर यह निश्चित हो जाता है कि अग्नि विद्यमान है, इसी तरह प्राण के ऊपर उठने से सुषुम्ना के पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने से पता चल जाता है कि योगसाधक सिद्धि में स्थित है ।

अवधू यो मन जात है याही तै सब जांणि ।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि ।। 234 ।।

मन बड़ा ही चंचल है, इसका निग्रह बहुत ही कठिन है, क्षण-क्षण में अस्थिर होता रहता है । हे अवधूत ! इसका निग्रह करना आवश्यक है, क्योंकि समस्त सृष्टि उसके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री इसी मन के ही स्वरूप, अरूप और रूप हैं । सावधानी की बात यह है कि इसे पीठ की ओर (अ-पूठौ), पीछे जहाँ से इसकी चंचलता आरम्भ होती है, वापस ले जाना

चाहिए चंचल नहीं होने देना चाहिए, मकड़ी के तार की तरह इसे वापस लाना चाहिए, जिससे यह स्थिर हो जाय ।

जे आसा तो आपदा जे संसा तो सोग ।
गुर मुषि बिना न भाजसी ये दून्यों बड़ रोग ।। 235 ।।

आशा और संशय, ये दोनों-के-दोनों भयंकर रोग हैं । आपदा का कारण है, इससे मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्' इस सिद्धान्तवाक्य में विश्वास कर परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना ही निरापद है । इसी तरह संसार के असत् रूप को सत् मान लेना ही महान् संशय है । इस संशय से साधक के मन में विषाद होता है, शोक होता है, वह आनन्द-स्वरूप का विस्मरण कर देता है । गुरू के ज्ञानोपदेश से ही साधक के ज्ञान नेत्र खुलते हैं और संशय तथा आशा का नाश हो जाता है ।

इस ओजुदा मैं मारि लै गोता, कछु मगज भीतरि ष्याल रै ।
पंच कटार है भीतरि निमस करि बेहाल रै ।। 236 ।।

(हठ) योग की साधना से अपने पिण्ड में परिव्याप्त परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए, जो ब्रह्माण्ड हमें शरीर के बाहर स्थित दीख पड़ता है, वही तत्वतः हमारे शरीर में विद्यमान है । (ओजुदा) में ही गीता लगाने से योगसिद्धिरूपी रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है, अध्यात्म का सागर शरीर में लहरा रहा है । मस्तिष्क (मगज) में विंचार करना चाहिए, और पंच इन्द्रियसहित मन को बुद्धिरूपी कटार (शस्त्र) से शक्तिहीन कर, क्षणमात्र में विवश (बेहाल) कर आत्मज्ञानं के प्रकाश में चैतन्यघन परमानन्दस्वरूप अलख निरंजन का बोध अथवा अनुभव प्राप्त कर लेना मानवजीवन अथवा मानव-शरीर की प्राप्ति की सार्थकता है ।

ब्यंद ब्यंद सब कोई कहै । महाब्यंद कोइ बिरला लहै ।
इस ब्यंद भरोसे लावै बंध । असथिरि होत न देषो कंध ।। 237 ।।

महाबिन्दु (सम्पूर्ण वीर्य सिद्धि) की प्राप्ति कोई बिरला ही करता है, ऐसे तो सभी लोग कहते हैं कि वीर्य (बिन्दु) की रक्षा से शरीर स्थिर होता

है, इसका पात (मृत्यु) नहीं होता, परन्तु वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए सहस्रार में नाद के साथ उसका संयोजन करने से परिपक्व रस, योगाग्नि से सिद्ध महारसायन (महाबिन्दु) को प्राप्त करना सबके वश की बात नहीं है, इसी महाबिन्दु से अमरकायत्व की प्राप्ति होती है । शरीर स्थित वीर्य के भरोसे बिना उसको योगाग्नि में सिद्ध किये शारीरिक (यौगिक) क्रिया, मुद्राबन्ध आदि, से शरीर स्थिर होते नहीं देखा गया है ।

उलटै मूल डाल नहीं रहै । फाड़ि कछौटा रात्यौं बहै ।
न वोह छीजै ना वोह गलै । ब्यंद नहीं सो भगमुष ढलै ।। 238 ।।

बिन्दु की साधना, वीर्य की रससिद्धि (हठ) योग-साधना का एक आवश्यक अंग है, जिसके सिद्ध होने पर अमरकायत्व और ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति होती है । जो वीर्य कामोपभोग में, स्त्री के संभोगसुख की पूर्ति में भगमुखी, स्त्री की योनि में अधोमुखी, हो जाता है, वह अपक्व और निस्सार वीर्य है, जिसके द्वारा योगी सिद्धि के वंचित रह जाता है । इस वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने से, इसके मूल को, उद्गम को उलट देने से कामोपभोगपरायणताजन्य चंचल मानसिक वृत्तियों का नाश हो जाता है, यह वीर्य ऊर्ध्वमुखी होने पर योगी के द्वारा वस्त्र (कछौटा) त्याग देने से, कामोपभोग रूपी वस्त्र (लज्जा, आवरण) को उतार कर निरावरण दिगम्बर होने पर, जो अधोमुखी होता है, ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, यह न गलता है, न ढलता है, न क्षीण होता है और न नष्ट होता है । यह पक्व अथवा सिद्ध वीर्य ब्रह्मानुभूति का प्रशस्त माध्यम हो जाता है ।

बिणि बैसंदर जोति बलत है गुर प्रसादे दीठी ।
स्वामी सीला अलुणी कहिये जिनि चीन्हा तिन दीठी ।। 239 ।।

शरीर में वही ब्रह्मज्योति है, जो घट-घट में, जड़-चेतन में विद्यमान है । मैंने (गोरखनाथ ने) गुरू की प्रसन्नता (कृपा) से इस ज्योति का, अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वप्रकाश का अपने शरीर के भीतर साक्षात्कार कर लिया, यह ज्योति बिना अग्नि के ही प्रकाशित है, इसका आधार पांचभौतिक तेज नहीं है, इस ज्योति का दर्शन तीसरे नेत्र (तिन दीठी) से, ज्ञाननेत्र से उन वैराग्य-रसिकों को होता है, जो संसार के प्राणी, पदार्थ और

परिस्थिति से परे होकर शीलोछंवृत्ति से ही जीवनधारण करते हैं, (खेत की फसल कट जाने पर उसके स्वामी द्वारा अन्न ग्रहण कर लेने के बाद खेत में जो अन्न के दाने, शिल बच जाते हैं, अलुणी, उंछ, (त्यक्त) रह जाते हैं, उन्हें अयाचित वृत्ति से एकत्र कर उनसे जीविका चलाते हुए पूर्ण वैराग्यमय जीवन का वरण शरीर की रक्षा करने वाले) त्यागी महात्मा ही आन्तरिक साधना से परब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार करते हैं ।

ऊजल मीन सदा रहै जल मै सुकर सदा मलीना ।
आतम ग्यांन दया बिणि कछु नाही कहा भयौ तन षीणा ।। 240 ।।

किसी के स्वभाव की निन्दा-स्तुति व्यर्थ है । मछली सदा जल में रहने से निर्मल रहती है और सूकर कीचड़ में रहने से मैला रहता है । इसी तरह योग-साधक की बात है, केवल काय साधन, कुण्डलिनी-जागरण करते हुए षट्चक्रभेदन, प्राणायाम, आसन-मुद्राबन्ध से शरीर को शोधित कर लेने से ही कोई योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेता । मूल बात यह है कि जीवमात्र के प्रति हमारे भीतर आत्मभाव होना चाहिए, हमारी चित्तवृत्ति में दूसरों के प्रति दया रहनी चाहिए, वास्तविक आत्मज्ञानी वही है, योगसिद्ध वही है, जिसके हृदय में दया और करूणा है, अन्यथा तप करके शरीर शोधित कर लेने मात्र से कोई आत्मविज्ञानी नहीं कहला सकता ।

धोतरा न पीवो रे अवधू भांगि न षाऔ रे भाई ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू या काया होयगी पराई ।। 241 ।।

हे अवधूत । इस मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है । इस शरीर की चेतन वृत्तियों को धतूर-सेवन कर तथा भाँग खाकर दुर्बल नहीं करना चाहिये । इन मादक द्रव्यों के सेवन से स्नायु निर्बल हो जाती है और मन चंचल हो जाता है, बुद्धि क्षीण हो जाती है, यह काया काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हो जायेगी और जीवन निष्फल हो जायेगा ।

साइं सहेली सुत भरतार सरब सिसटि कौ एकौ द्वार ।
पैसता पुरसि निकसता पूता ता कारणि गोरष अवधूता ।। 242 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि इस संसार में स्वामी, सखा, सहेली, पुत्र, पति, सब को गर्भ में प्रवेश कर शरीर धारण करना पड़ता है और जन्म लेने का, अथवा शरीर धारण करने का सकल सृष्टि का एक ही द्वार है, स्त्री की योनि से (चौरासी लाख योनियों में) जन्म लेकर कर्म का विपाक भोगते हुए मनुष्य जन्म लेता है, इसलिये अवधूत होने पर, वैराग्य का मार्ग ग्रहण करने पर, कामोपभोग परायणता के परिणाम स्वरूप जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करने से बच जाता है । इसलिए मैं (गोरखनाथ) ने वैरागय का ही वरण कर लिया, जिससे बार-बार जननी के जठर में निवास कर मलमूत्र से निर्मित शरीर में गर्भस्थ रहने से बच गया ।

राष्या रहै गमाया जाय सतिसति भांषंत श्रीगोरषराय ।
येकै कहि दुसरै मानी गोरष कहै वो बड़ौं ग्यांनी ।। 243 ।।

यह गोरखनाथ का सत्य वचन है, ज्ञानोपदेश है । एक कहता है, और दूसरा गुरूवचन सदृश उसके ज्ञान को स्वीकार कर अपने जीवन में चरितार्थ करता है । यह परम्परागत सत्यवचन है कि किसी वस्तु की रक्षा करने से वह सुरक्षित रहती है और उसको गवाँ (खो) देने से वह सदा के लिये हाथ से निकल जाती है । कहने वाला गुरू ज्ञानसम्मत उपदेश देने वाला और उस उपदेश को जीवन में उतारने वाला, दोनों ही निस्सन्देह उत्तम कोटि के (बड़े) ज्ञानी हैं ।

च्यंत अच्यंत ही उपजै च्यंता सब जुग षीण ।
जोगी च्यंता बीसरै तौ होई अच्यंतहि लीन ।। 244 ।।

किसी भी तरह की साधना में, चाहे यौगिक हो या आध्यात्मिक हो, चिन्ता एक बहुत बड़ी बाधा है, यह अनायास ही उत्पन्न हो जाती है, किसी भी तरह के अभाव के दुःख की अनुभूति अथवा धारणा से चिन्ता की उत्पत्ति होती है । चिन्ता की आग में जलता हुआ समस्त जगत् नैराश्य की स्थिति में निर्बल, उदास, और विपन्न हो जाता है, यह निर्विवाद है कि योगी को चिन्ता नही सताती है, क्योंकि वह स्वरूपानुसन्धान में तत्पर रह कर परमात्मा के आश्रय में स्थित हो जाता है और इस तरह अलख निरंजन परब्रह्म शिव के (अचिन्त्य निष्कल परमेश्वर के) चिन्तन में, ध्यान और विचार में तल्लीन रहता है ।

गिरही को ग्यांन अमली को ध्यांन । बूचा को कान बेश्या को मान ।
बैरागी अर माया स्यूं हाथ या पांचां को एको साथ ।। 245 ।।

गृहस्थाश्रम के प्रपंच में आसक्त रहकर स्वरूपानुसन्धान तथा आत्मा और परमात्मा का चिन्तन गृहस्थ नहीं कर पाता है । इसी तरह (अमली) व्यसनी को जिस बात का व्यसन हो जाता है अथवा जिस पदार्थ के सेवन में उसे सुख मिलता है, वह उसे नहीं छोड़ पाता, अमली, व्यवसनी का जीवन सदाचार-परायण नहीं हो सकता । जो प्राणी बूचा है अथवा जिसका कान कट गया हो, उसके लिये कान का महत्व ही नहीं रह जाता है और वेश्या कितनी भी सुन्दरी क्यों न हो, कितना भी धन उसने (वेश्यावृत्ति) से क्यों न कमा लिया हो उसे समाज में वह प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती जो एक साध्वी-सती गृहस्वामिनी को मिलती है । जो वैराग्य के पथ पर चल रहा है, अथवा विरक्त है, वह कभी माया में, लोक-संग्रह और धन आदि के संचय के प्रपंच में नहीं पड़ सकता, विरक्त माया में आसक्त होने से नष्ट हो जाता है । अतः यह निश्चित सत्य है कि प्रपंच में गृहस्थ, व्यसनी, कान से हीन बूचा, व्यभिचारिणी वृत्तिवाली वेश्या और माया में फँसा सन्यासी, यती अथवा विरक्त, ये पाँचों-के-पाँचों समानधर्मी हैं, अपनी मर्यादा से रिक्त हैं, कदापि सम्मानित नहीं कहे जा सकते हैं ।

गिरही होय करि कथै ग्यांन, अमली होय करि धरै ध्यान ।
बैरागी होय करै आसा, नाथ कहै तीन्यों षासा पासा ।। 246 ।।

सांसारिक विषयभोगों में आसक्त गृहस्थ आध्यात्मिक तत्व की चर्चा नहीं कर सकता, इसी तरह जो इन्द्रियजन्य सुखों का व्यसनी हैं, वह परमात्मा या अपने इष्ट उपास्य देव का ध्यान नहीं कर सकता क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति तो व्यसनों की मृगमरीचिका में उलझ जाती है । संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का आश्रय न ग्रहण कर तथा वैराग्य का वरण कर जो संसार के लोगों से जीवन-निर्वाह की आशा करता है, वह वास्तविक वैराग्ययुक्त पुरूष नहीं है । ये तीनों-के-तीनों ही बन्धन में जकड़े तथा मायामुग्ध हैं ।

रांड मुवा जती, धाये भोजन सती धन त्यागी ।
नाथ कहै ये तीन्यौ अभागी ।। 247 ।।

यति, सत्यवादी (सती) और त्यागी (वैराग्यवान्) यदि इन तीनों के जीवन में क्रमशः संयम, सदाचार और वैराग्य का अभाव हो जाता है, तो तीनों-के-तीनों अपने मार्ग से पतित हो जाते हैं । यदि स्त्री के मर जाने पर कोई यति (योगी) होने का स्वाँग रचता है, तो वह यति नहीं हैं, इस तरह साधु का वेश धारण, कर भिक्षा माँग कर पेट की आग शान्त करके ही जो जीविका चलता है, वह सदाचारी साधु नही है तथा धन के रहते जो दान-पुण्य में अभिरूचि नहीं रखता और उसके नष्ट या क्षय हो जाने पर त्यागी कहलाने के मिथ्या गौरव में सुख मानता है, वह वास्तविक त्यागी नहीं है । नाथ (गोरखनाथ) का कथन है कि इस तरह के योगी, साधु और संन्यासी (त्यागी) तीनों-के-तीनों अभागे हैं ।

पढ़ि पढ़ि पढ़ि केता मुवा कथि कथि कहा कीन्ह ।
बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घट गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह ।। 248 ।।

ग्रन्थों के पठन-पाठन, शास्त्रों के अध्ययन और अध्यात्म आदि के निरूपण का प्रयोजन ही यह है कि मनुष्य परमात्मा के केवलानुभवानन्द स्वरूप का रसास्वादन करें, शास्त्र-चिन्तन और अध्यात्म ज्ञान-कथन इस पुण्यकर्म के साधन हैं पर यदि मनुष्य केवल शास्त्र ही पढ़ता रहे और आध्यात्मिक चर्चा ही करता रहे और वह परमात्मा के साक्षात्कार और अनुभव से रिक्त या शून्य रहे तो वह जीवन के वास्तविक लाभ से वंचित हो जाता है । उसकी उन्नत स्थिति क्षीण हो सकती है, इसलिये उसकी प्रगति का कोई महत्व नहीं है । परब्रह्म परमात्मा का अनुभव प्राप्त करना ही मानव-जीवन का परम लाभ है ।

सति सति बोलै गोरष राणा ।
तीनि जणै का संग निवारौ नकटा बूचा काणा ।। 249 ।।

गोरक्षनाथ का यह अनुभव - सिद्ध सत्य कथन है कि यदि किसी नकटे, कनकटे और काने व्यक्ति ने वैराग्य धारण किया है तो उसके साहचार्य का निवारण करना चाहिए क्योंकि ये तीनों हीनता-ग्रंथि से पीड़ित होने के कारण विरक्त हुए हैं । इनका वैराग्य विवेकजन्य नहीं है ।

कदैन सोभै सुन्दरी सनकादिक के साथि ।
जब तक कलंक लगाइसी काली हांडी हाथि ।। 250 ।।

स्त्री का संग योगसाधना में भयानक बाधा उपस्थित करता है । यह निर्विवाद है कि ब्रह्मचर्य व्रती, आजीवन बालयोगी सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार के साथ सुन्दरी रमणी नहीं शोभित हो सकती है, उपयोगी हो नहीं सकती है । जिस तरह आग पर जली हाँडी, मिट्टी के बर्तन की कालिख (कालिमा) हाथ में धारण करने पर हाथ को कभी-न-कभी काला कर ही देती है, ठीक इसी तरह यति के साथ यदि स्त्री रहे तो उसे कामोपभोग-परायण बना सकती है, यह बात असंदिग्ध है । योगी को स्त्री के संग का परित्याग कर देना चाहिये अन्यथा उसके विषयवासना में पतित होने की आशंका सदा बनी रहती है ।

पांसि बैठी सोभै नहीं साथि रमाई भुंडि ।
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह मुण्डि ।। 251 ।।

योगसाधना और विशेष रूप से हठयोग-साधना में स्त्री के सम्पर्क में रहना सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि स्त्री के संग में रहने से मन की वृत्तियाँ चंचल रहती हैं । ऐसी स्थिति में साधक नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा परमात्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ हो जाता है, स्त्री चाहे सीधी हो, चाहे भोड़ी हो या दीक्षित हो, (योगमार्ग में साधनारत हो), प्रत्येक स्थिति में, उसके संग का त्याग करना ही योगसाधक के लिये सर्वथा श्रेयस्कर है ।

जरणा जोगी जुगि जुगि जीवै झरणा मरि मरि जाय ।
षोजै तन मिलैं अविनासी अगह अमर पद पाय ।। 252 ।।

योगी के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । जो योगी अपने शरीर में वीर्य को स्थिर रखकर उसे प्राणायाम की साधना द्वारा ऊर्ध्वमुखी कर लेता है और वीर्यरस को शरीर में सिद्ध अथवा जीर्ण कर लेता (पचा लेता) है, वह पक्व योगी (जरणा योगी) अथवा सिद्ध योगी है । जो साधक वीर्य की रक्षा नहीं करता है और कामेन्द्रियजन्य विषयसुख की प्राप्ति में उसका क्षरण

कर देता है, वह तो योगी नहीं है, सच्चा योगी शरीर में नाद-बिन्दु की साधना करते हुए परमात्मा की खोज, प्राप्ति अपने पिण्ड में ही कर लेता है और दुर्लभ अग्राह्य (अगह) पद कैवल्य में प्रतिष्ठित होकर योगसिद्धि का रसास्वादन करता है ।

जप तप जोगी संजम सार। बाले कंद्रप कीया छार।
येहा जोगी जग मैं जोय। दूजा पेट भरै सब कोय ।। 253 ।।

इस संसार में वास्तविक योगी तो वह प्राणी है, जो जप और तप तथा संयम के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहारित कर विषयोन्मुखी बनने से रोकता है और काम को जलाकर क्षारकर देता है । जिस साधक का आचरण जप तप संयम के विपरीत है, विमुख है, वह तो नाममात्र के लिये योगी है, उसने भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने और पेट भरने के लिये योगी का वेश धारण किया है, वास्तविक योगी तो जपी, तपी, संन्यासी अथवा संयमी और अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रती होता है, वह परमशिव में स्वस्थ रहता है ।

जोगेसर की इहै परछ्या, सबद बिचार्या षेलैं ।
जितना लाइक बासणा होवैं, तेती तामैं मेल्है ।। 254 ।।

शब्द ब्रह्म है, शब्द ही गुरू का सदुपदेश है, यही नादब्रह्म की उपासना का प्रतीक है । योगसिद्ध योगेश्वर की परख अथवा लाक्षणिक परिचय यह है कि वह बड़े विवेक से शब्द-विचार कर, अनुभव-निरूपण कर शिष्य को योगसाधना में नियोजित कर उसका साधक-जीवन कृतार्थ और श्रेयस्कर कर देता है । सद्गुरू योगेश्वर वह है, जो शिष्य की योग्यता और पात्रता का ध्यान रखकर उसे उतना ही ज्ञान प्रदान करता है, (मेल्हे) देता है, जितना उसे साधन-पथ में बढ़ाते रहने में पर्याप्त होता है । गुरूप्रदत्त सदुपदेश की यही महत्ता है कि वह योग्य शिष्य की पात्रता अथवा योग्यता के अनुरूप हो । योगेश्वर ही ऐसा सद्गुरू होता है ।

चांपे भरै तो बासण फूटै बारै रहै तौ छीजै ।
बसत धणेरी बासण चोछी कहो गुर क्या कीजै ।। 255 ।।

अवधू सहजै लैणा सहजै देणा सहजै प्रीती ल्यौ लाई ।
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू तौ बासण करैगा समाई ।। 256 ।।

(इन सबदियों में योग की सहज स्वाभाविक साधना का प्रक्रम निरूपित किया गया हैं ।) योगसाधक शिष्य अपने योगिगुरू के चरणों में निवेदन करता है कि शिष्य गुरूज्ञान को प्राप्त करने के योग्य किस तरह हो, यदि वह ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग्य पात्र नहीं रहता है तो कितना भी हठपूर्वक ज्ञान प्रदान कि... ..., उसमें योग्यता न होने से, ज्ञान नहीं ठहर पाता । साथ-ही-साथ ... पूरा ज्ञान न प्रदान कर अल्पमात्र का उपदेश देता है और शेष ज्ञान बाहर ही रह जाता है, तो वह भी क्षीण अथवा नष्ट हो जाता है । शिष्य दैन्यपूर्वक निवेदन करता है कि हे गुरूदेव इस स्थिति में क्या करना चाहिये ।

गुरू का विवेकपूर्वक उत्तर है कि योग्य गुरू शिष्य की योग्यता का विवेक रखता है और वह धीरे-धीरे उसे साधनपथ में अग्रसर कर स्वाभाविक रूप से साधना में पारंगत करने की कृपा अथवा अनुग्रह करता है । ऐसा करने से शिष्य की साधना में रूचि बढ़ जाती है, उसकी चित्तवृत्ति ईश्वर-प्रणिधान में लग जाती है, उसे अपने स्वरूपबोध में प्रीति हो जाती है और वह परमात्म साक्षात्कार में लग जाता है । इस तरह सहज रूप से, स्वाभाविक गति से यथाविधि यथाक्रम साधना करते हुए गुरू के अनुग्रह से शिष्य की योग्यता अपने-आप बढ़ जाती है ओर वह पूर्णात्पूर्ण परमात्मपद में स्वस्थ अथवा स्वरूपस्थ होने में सक्षम हो जाता है ।

तूंबी में तिरलोक समाया त्रिबेणी रबि चंदा ।
बूझौ रे ब्रंभ गियानी अनहदनाद अभंगा ।। 257 ।।

अलख, निरंजन, शुद्ध (मायातीत) परब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार अथवा निर्मल स्वरूपानुभव अनाहतनाद (ध्वनि) के श्रवण से होता है । माया की तूंबी में बीजरूप से समस्त त्रैलोक्य, त्रिकुटी (त्रिवेणी) और रवि तथा चन्द्र आदि समाये हुए हैं और उनके द्वारा परब्रह्म केवलानुभवानन्द स्वरूप परमशिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता । हे ब्रह्म ज्ञानियों ! ब्रह्म के

स्वरूप का (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस तत्व का) विचार करनेवालो, अभंग अनाहत नाद का, जो निरन्तर सहज अभिव्यक्त होता रहता है, श्रवण करो । माया के बन्धन से छूटने और ब्रह्मानुभव का एकमात्र साधन अनाहत नाद श्रवण ही है ।

सत्यो सीलं दोय असनांन त्रितीये गुर बायक ।
चत्रथे षीषा असनान पंचमे दया असनान ।
ये पंच असनान निरमला नितिप्रति करत गोरखबाला ।। 258 ।।

बालयति (योगी) गोरखनाथ का वचन है कि मैं पाँच प्रकार के स्नान नित्य करता हूँ, ये सत्य, शील, गुरूपदेश-चिन्तन, स्वाध्याय (षीषा, सीषा-शिक्षा) और दया हैं । इनको आचरण में उतारने से तन, मन, बुद्धि सबकी शुद्धि हो जाती है । इन पाँच स्नानों से योगी का जीवन सदा संयमित और पुण्यशाली होता है । इस सबदी में इस बात पर बल दिया गया है कि वस्तुतः चित्त का परिष्कार ही वास्तविक स्नान है ।

त्रियाजीत ते पुरिषा गता मिलि भानंत ते पुरिषा गता ।
बिसासघातगी पुरिषा गता कायरौ तत ते पुरिषा गता ।। 259 ।।

अभष भषंते पुरिषा गता । सबद हीण ते पुरिषा गता ।
उदिक राषंत ते पुरिषा गता । परत्रिया राचंत ते पुरषा गता ।।
सति सति भाषंत गोरष बाला इतना त्यागि रहो निराला ।। 260 ।।

जो पुरूष स्त्री के द्वारा जीत लिया जाता है, स्त्री के वश में हो जाता है, वह नष्ट (गता) हो जाता है, जो पुरूष एक दूसरे से अपना (सहृदयतापूर्ण) सम्बन्ध तोड़ लेता है, (भानंत) और वैरभाव को अपना लेता है, वह नष्ट हो जाता है । जो विश्वासघाती होता है, वह नष्ट हो जाता है, जो पुरूष कायर है, अपने कर्तव्य से विमुख रहता है, उसका जीवन व्यर्थ है । जो युक्ताहार से विमुख होकर अभक्ष्य तामसिक पदार्थो का भोजन के रूप में उपयोग करता है, वह नष्ट हो जाता है, जो अपने गुरू के उपदेश के अनुसार जीवन और आचार-विचार नहीं बनाता और पथभ्रष्ट होकर अपकर्म में लग जाता है, उसका भी अस्तित्व व्यर्थ है, वह किसी काम का नहीं रह जाता । इसी तरह जो पुरूष कामोपभोगसुख में आसक्त होकर वीर्य

का स्त्री के संभोग में क्षरण करता है, वीर्य (उर्दिक-उदक) रस को शरीर में पचा नहीं लेता, उसे भी नष्ट ही समझना चाहिये । जो परस्त्री पर कुदृष्टि रखता है, वह पतित है, उसे भी नष्ट ही जानना चाहिये । गुरू गोरक्षनाथ सत्य कहते हैं कि उपर्युक्त पुरूषों का त्याग करके इनसे सर्वथा अलग रहना चाहिए ।

पंडित भंडित अर कलवारी । पलटी सभा विकलता नारी ।
अपढ़ बिपर जोगी घरबारी । नाथ कहै रे पूता इनका संग निबारी ।। 261 ।।

जो पण्डित होकर भाँड़ के समान केवल प्रलाप मात्र करते हुए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता है, उसका, जो कल-कल्य मदिरा का सेवन करने वाला है, उसका अथवा शराब की दुकान (कलवारी) का और जो सभा समाप्त हो गयी है, उसका, कामातुर, कामविह्वल स्त्री, का, अपढ़ ब्राह्मण (विप्र) का और जो योगमार्ग में दीक्षित होकर योगी का वेष धारण कर, वैराग्य और त्याग की उपेक्षा कर घर में आसक्त रहता है, (घरवारी है) इन सभी से योगसाधक को दूर रहना चाहिये । गोरखनाथ का अपने शिष्यों को सदुपदेश है कि हे वत्स, उपर्युक्त सभी व्यक्ति सर्वथा त्याज्य हैं ।

राति गई अध राति गई बालक एक पुकारै ।
है कोई नगर मैं सूरा बालक का दुःख निवारै ।। 262 ।।

यह सांसारिक जीवन अज्ञानमयी रात्रि है । जीवात्मा शुद्ध बुद्ध रूप में रहता है, जिस तरह एक बालक निष्प्रपंच होता है, वह सांसारिक दुःख-दोष से अप्रभावित रहता है, उसी तरह आत्मा शाश्वत चैतन्य, शुद्धस्वरूप है । संसार में शरीर धारण कर जन्म लेने वाला जीवात्मा अपनी आन्तरिक मनोव्यथा व्यक्त करता है कि क्या इस संसार में रात के अन्धकार में (अज्ञान में) ज्ञान प्रकाश देने वाला (आत्मा के स्वरूप का परिचय कराते वाला) समर्थ वीरात्मा (योगी गुरू) है, जो बालक का दुःख मिटा दे, उसे अज्ञान-अन्धकार में भटकने से उबार ले ।

दिसटि पड़े ते सारी कीमति कीमति सबद उचारं ।
नाथ कथै अगोचर बाणी ताका वार न पारं ।। 263 ।।

शब्द ब्रह्म का बोध अगम है, अपार है, शब्द बड़ा कीमती है, अमूल्य है, उसकी सार्थकता तो इस बात में है कि शब्द में अभिव्यक्त (स्वरूपस्थ) ब्रह्म, अलख निरंजन परब्रह्म साधक (योगसाधक अथवा योगी) की दृष्टि में पड़ जाय, साधक उसका साक्षात्कार अथवा बोध प्राप्त कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय । नाथ (गोरखनाथ) ऐसी वाणी बोलते हैं, जिसका श्रवण-इन्द्रियों से स्वारस्य नहीं ग्रहण किया जा सकता, यही योगवाणी इन्द्रियातीत परा वाक् है, शब्द ब्रह्म के व्यापक स्वरूप से, अनाहत नाद में स्थित हो जाने पर ही योगी इस परावाक् के, (नाथोक्त) वाणी के वर्णातीत अक्षरज्ञान के अनुभव में स्वरूपस्थ होता है । यह परावाक् निर्विकल्प समाधि का विषय है । वहाँ मन का प्रवेश नहीं है, यह अपार है ।

सबद हमारा षरतर षांडा, रहणि हमारी साची ।
लेषै लिषी न कागद माडी, सो पत्रीं हम बाची ।। 264 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हमारी कथनी और करनी में पूर्ण संगति (अभिन्नता) है । हमारे योगमार्ग में शब्द, गुरू से प्राप्त उपदेश तथा अनुभव-वाणी की ही विशिष्टता है, शब्द तेज तलवार है, जिससे अज्ञान का नाश कर हम परमात्मज्ञान में, स्वरूपबोध में स्वस्थ रहते हैं । हमारा सबसे बड़ा शास्त्र है अनुभव वचन, गुरू का उपदेशामृत । यह ज्ञानामृत वचन साक्षात् भगवान् शिव का सप्त श्रृंग पर पार्वती को प्रदत्त उपदेशामृत है । हमने इसी पत्री (पुस्तक), खुले पत्र का पाठ किया है, यह लिपिबद्ध नहीं है, न (ग्रन्थ के) कागज पर अंकित है । यह तो हमारे जीवन में अनुस्यूत है ।

मन बांधूंगा पवन स्यूं पवन बांधूंगा मन स्यूं ।
तब बोलैगा कोवत स्यूं ।
मन तेरा की माई मूंडू, पवना दउं र बहाई ।
मन पवन का गम नहीं, तहां रहै ल्यौ लाई ।। 265 ।।

योग को चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है । मन बहुत चंचल है । योगसाधक इन मन को इन्द्रिय के विषयों से मोड़कर आत्म चिन्तन में प्रवृत्त करते हैं । इसी तरह प्राण को भी शरीर में स्थिर करने से योगी का शरीर मृत्यु का ग्रास नहीं बनता है । चित्त का पवन में लय और मन का चित्त में लय हो जाने से योगी को उन्मनी समाधि सुलभ होती है और मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति जाग जाती है । मन-पवन के पारस्परिक लय से शक्ति-(कोवत-कूबत)-मय, समर्थ शब्द, अनाहतनाद होने लगता है । साधक कहता है कि मैं मन को माया को मुण्डित कर, मूड़कर उसे अपने वश में कर लूँगा, चेली बना लूँगा, वह मेरी दासी हो जायगी और पवन को सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में समाहित करने पर उन्मनी अवस्था, समाधि के परे परमात्म साक्षात्कार, अलख-निरंजन का स्वारूपानुभव, सहज कैवल्यपद प्राप्त हो जायेगा । यह पद, यह अनुभव, मन और पवन से परे हैं, प्राण और मन का वहाँ प्रवेश ही नही है ।

कोण देस स्यूं आये जोगी, कहा तुम्हारा भाव ।
क़ौण तुम्हारी बहण भाणजी, कहाँ धरोगो पांव ।। 266 ।।
पछिम देस स्यूं आये जोगी, उतर हमारा भाव ।
धरती हमारी बहण भाणजी, पापी के सिरि पाव ।। 267 ।।

हे योगी ! तुम किस देश से आये, तुम तो निर्विकार जीवात्मा हो, तुम्हारे शरीर की किस तरह उत्पत्ति हुई, तुम शाश्वत चैतन्य चेतनस्वरूप हो, तुम्हारी क्या इच्छा है, तुम्हारे सगे-सम्बन्धी, बहन और भानजी कौन हैं और तुम कहाँ पैर धरोगे अर्थात् किसका दमन करोगे । योगी का इस प्रश्न के सन्दर्भ में उत्तर है कि हम पश्चिम देश माया से आये हैं, अर्थात् हम तो निर्मल चेतन जीवात्मा हैं, पर हमने माया, पंचतत्वमयी प्रकृति से शरीर की प्राप्ति की है अथवा पश्चिम-मार्ग, सुषुम्ना में प्राण ही हमारा जीवस्वरूप है । हम उत्तर की ओर, सहस्रार में स्थित परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहते हैं । धरती अथवा कुण्डलिनी-शक्ति (जिसका निवास-स्थान मूलाधार से मणिपूरचक्र पर्यन्त स्थान भी धरती के नाम से जाना जाता है) ही हमारी बहन-भानजी है, जिससे हमने योग की (साधना की सिद्धि के लिए) भिक्षा प्राप्त की है, हम पापी के सिर पर पाँव धरते हैं

(रखते हैं) अथवा सांसारिक त्रयताप से पीड़ित बद्ध पापी को बन्धनमुक्त कर उसे स्वरूप में, परमात्मा में प्रतिष्ठित करते हैं, हम पाप का दमन कर जीवात्मा को उसके परम निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करते हैं ।

सकति अहेड़ै मिस रिध, कोस बल स्यूं बागो ।
गोरष कहै चालती मारूं, कान गुरू तौ लागो ।। 268 ।।

माया-शक्ति बड़ी चंचल है । वह अपनी ऋद्धि और सम्पत्ति (सामर्थ्य) के बल से मृगया के बहानें जीवात्मा पर, अपने मिथ्या वैभव और विमोहक प्रभाव से हल्ला (वागो) बोल देती है, वह साधना-पथ में पतित हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू से दीक्षा ग्रहण की है और अपने गुरूज्ञान के प्रकाश में समाहित हूँ, वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती है ।

नाथ कहै मेरा दून्यौ पंथ पूरा । जत नहीं तौ सत का नीसूरा ।
जत सत किरिया रहणि हमारी । और बलि बाकलि देवि तुम्हारी ।। 269 ।।

हे मायादेवि ! तुम्हारा वश मुझ पर नहीं चल सकता है । गोरखनाथ का कथन है कि (गुरू की कृपा से उनके ज्ञान प्रकाश में) मैं सजग हूँ, मेरा शारीरिक संयम (यत) पूरा है, इसी तरह मेरे हृदय में सत्य की शक्ति है, मेरा सत्य पूरा है । सत्य का पालन वही करता है, जिसका संयम पूरा रहता है, शरीर पूर्ण रूप से संयमित होता है । हमारे आचार-विचार, रहनी अथवा जीवन में संयम और सत्य, दोनों समान रूप से विद्यमान हैं । हे माया ! मुझ पर तुम्हारा जादू नहीं चल सकता है । तुम्हारी बलि के लिये तो बकरे (बाकलि) ही होते हैं, जिनमें सत्य का अभाव होता है, उन्हीं पर तुम्हारा प्रभाव पड़ता है और साधन-पथ से पतित होकर अपने जीवन की बलि चढ़ा देते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

कथणी कथै सों सिष बोलिये, बेद पढ़ै, सो नाती ।
रहणी रहै सो गुरू हमारा, हम रहता का साथी ।। 270 ।।

जो गुरू से उपदेश प्राप्त कर कथन करता रहता है, वह शिष्य है। जो वेद पढ़ता है, केवल उनके पाठ मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है । वह शिष्य से नीचे की अवस्था में है, जो जीवन में महायोग के ज्ञान को चरितार्थ कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है और निरन्तर अपनी साधना में लगे रहकर योगसिद्धि कर लाभ करता है, उसकी रहनी ही सार्थक है, हमारी मैत्री उसी (रहनी से सम्पन्न, जीवन के प्रयोगात्मक विधा से संयमित) व्यक्ति से ही होती है, हम उसी के साथ हैं ।

रहता हमारै गुरू बोलिये, हम रहता का चेला ।
मन मानै तौ संगि फिरै, नहितर फिरै अकेला ।। 271 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि जो गुरू के शब्द-बोध पर पूरी तरह आचरण करता है, वह गुरू-रूप है । उसी रहनी वाले पुरूष (रहता) का ही जीवन सद्ज्ञान से परिपूर्ण है, वास्तव में उससे हमें जीवन यापन (रहनी) की प्रेरणा लेनी चाहिए, वह गुरू है, हम ऐसे के सत्संग (साथ) का समर्थन करते हैं, ऐसे गुरू स्वरूप आचार-विचार युक्त प्राणी के संग में रहने से साधना में उत्तरोत्तर लाभ की प्राप्ति होती है, साथ रहने वाले में दोष या विकार नहीं उत्पन्न होते । ऐसे रहनी वाले प्राणी के जीवन क्रम से प्रेरित होकर साधक को अकेला निवास करने अथवा भ्रमण करते रहने में किसी प्रकार की साधनागत विकृति नहीं आती ।

दरसण माई दरसण बाप । दरसण माही आपै आप ।
या दरसण का कोई जाणै भेव । सो आपै करता आपै देव ।। 272 ।।

दर्शन, स्वरूप में स्थिति का अनुभव अथवा परमात्मसाक्षात्कार अथवा उन्मनी समाधि से परे सहज शून्यस्थ कैवल्य, आध्यात्यिक जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि अथवा शाश्वत चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठा, सब-के-सब एक ही वस्तुतत्व के अनेक अभिव्यक्ति माध्यम हैं । दर्शन अपने आप में निगूढ़तम कैवल्य अथवा मोक्ष पदार्थ है । इसमें स्वयं परमात्मा समग्रतः व्याप्त है । इस दर्शन का गूढ़ मर्म (रहस्य) कोई विरला मर्मी साधक ही जानता है । यह दर्शन ज्ञान विज्ञान से परे महायोगज्ञान का पुण्यफल है, यह साधना का मूल (उद्गम) है और यही साधना की सिद्धि अथवा पर्यवसान है, जिसका वाणी के माध्यम से

अभिव्यक्ति न कर अनुभव में आस्वादन किया जाता है । इस दर्शन का भेदज्ञ, मर्मज्ञ, साक्षात् परमात्म स्वरूप हो ज़ाता है, वही परमेश्वर है और वही अपने परमेश्वरत्व का स्वानुभवी है, अपने आपका कर्ता है, अपने आप ही देव है ।

(नाथयोगी की भाषा में इस दर्शन का अभिप्राय ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूपबोध ही है । बाह्य रूप से नाथ योगी कानों में मुद्रा धारण करता है । मुद् और रा को क्रमशः जीवात्मा-परमात्मा का प्रतीक कहा गया है, और जीवात्मा की परमात्मा में स्वरूप-प्राप्ति मुद्रा है, यही अलख-निरंजन का साक्षात्कार है । मुद्रा दो प्रकार की कही जाती है, कुण्डल और दर्शन । अनेक योगी अनेक प्रकार के धातुओं की बनी मुद्रा धारण करते हैं और अनेक स्वर्णनिर्मित मुद्रा धारण करते हैं ।) दर्शन (कान में मुद्रा, छोटा कुण्डल) धारण करने वाला ब्रह्म-साक्षात्कार से सम्पन्न कहा जाता है । दर्शनी योगी स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

जिनि जाण्या तिनि षरा पहैचाण्या, वा अटल स्यूं लोलाई ।
गोरष कहै अमैं कानां सुणता, सो आंष्या देष्या रै भाई ।। 273 ।।

गोरखनाथ का अनुभवपूर्ण कथन है कि जिन्होंने योगसाधना से ब्रह्म का साक्षात्कार किया, उन्होंने परब्रह्म परमात्मा को ठीक-ठीक जान लिया, वे उसके स्वरूपभूत हो गये । उन्होंने शून्यपद, ब्रह्मरन्ध्र में सम्पूर्ण अभिव्यक्त अलख-निरंजन में आत्मा का लय कर कैवल्यपद का अनुभव कर लिया । मैंने गुरूपदेश का श्रवण कर यह ज्ञान, महायोगज्ञान प्राप्त किया । मैंने उस ज्ञान के चिन्मय प्रकाश में परमशिव का अपने ज्ञाननेत्र से प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया ।

बैठां बारै चलत अठारै, सूतां तूटै तीस ।
कई थन करंतां चौसटि तूटै, क्यों भजिबो जगदीस ।। 274 ।।

यह निर्विवाद है कि जब तक शरीर में साँस है, प्राण स्थिर है, तभी तक जीवन है और मृत्यु से शरीर अभय है, इसलिए प्राण को स्थिर रखना बड़ा आवश्यक है, बैठते, चलते, सोते, हमारी सांसें व्यर्थ निकल जाती हैं, अस्थिर होकर टूट जाती हैं और हमारी आयु व्यर्थ समाप्त हो जाती है ।

बैठते समय बारह, चलते समय अट्ठारह, सोते समय तीस और अन्य अनेक स्थितियों में चौसठ साँसें क्रमपूर्वक व्यर्थ टूटती रहती हैं, जिनका उपयोग भगवचि में होता । इसलिए नाथ योगी प्राणायाम की प्रक्रिया से प्राण वायु को स्थिर कर लेता है । इसके लिए उसे 'ह' कार के साथ बाहर जाने वाली और 'स' कार के साथ भीतर जाने वाली प्राण वायु को नियंत्रित कर अजपा जाप करना पड़ता है । इस जाप के द्वारा बिना साँस टूटे निरन्तर परमात्मा का स्मरण होता रहता है ।

नासिका अग्रे भ्रूमंडले अहनिस रहिबा थीरं ।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा षीरं ।। 275 ।।

(इस सबदी में सम्पूर्ण योगसाधना की सिद्धि के परम फल कैवल्य अथवा मोक्षपद में स्वरूपतः स्थिति का निरूपण किया गया है ।) भ्रूमध्य में चित्त का लय कर उसमें जीवात्मा का स्थिर अथवा ध्यानस्थ हो जाना और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखना ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार कर लेना है । आज्ञाचक्र में भौंहों के मध्य में जीवात्मा अपने शिव स्वरूप का साक्षात्कार करता है, कैवल्य मोक्ष मिलता है । माता के गर्भ से शिशु रूप से प्रकट होकर, जन्म लेकर दूध नहीं पीना पड़ता, जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है, इसलिए जीवात्मा को भ्रूमध्य में चित्त लय कर तथा स्वरूपतः ध्यानस्थ होकर मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिए। यह मोक्ष ही सहस्रारस्थ शिव के साक्षात्कार का परम पद है ।

।।इति।।

(पद)

(राम रामग्री)

(1)

चारि पहर आलंगन निद्रा, संसार जाइ बिषिया बाही ।
ऊभी बांह गोरषनाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई ।। टेक ।।
अमावस पड़िवा मन घट सूंनां, सूंनां ते मंगलवारे ।
भणतां गुंणता ब्राह्मण बेद बिचारै, दसमी दोष निबारै ।। 1 ।।
पड़वा आनन्दा बीजसि चंदा, पांचौ लेबा पाली ।
आठमि चौदसि ब्रत एकादसी, अंगि न लाऊं बाली ।। 2 ।।
संभी सांझैं सोइबा मंझै जागिबा, तृसंधि देणांपहरा ।
तीनि पहर पर दोइ घट जाइबा, तिंहा छै काल का हेरा ।। 3 ।।
बांमां अंगे सोइबा जम का भोगिबा, संगे न पीयबा पांणी ।
इमतौ अजसंवर होइ मछिंद्र, बोल्यौ गोरष बांणी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(यह टीका सम्वत् 1825 वि0 की जोधपुर में प्राप्त प्राचीन किसी निरंजनी साधु संग्रहीत प्रति से यथा पदानुक्रम प्रस्तुत है । आलिंगन कामनींद । ।टेक। अमावस अग्यांन करि मन सूंनौ।घट ही सूनौ।मंगल झूठा। दस दोष की काया।पड़िबा उजालौ ग्यान तो आनंद । पंच वसिबौ ही ठांम । ससि पहलौ पहरौ । बीचि कौ पहरौ त्रिगुणी माया । तीन पहरा गया । धांम देह । दूजा घट परमेस्वर बामौ अंग माया । जम भै भांगौ ।।)

योगी को निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहकर अपने शरीर के अमृत स्वरूप वीर्य की रक्षा करनी चाहिए । वीर्य का पात ही मृत्यु है । शरीर का अन्त है । गोरखनाथ ने कहा कि हे गुरूदेव । संसार में कामोपभोगपरायण प्रायः सभी लोग रात-दिन, चारों पहर स्त्री के संभोग, आलिंगन, परिरम्भण में अपने दुर्लभ मानव-जीवन का नाश कर रहे हैं, संसार विषय के प्रवाह में वहा जा रहा है । मैं बांह उठाकर (ऊंभी बाह) आप से प्रार्थना करता हूँ,

आपका ध्यान सिद्धमत, नाथयोग की ओर आकृष्ट करता हूँ । यह शास्त्रसम्मत तथ्य है कि प्रायः सभी तिथियाँ, व्रत, उपवास, संयम से जुड़ी हैं, इसलिए उन सभी तिथियों पर हमें दृढ़तापूर्वक योगसाधना के द्वारा परमानन्द स्वरूप अलख निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमावस्या और प्रतिपदा (पड़िवा) को शास्त्रादिग्रंथों का अनाध्याय किया जाता है, योगी के लिये शून्य (ब्रह्मरन्ध्र) में मन को उन्मन करना और शरीरगत शक्तियों को, प्राणादि को मुद्राबन्ध, आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा स्थिर करना ही अमावस्या और प्रतिपदा का अनाध्याय है । मंगलवार को व्रत रखने का भी यही उद्देश्य है । दशमीव्रत की महत्ता का विचार वेदज्ञ ब्राह्मण करते हैं, पर दशों यम-नियमादि (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, और स्वाध्याय, तप, शौच, संतोष, ईश्वर प्रणिधान आदि) के द्वारा शरीर और मन की शुद्धि ही योगी के लिये दशमी तिथि के व्रत के आचार-विचार के रूप में ग्राह्य है । प्रतिपदा को अध्ययन न करने का आशय है पूर्ण शान्तिमय उन्मनी अवस्था में, ब्रह्मानन्द में, योगी का मग्न रहना । द्वितीया (बीजसि) तिथि को चन्द्रदर्शन का अभिप्राय है, पंच ज्ञानेन्द्रियों को उनके रूप, रस, स्पर्श, शब्द, गन्ध आदि विषय-सुख में आसक्त होने से रोक कर अमृतव्रत का रसास्वादन करना, इसी तरह अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी को स्त्री के आलिंगन से, स्पर्श से अपने शरीर की रक्षा करना, जिससे शरीर में वीर्य स्थिर रहकर ऊर्ध्वगामी हो जाय । योगी को दिन-रात सावधान रहना चाहिए, सायंकाल होते ही उसे परमात्मा के ध्यान में नेत्र मूँद लेना चाहिए, रात के पहले, मध्य और अन्तिम पहर में जागना चाहिए, त्रियामा रात के बीतते ही काल की दृष्टि योगी पर लगी रहती है कि ब्राह्म मुहूर्त में चिन्तन-ध्यान में न लगे और मृत्यु का ग्रास बन कर नष्ट हो जाय, ब्राह्मंमुहूर्त में योगी को परमात्मा का ध्यान करना चाहिए । गोरखनाथ का वचन है कि हे गुरूदेव ! स्त्री के आलिंगन में आयु नष्ट करना यमराज का ग्रास बनना है, उसके साथ तो बैठकर पानी तक नहीं पीना चाहिए, प्रत्येक क्षण पतन की आशंका रहती है । इस तरह सदा सावधान रहकर अमर हो जाना चाहिए ।

छाँटे तजौ गुरू छाँटे तजौ-तजौ लोभ मोह माया ।
आत्मां परचै राषौ गुरूदेव सुन्दर काया ।।टेक।।
कांन्ही पाव भेटीला गुरू, बिद्यानग्र सैं ।
ताथैं मैं पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेसैं ।। 1 ।।
एतैं कछू कथीला गुरू, सर्बै भैला भोलै ।
सर्व रस षोईला गुरू बाघंनी के षोलै ।। 2 ।।
नाचत गोरषनाथ घूंधरी चें घातैं ।
सबै कमाई षोई गुरू बाघनी चैं राचैं ।। 3 ।।
रस-कुस बहि गईला, रहि गई छोई ।
भणत मछिंद्रनाथ पूता, जोग न होई ।। 4 ।।
रस-कुस बहि गईला रहि गईला सारं ।
बदंत गोरषनाथ गुर जोग अपारं ।। 5 ।।
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता ।
षटपदी भणीलै गोरष अवधूता ।। 6 ।।

हे योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ! आप महायोगज्ञान के स्वामी हैं, आप सिद्धमत, नाथयोग के सद्गुरू हैं । आप लोभ, मोह और माया को पृथक् कर (छाँटे-छाँट कर, अलग कर) इनका त्याग कर दीजिए । आप आत्मा के साम्राज्य के अधिपति हैं, आत्मज्ञान-महायोगज्ञान में स्वरूपस्थ हो जाइए, आप आत्मा के योगी हैं, गुरूपद पर प्रतिष्ठित योगेश्वर हैं । विद्यानगर (विजयनगर) के योगिराजेन्द्र सम्मान्य कृष्णपाद (कान्हीपांव-कानिपा) से मुझे यह उपदेश (सन्देश) मिला कि आप ने कामरूप के रमणीराज्य में योगिनीकौलमत की साधना में आसक्त होकर सिद्धामृत ज्ञान का विस्मरण कर दिया है । यह निर्विवाद है कि योगज्ञान से आप विमुख नहीं हो सकते, आप को कामनियों के सौन्दर्य ने भ्रमितमात्र कर दिया और आप को योगज्ञान के शुद्ध स्वरूप में भ्रम-सा हो गया है । हे गुरूदेव ! आपने माया (बांधनी, बाघनी) को क्रोड़ (षोलै-गोंद) में आलिंगित कर अमृतरस नष्ट कर दिया है, आपने माया नर्तकी के नृत्य पर उसकी नूपुरध्वनि से मूर्च्छित होकर उसके राग में बन्धन स्वीकार कर लिया और इस तरह महायोगज्ञान की साधना की सिद्धिरूपी

कमाई (सम्पत्ति) खो दी है । आप के शरीर से रस (वीर्य) अधोगामी होकर रमणी के आलिंगन से बाहर निकल गया । केवल निस्सार तत्व ही शेष है । मैं, आपका शिष्य (मछिन्द्रनाथपूता, पुत्र) कहता हूँ कि योग की साधना की शक्ति आप में अब नहीं रह गयी । वीर्य के अधोगामी हो जाने पर भी आप में आत्मामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृतरस सुरक्षित है, यह अपार अगम महायोगतत्व है, मैं अवधूत गोरखनाथ योगी, इस षट्पदी में सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोगमत के अमृतत्व का प्रतिपादन करता हूँ ।

(3)

सुणौं हो मछिन्द्र गोरष बोलै, अगम गवन कह हेला ।
निरति करी नैं नीका सुणिज्यों, तुम्हें सतगुर मैं चेला ।।टेक।।
कांमनी बहतां जोग न होई, भंगमुष परलै केता ।
जहाँ उपजै तहाँ फिरि आवटै, च्यंतामनि चित एता ।। । ।।
द्वादस षोड़ि षटांणां नौसत, जीव सीव ना बासा ।
चौदह ब्रह्मांड नौ एक दंम है, इम हीं जाइ निरासा ।। 2 ।।
पवन का नीर ले अंबर धोवै स्वासैं उसासै आया ।
भणत गोरषनाथ इम होइ निरंतर, बीजैं बटक समाया ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(चिंतामणि सरीषौ चित । द्वादस नैं षोड़ि । षट नैं षोड़ि । नौ द्वारै नै षोड़ि । चवदै ब्रह्मंड का मोल एक दम । पवन ही जल । अंबर आत्मां । बीज ब्रह्म । बटक प्रांण ।)

हे योगीन्द्र गुरूदेव, मत्स्येन्द्रनाथजी ! गोरखनाथ का (आप के चरण में) निवेदन है, विनय है कि अगम, अचिंत्य अलख-निरंजन के साक्षात्कार, परमानुभव में प्रमाद (हेला, उपेक्षा,) नहीं करना चाहिए । आप मेरे सद्गुरू हैं, मैं आप का शिष्य हूँ । आप के अनुग्रह से ही मुझे इस महाज्ञान का अनुभव हुआ है कि योगानन्द (निरति) परमात्मा में स्वरूपानुभूति ही उत्तम (नीका) है, ऐसा मैंने आप के मुखारबिन्द से योगानुभूति का रहस्य-श्रवण किया है । हे गुरूदेव ! यह नितान्त सच है कि कामिनी के आलिंगन, परिरम्भण,

मायिक रूपजाल में पतित होने से योगी योग की साधना नहीं कर सकता है। न जाने कितने लोग भगमुखी (कामोपभोगपरायण) होकर, स्त्री के संभोग में आसक्त होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठे। यह चित्त चिन्तामणि है, चित्त को सदा सचेत या सावधान करते रहने से वह शिवमयी शक्ति से सम्पन्न रहता है, चित्त को समझांना चाहिए कि कामोपभोग में आसक्त रहने से जिस भग से, योनि से शरीर की उत्पत्ति होती है, उसी में फिर गर्भस्थ होकर चक्कर काटना पड़ता है। सूर्य (द्वाद्श कला वाले) के दोष को, पिंगला नाड़ी के विकार को सोलह (नौसत-नव+सात) कलावाली चन्द्रनाड़ी, इड़ा की शीतलता, अमृतत्व से शमित करना चाहिए। जीवात्मा को शिव में निवास करना चाहिए, चौदहों भुवनों, ब्रह्माण्डों का प्राण परब्रह्म परमेश्वर है, वही चैतन्यधन सर्वत्र विद्यमान है। इस तरह जीव और शिव की एकता हो जाने पर मृत्यु (इम-यम) का भय समाप्त हो जाता है, पवन प्राण को सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वमुख कर ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, शून्य गगन, अम्बर का निर्मल स्वरूप प्रकाशित करना चाहिए। विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा सूर्य के दोष को नष्ट कर चन्द्रद्रव का स्वयं पान करते हुए शिवपद में स्थित होना चाहिए। यह सनातन सत्य है कि जिस तरह बीज में बट का वृक्ष समाया रहता है, उसी तरह माया आत्मा में लीन हो जाती है, माया की भिन्न सत्ता ही नहीं है।

(4)

बोल्या गोरष घर जोई, ये तत बूझै बिरला कोई, मेरे गयांनी ।।टेक।।
जोज्यौ जोज्यौ रे जहूँबा बन जोज्यौ, तत राष्यौं त्रियाली।
आसण इन्द्री जेणै आप बसि राष्यां, तेणै पाया सर्ब निरंतर, मेरे ग्यांनी ।। । ।।
मन माँहैं तेणैं तन तारयां मन बिसवासैं मिलणां।
मन मैं कुंभ कलस रस भरिया, तेणैं मनवै अलष लषाया, मेरे ग्यांनी ।। 2 ।।
पैर जोई ने एद्वा पुरिष पधारया, पुरिष नी पारिषा पाई।
पुरिषै मिलि पुरिष रस राष्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ग्यांनी ।। 3 ।।
जिहि धरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहिं धरि होसी उजियारा।
तिंहा जे आसण पूरौ तौ सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनी ।। 4 ।।

मन मांहिला हीरा बीधा सो सोधीनै लीणां,
सो षांणां सो पीवणां मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या,
बिमल रस जोई जोई नै मिलणां, मेरे ग्यांनी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(घर हिरदा। तत आत्मां ।।टेक।। त्रियाली त्रिगुणी माया। आसण मन यंद्री। मन मैं तन बसि कीया। मन मैं कुंभ काया बसी। कलश कंवल। पैर षोंज। पुरषै पुरष निपाया। जिहिं तटि ताता सीला न ऊगै। तौ ग्यान न उदै होय। तहां आसण करै। मन मांहिला हीरा। साध सोधि लीणां तत ग्यांनी। बिमल नृमल।)

हृदय (घर) को देखकर, हृदय में परमात्मा का विचार कर गोरखनाथ बोलते हैं कि जो इसमें निवास करने वाले परमात्मा को समझता है, जानता है, वह कोई विरला है । हे मेरे ग्यानी, योग की साधना करने वाले ! यह बात नितान्त सच है । जिन-जिन लोगों ने इसको देखा, अनुभव किया, उन्होंने इसको सुरक्षित कर त्रिगुणी, सत्व-रज-तमोगुणी माया (त्रियाली) से परे निर्मल परमात्मतत्व का विचार किया, उसे मायाग्रस्त नहीं होने दिया । जिन्होंने (सिद्धासन, पद्मसान आदि) आसनों के अभ्यास से इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) को अपने वश में रखा और मन को उन्मन अथवा अमनस्क कर परमात्मा अथवा स्वरूप का चिन्तन किया, उन्होंने ही समस्त मायिक विकारों से परे (सर्व निरंतर-अतीत) स्वरूप अथवा कैवल्य की प्राप्ति अथवा अनुभूति की, मन के स्थिर होने पर, उन्मन होने पर शरीर की शक्ति मन की शक्ति के रूप में परिणत होकर योग-साधना की सिद्धि में, परब्रह्म के साक्षात्कार में सहायक बनती है । मन में तन के बस जाने, समा जाने पर, मन से तन के मिलने अथवा मन के द्वारा शरीर की शक्ति के सही दिशा में, सत्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होने का विश्वास ही योगसाधक की मन की शक्ति में आस्था का प्रतीक है, वह साधना पथ पर आत्मानुभूति के द्वारा परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । हे मेरे ज्ञानी ! मन ही शिव है, यही मन पंचतत्व से निर्मित शरीर में निवास करने वाला जीव है, यही शक्ति है । शरीररूपी कुम्भ, कलश अमृतरस से भरा है, वीर्य-रसामृत से यह सुरक्षित और सुगठित है । इस शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा अपने हृदय-कमल में

परमात्मा को प्रतिष्ठित कर उसकी अभिन्नता की रसानुभूति अथवा उसमें तादात्म्य-स्थापना से ब्रह्मानन्द की सहज प्रत्यक्ष दिव्यता अथवा चिन्मयता या स्वरूपानन्द सुरक्षित कर उसमें मग्न रहता है । कहा जाता है कि द्वादशदल कमलचक्र, अनाहतचक्र (हृदय) में परमात्मा का निवास है और पाप-पुण्य से विवर्जित आत्मा-जीवात्मा उसका साक्षात्कार या प्राप्ति करता है । जीवात्मा जिस शरीर में निवास करता है, उसके सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र रूपी घर में बिना सूर्य और चन्द्रमा के ही परमात्मा की दिव्य ज्योति स्वतः अभिव्यक्त रहती है । उस सहस्रारपद, शून्यगगन, ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा के द्वारा अपना चित्त लय कर देने पर ब्रह्मानन्द का सहज अनुभव होता है । वह सहजामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृत रस का आस्वादन करता है । मन के द्वारा जीवात्मा परमात्मारूपी हीरे को प्राप्त करता है । यही साधक का सर्वस्व है, आहार-विहार और स्वात्मरमण है । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का कथन है कि इस परमात्मरूपी हीरक के प्रकाश में निर्मल-सहज रसानन्द मिलता है ।

(5)

गोरष जोगी तोला तोलै, भिड़ि भिड़ि बाधीलै रतन अमोलै ।।टेक।।
आछै आछै बिंद न पडिबा कंध ।
लाष तोला मोल जाये जे एक षिसै बिंद ।। । ।।
जैसी मन उपजै तैसा करम करै ।
कांम क्रोध लोभ लै संसार सूंनां मरै ।। 2 ।।
गगन सिषर आछै अंबर पांणी ।
मरतां मूढां लोकां मरम न जांणी ।। 3 ।।
पूनिम महिला (मैला) चंदा जिमनारी संगै रहणां ।
ग्यांन रतन हरि लीन्ह परांणां ।। 4 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता ।
ब्यंद तोलै राषी लै गोरष अवधूता (औधूता) ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(तोला मन तोलै पवन । ग्यांन सूं बांधे । तब अमोल । टेक । जे बिंद छै तौ । कंद आत्मां न पड़े । बिंद पड्यां कोटि मोल जाय । जैसी उपजै भली बुरी तैसा करम करै । गगन ब्रह्म । अमररामंरस । पून्यं चंद विषै रत कीजै । बिंद तोला तोलि लै ।)

श्री गोरखनाथ का कथन है कि यह संसार एक बाजार है, इसमें परमात्मारूपी अमूल्य रत्न का भाव लगाकर मैं उसे प्राप्त करने की (योग) साधना में लगा हुआ हूँ । मैं बड़ी सावधानी से परमात्मारूपी अनमोलरत्न को अथवा वीर्य को बड़े विवेक से मन और पवन को स्थिर कर अपनी गाँठ में सबसे आगे होकर बाँधता हूँ, जिससे वह खो न जाय (इस पद में रत्न परमात्मा और वीर्य, दोनों का ही वाचक है) । वीर्य के एक कण का भी पतन होने से अमूल्य रत्न हाथ से निकल जाता है, अमृत क्षीण हो जाता है और साधक मृत्यु के मुख में चला जाता है । मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, चाहे तो वह पुण्याचरण से अमरत्व प्राप्त कर ले या पापकर्म से नष्ट हो जाय । सबसे बड़ा सदाचार यही है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो अथवा शरीर में अमृतरस वीर्य सुरक्षित रहे, ब्रह्मचर्य का पालन हो । योगी (हठ) योग की साधना के द्वारा पवन और मन पर विजय प्राप्त करते हुए, कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा षट्चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रार में चित्त का लय कर परमानन्दरस का आस्वादन करता है, गगनशिखर, त्रिकुटी (ब्रह्मरन्ध्र) अथवा सहस्रार में त्रिकोण योनिचक्र में स्थित चन्द्रमा से अमृतरूपी निर्मल जल प्रवाहित होता रहता है, जिसका पानकर योगी अमरकायत्व में स्थित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है । गगन, ब्रह्मरन्ध्र में ही इस सहज रामरस-भगवद्रस अथवा अलख-निरंजन शिव, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा के रसामृत की उपलब्धि होती है । जो अज्ञानी पुरूष योग ज्ञान से रहित हैं, मूढ़ हैं, वह इस रस का मर्म नहीं जानता है, इसका अनुभव नहीं कर पाता है । स्त्री के संग में उसके सम्भोग में आसक्त होने पर, उसके रमणरस के आस्वादन में वीर्य का शोषण होता है, इसलिये योग की युक्ति से योगी को स्त्री के संग से दूर रहकर अमृत-प्राप्ति की साधना करनी चाहिए, स्त्री के

संग रहने से ज्ञानरत्न, परमात्मसाक्षात्कार नही हो पाता और वीर्य के शरीर से बाहर निकल जाने पर प्राणान्त हो जाता है । आदिमहादेव आदिनाथ के महायोगज्ञान में दीक्षित और सद्गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य, मैं (गोरखनाथ) ने वीर्य को शरीर में ऊर्ध्वगामी कर, सिद्धकर अमृतत्व प्राप्त कर लिया, वीर्य तौल कर उसका मूल्य समझ लिया ।

(6)

सोनांल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे ।
धंमणि धमी रस जांमणि जांम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे ।।टेक।।
आपैं सोनां नै आप सुनारी, मूलचक्र अंगीठा ।
अहरणि नाद नै ब्यंद हथौड़ा, घटिस्यूं गगन बईठा ।। । ।।
अषै आरण नै विषै कोइला, सहज फूक द्रोनलियां ।
चंद सूर दोऊ समि करि राष्या आपै आपजु मिलिया ।। 2 ।।
रती का कांम मासे की चोरी, रती मैं मासा चौरै ।
मासा चोरि रहै मासे मैं, इहि विधि गरथैं जौरै ।। 3 ।।
अरधे सोनां उरधै सोनां, मध्ये सोनं सोनां ।
तीनि सुन्यं की रहनी जानैं, ता घटि पाष न पुंनां ।। 4 ।।
उनमनि डांडी मन तराजू, पवन कीया गदियांनां ।
आपै गोरषनाथ जोषण, बैठा, तब सोनां सहज समांनां ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(सुनारी कुनारी नही । सास उंसास धमणि । गगन अंतहकरण ।।टेक ।। मूल नाभि नाद अहरणि । बिंद काया । गगन ब्रह्म । अषै गगन आसण । विषै कोयला । ताता सीला गुण न लीया । चंद सूर मन पवन सम । काम रती कौ स्वाद मासौ मन उनमन मैं रहै । अरध उरध मन । तीन सुंनि ब्रह्म मैं । उनमनी डोरी । मन तराजू । पवन गदियांनां । तौल्यौ ब्रह्म बराबरि ।)

(इस पद में गोरखनाथ ने अपनी उपमा स्वर्णकार से दी है और अपनी योगसिद्धि को स्वर्णरस की सिद्धि के रूप में वर्णित किया है । गोरखनाथ का वचन है, अरे सिद्ध, स्वर्णरस, आत्मामृतरस ले लो, मैं स्वर्णकार की जाति का हूँ । मैंने प्राण, श्वास की क्रिया से, धौकनी से इस रस को जमाया है, शुद्धकर सिद्ध किया है, अजपाजप के द्वारा हंसमंत्र की शक्ति से चंचलमन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर अथवा मन की उन्मनी समाधि सिद्ध कर इस निर्मल स्वर्णरस की सिद्धि की है, इसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में स्थित योनिनाम के त्रिकोणचक्र से द्रवित चन्द्रामृत, महायोगरसामृत, परब्रह्मरसामृत की प्राप्ति होती है । ब्रह्मरन्ध्र (गगन) में महायोगामृत निरन्तर प्रवाहित रहता है, झरता रहता है । यह स्वर्णरस मेरा ही स्वरूप है, परमतत्व है, मैं स्वर्णकार हूँ, स्वर्ण और स्वर्णकार में नाममात्र का अन्तर अथवा भेद नहीं है। मूलचक्रस्थ नाभि ही अंगीठी है, जिसमें अग्नि (सूर्यतेज) प्रज्वलित है । अनाहतनाद ही निहाई (अहरणि-अहरन) है, वीर्य, बिन्दु ही हथौड़ी है। मैं इस स्वर्णरस को ब्रह्मरन्ध्र में शून्य गगन में आसन लगाकर नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा पक्व, आकारित करता हूँ, गढ़ता हूँ (घटिस्यूं), अक्षय, अनन्त अरण्य में (शून्य में) विषयरूपी कोयला, को जलाकर प्राणाग्नि को इड़ा-पिंगलारूपी दो श्वास-नलिकाओं से दहकाता रहता हूँ । (अर्षआरण के स्थान पर अषैआसण भी पाठ लिया जा सकता है ।) मैंने इस प्रक्रिया में चन्द्रमा और सूर्य का, अपान और प्राणवायु का सामरस्य स्थापित कर सहज-सनातन ज्योति, परब्रह्म-प्रकाश का साक्षात्कार कर लिया है । पंचतत्वनिर्मित स्थूल शून्य ही रत्ती के बराबर (अल्पमात्रा में) है मासा परब्रह्म परमात्मा उसमें व्याप्त है । शरीर में परमात्मा का अनुभव करना ही दोनों ग्रथित करना है । (गरथै जोरै) अधः (मूलाधारचक्र), मध्य (अनाहतचक्र, हृदय) और ऊर्ध्व (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र), तीनों केन्द्रों में परमतत्व, परमात्मारूपी स्वर्ण विद्यमान है । जो साधक इन तीनों स्थानों में व्याप्त परमात्मा के स्वरूप का रहस्य जान लेना है, वह पापपुण्य के फल-भोग से परे हो जाता है । आत्मामृतरूप स्वर्ण को परखने अथवा तौलने के लिये तराजू, तुला का डंडा (डाड़ी) मन की उन्मनी अवस्था अथवा उन्मनी समाधि है और मन ही तराजू है, पवन प्राण ही इस तराजू पर सोने को तौलने का बांट (गदियांना-छः मासे का तौलने का बांट, जिसका उल्लेख शार्गंधर संहिता । । । । 4। और योगचिन्तामणि । । ।03 में है) है । गोरखनाथ ने मन को उन्मन कर,

उन्मनी समाधि लगाकर इस स्वर्णरस को, प्राणरस को सुषुम्नामार्ग में प्रवाहित कर परब्रह्म रस में अन्तर्भूत, स्वरूपभूत कर दिया, आशय यह है कि परब्रह्म अलख निरंजन की प्राप्ति कर ली ।

(7)

जांणा ने जोसी जोओ ने बिचारी, पहलां पुरिष कै नारी जी ।।टेक।।
बाइ नही तहूँवां बादल नाही, बिन थाभां बाबै मंडप रचीया ।
तिहां आप उपांवन हारी जी ।। । ।।
बाप नही होतौ तिह्या बैठण डैरे, माता बाल कुंवारी जी ।
पीवर्नै पौढ्यों माझौ पालनैं, तिंहा हूँ हीज हिडोलँन-हारी जी ।। 2 ।।
ब्रह्मा बिष्न नैं आदि महेस्वर, ये तीन्यूं मैं जाया ।
इन तिहवां नी मैं घर धरणीं द्वैकर मोरी माया जी ।। 3 ।।
गंग जमुन मोरी षाटलड़ी रे, हंसा गवन तुलाई जी ।
धरणि पाथरणौं नैं आभ पछेव्ड़ौ, तौ भी सोडी न माई जी ।। 4 ।।
षांडतड़ी मांझौ जनम बदीतौ, चांवल सांवि न सारी जी ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, ये तत जोओ बिचारी जी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बाय नहीं थेकर बादल घट । तारा गुण । तेज त्रिगुण । थंभौ सबद । बाप बप । माया माया । पीव प्रांण माहिं डालै । द्वैकर माया गंगाजमुन सास-उसास । बिचि षाट षट । पांच यंद्री छठौ मन । हंस प्राण बिछाय । दोष गुण तलै ऊपरि चावल चोषौ ।)

हे ज्योतिषी, जानने का दावा करने वाले विज्ञानी, अच्छी तरह अपने ज्योतिषशास्त्र को देखकर विचारो कि किससे किसकी उत्पत्ति हुई है, जो कुछ भी दीख पड़ता है, जो कुछ भी सृष्टि दृष्टिगोचर है, उससे यही आभासित होता है कि निराकार परमेश्वर ने बिना वायु और बादल के जिस शून्य गगनरूपी मण्डप की रचना की है, उसकी अभिव्यक्ति माया के उपाश्रय से है । यद्यपि माया परमात्मा की सृजन-इच्छा, सिसृक्षा की प्रतीक है तथापि यह कहना आसान नहीं है कि उसका रूप किस तरह अभिव्यक्त है,

देखने से तो यही लगता है कि उसका कोई पिता, जनक नही है और वह सदा कुँवारी है, उसका कोई पति अथवा स्वामी नहीं प्रतीत होता है । वह अपने पति को, पुरूष को स्वयं बालरूप में पालने में पौढ़ाती है और हिंडोले में झुलाती रहती हैं । माया द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) मुझसे उत्पन्न हैं । सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्य मेरे संकेत और मेरी शक्ति से ही चलते रहते हैं, ऐसा माया संकेत करती है, इनके दोनों हाथों में मेरी ही शक्ति है - आशय यह है कि इनकी समस्त क्रिया मेरे द्वारा सम्पादित है । इड़ा, पिंगला मेरी चारपाई (खाटलड़ी) हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और छठें मन (षाट-खाट-षट्) से इड़ा-पिंगलारूप श्वास-उच्छ्वास द्वारा निर्मित इस चारपाई पर जीव या प्राण (हंस) ही रजाई (तुलाई) है । पृथ्वी, पत्थर और पानी-सारी सृष्टि मेरा पक्षपट (पक्षयोड़ा) है पर मेरे बिछाने की चादर (सौड़ी, सौर) के रूप में पर्याप्त नहीं है, इसी सृष्टि को देखने मात्र से ही यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि मेरा विस्तार केवल इतना ही है । सृष्टि तो मेरी शक्ति के विस्तार का, क्रियाकलाप का अंश मात्र है । जीवात्मा (मनुष्य) मेरे बन्धन में विमुग्ध होकर अज्ञानवश संसार में शरीर धारण कर सुख-दुःखरूपी कर्मो से पराधीन है । इस तरह ओखली (खांडतड़ी) में पड़े धान के चावल की तरह वह आज तक स्वच्छ, मुक्त नहीं हो सका, संवर (संबि) नहीं सका, जन्म-जन्म से बन्धन में पड़ा है । मत्स्येन्द्रनाथ के कृपाप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस तत्व का पूरा-पूरा विचार कर जीवात्मा को माया की विमुग्धकारिणी लीला के बन्धन से मुक्त होकर अपने निर्मल शाश्वत चैतन्यस्वरूप में अवस्थित होना चाहिए ।

(8)

चाल्यो रे पांचौ भाइला तेणैं बन जाइला
जहाँ दुष सुष नांव न जानिये ।। टेक ।।
षेती करौं तौ मेह बिन सूके, बनिज करौ तौ पूंजी तूटे ।। । ।।
अस्त्री करौं तो धरभंग ह्वैला । मित्र करौं तो बिसहर भैला ।
जुवटै षैलौं तो बैठड़ौं हारौं, चोरी करौं तो प्यंडड़ौं भारौं ।। 3 ।।

बन षंड जाऊं तौ बिरछ न फलना । नगरी मैं जाऊं तौ भिष्या न मिलनां ।। 4 ।।
बोल्या गोरषनाथ मछिंद्र का पूता । छांड़े नैं माया भया अवधूता ।। 5 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे ज्ञानेन्द्रियों ! उस वन का आश्रय लो, जिसमें द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख नहीं सताते । इस संसार में किसी भी युक्ति से सुख (परमानन्द) की प्राप्ति नहीं हो सकती । यहाँ खेती करने से मन उसके सूख जाने की द्विविधा में रहता है, व्यापार करने से पूंजी (आयु) समाप्त हो जाती है, परन्तु परमात्मारूपी पदार्थ, अमूल्य रत्न हाथ में नहीं आता । स्त्री के साथ गृहस्थी नहीं चल पाती है । घर में अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न हो जाते हैं । सगे-साथी परमार्थ में सहायक नहीं होते, स्वार्थ में धक्का लगने पर वे साँप की तरह काट लेते हैं, साक्षात् बिसहर (विषधर) हैं वे । सांसारिक जीवन जुआ है, सर्वस्व दाँव पर लगा देने पर भी हार-ही हार है । इसी तरह छल-प्रपंच (चोरी) करने से शरीर प्रापग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है, यदि इस संसार के सम्बन्ध से पीछा छुड़ा कर वन का सेवन किया जाता है, तो वहाँ न वृक्ष है, न फल है अर्थात् न तो परमात्मा की ही प्राप्ति होती है और न जीवन ही सुखी और शान्त रहता है । नगर में भ्रमण कर भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने में अनेक बाधायें हैं, लोग खरी-खोटी आलोचना करते हैं और भिक्षा की समुचित व्यवस्था के अभाव में साधन नहीं हो पाता है । सद्गुरूमत्स्येन्द्रनाथ के वात्सल्य (ज्ञानस्नेह) से पोषित गोरखनाथ ने इसीलिये अवधूत-मार्ग का वरण कर लिया और माया का साथ छोड़ दिया ।

(9)

गुरदेव स्यंभदेव सरीर भींतरिये ।
आत्मां उत्तिंम देव ताही की न जांणौ सेव ।
आंन देव पूजि-पूजि इमही मरिये ।।टेक।।
नवे द्वारे नवे नाथ, तृबेणी जगन्नाथ, दसवें द्वारि केदारं ।। । ।।
जोग, जुगतिसार तौ भौ तिरिये पारं ।
कथंत गोरषनाथ विचारं ।। 2 ।।

यह शरीर ही अनादि शिव (जो ज्ञान स्वरूप गुरू हैं) का अधिष्ठान है । शरीर स्थित आत्मा ही सर्व श्रेष्ठ देवता है । इस तत्व को न जानकर लोग व्यर्थ ही अन्य देवताओं की पूजा करते हैं । हमारे शरीर में नवद्वार हैं, इनमें शिवस्वरूप नवोंनाथ अधिष्ठित हैं, इड़ा, पिंगला के संगमस्थान सुषुम्ना में साक्षात् जगन्नाथ देव का निवास है और दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव निवास करते हैं, यह दसवाँ द्वार ही केदार धाम है, केदारनाथ भगवान् शिव, अलख-निरंजन, का केवलानुभवस्वरूप परमशिव का यहीं साक्षात्कार होता है । गोरखनाथ का सुदृढ़ मत है कि योगमार्ग ही मोक्ष प्रद मार्ग है, यह समस्त युक्तियों, साधनाओं का सारतत्व हैं, इसका आश्रय लेकर जीवात्मा भवसागर से पार हो जाता है ।

(10)

मनसा मेरी ब्यौपार बांधौ, पवन पुरषि उतपनां ।
जाग्यौ जोगी अध्यात्म लागौ, काया पाटण मैं जांनां ।।टेक।।
इकवीस सहंस षटसां आदू, पवन पुरिष जप माली ।
इला प्यंगुला सुषमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली ।। । ।।
षटसां षोडि कवल दल धारा, तहां बसै ब्रह्मचारी ।
हंस पवन ज झूलन पैठा, नौ सै नदी पनिहारी ।। 2 ।।
गंगातीर मतीरा अवधू, फिरि-फिरि बणिजां कीजै ।
अरध बहन्ता उरधैं लीजै, रवि ससि मेला कीजै ।। 3 ।।
चंद सूर दोऊ गगन बिलूधा, भईला घोर अंधारं ।
पंच बाहक जब न्यंद्रा पौढ़्या, प्रगट्या पौलि पगारं ।। 4 ।।
काया कंथा, मन जोगोटा, सत गुर मुझ लाषाया ।
भणंत गोरषनाथ रूढ़ा राषौ, नगरी चोर मलाया ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(मनसा ब्यौपार पार ब्रह्म सूं कीयौ । पवन करि पुरूष । मन बिनसतौ उपज्यौ । मनसा कहै रे जोगी मन अध्यात्म लागौ काया पटण मैं ।टेक । यकीस हजार छसै दम आदि का पुरष मन कै हाथि । जप माला दीनी ।

यड़ा मन पिंगुला पवन । सुषुमनां सुरति । अहनिस राति दिन । प्रनाली नाड़ि उलटि बहै । षटछह सांसू षोड़ि काया । कँवल मैं दहै करि परिसिध । पर-ब्रह्मचारी प्रांन । हंस ही पवन । जल ब्रह्म नौसै नाड़ि नदी सोई । पणिहारी आत्मां । गंगातीर तहि कै तटि । बणिज ब्रह्म सूं । चंद सूर मन पवन । गगन ब्रह्मद्वार । घोर अंधार गुणां कौ हूवै (पंच यंद्री पौढ़ी । सुंनि प्रगट्या दसवै द्वार । काया हो कन्था । मन जगोटा ।।)

हे मेरी मनसा ! (इच्छा) योगसाधना (व्यापार) में तत्पर होकर ब्रह्मानुभूति प्राप्त करने का समय आ गया है । प्राणपुरूष उत्पन्न हो गया है, मन और पवन का संयोग सम्भव हो गया है । (मन और पवन के योग अथवा प्राणायाम से) जागा हुआ (सचेत- सावधान) योगी आध्यात्मिक साधना में तल्लीन है । वह शरीर में ही विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिये मन को, उन्मन करने में लग गया है, वह शरीररूपी नगर (काया-पाटण) में प्रवेश कर उसमें विद्यमान परमात्मा की प्राप्ति द्वारा योगसिद्धि में सफल होना चाहता है । प्राणपुरूष अर्थात् बाहर-भीतर जाती हुई सांस ही उसकी जपमाला है और निरन्तर अजपाजाप में रत होकर वह हंस मंत्र सिद्ध करता है । इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर पवन प्रवाहित है । स्वाधिष्ठान चक्र (षटसां-षट्दलकमल) और विशुद्ध चक्र (षोडिकवलदल-षोडशदलकमल) की धारा में ब्रह्मपुरूष, आत्मा का निवास है । (सूक्ष्म तत्व की धारा से स्थूल का निर्माण हुआ है) स्वाधिष्ठान और विशुद्ध आदि चक्रों का निर्माण इसी धारा से हुआ है । नौ सौं नाड़ियाँ-नदियाँ पनिहारिन के रूप में प्राणधारा से हंस को सींचती हैं, जिससे आत्मारूपी वेलि पुष्पित होती है और इड़ा, गंगा के तट पर मतीरा - तरबूज, शीतलदायक अमृतोपम ज्ञान उत्पन्न होता है, इस ज्ञान का बार-बार जीवन में (व्यापार) करना चाहिए । नीचे बहने वाली अमृत-धारा को ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना चाहिए (पाताल की गंगा का यही ब्रह्माण्ड में चढ़ाया जाना है), इस तरह इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का सुषुम्ना में लय करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में इन दोनों नाड़ियों के लय से और सुषुम्ना की प्रधानता से (बाह्यार्थो के लिए) घोर अन्धकार हो गया, जिससे पंचेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों की गति (उसमें प्रवेश के

लिए) अवरूद्ध हो गयी, वे सो गयी और जीवात्मा के लिए ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में प्रवेश करने का सिंहद्वार, प्रधान द्वार (पौलि-पौर, पगार-परकोटा-परकोटे का द्वार) प्रकट हो गया अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के रसास्वादन का मार्ग खुल गया । मुझे गुरू से यह रहस्य विदित हो सका कि मनरूपी योगी की गुदड़ी कंथा उसकी काया है । मन जोगौटा (योगपट्ट) धारण कर उन्मनी समाधि में, ब्रह्म में अभिन्न हो उठता है । गोरखनाथ का ऐसा कथन है कि शरीररूपी नगर में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, ये छः शत्रु घूम रहे हैं, उनसे सदा सावधान रहकर परमात्मा, अलख-निरंजन परब्रह्म परमशिव का अजपाजप से हंसमंत्र की सिद्धि का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

(11)

अवधू बौल्या तत बिचारी, पृथ्वी मैं बकबाली ।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचंभा भारी ।।टेक।।
मन पवन अगम उजियाला, रवि ससि तार गयाई ।
तीनि रांज त्रिबिधि कुलं नांहीं, चारि जुग सिधि बाई ।। 1 ।।
पांच सहस में षट अपूठा, सप्त दीप अष्टनारी ।
नव षंड पृथी इकबीस मांही, एकादसि एक तारी ।। 2 ।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई ।
षोड़स कवल दल सोल बतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई ।। 3 ।।
दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदैं उलटि समांनां ।
भषंत गोरषनाथ मछींद्र नां पूता अविचल थीर रहांनां ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(अवधू बौल्या तत्व विचारी । तत्व ईश्वर बिचार । पृथी काया बंक सुरति बली समाई । अष्टकुली परबत काया । जल माया ।टेक। मन पवन परै अगन ईस्वर । रवि ससि पार गियाई । रवि ससि मन पवन तार तिमिर गियाई । (गिधाय-यथादृष्ट) गया । तीन गुण त्रिविध संसार नहीं । चारि जुग

में बाई। सिधिकरतां आया। पंच सहस मैं षट अपूठा। पंच सहस सुर कवंल बाय, षट प्राण कवंल सपत धात आठई बाय। मनी मनारी। द्वादस बाय कलात्रिकुट के बिषै। चवदैतबक ऊपरै चित मेल्यौ। षोडस कवल बतीस पंषुड़ी समझ्या जुरा गई। दसवै उनमनी। सम तति हूवा सबद ।।)

अवधूत ने अच्छी तरह विचार कर तत्व निरूपण किया है कि इस काया में (पृथ्वी में) ही समस्त ब्रह्माण्ड का ध्यान करना चाहिए, (इस पद में पूर्णिमा और अमावास्या को मिलाकर 16 तिथियों के बहाने योग का वर्णन किया गया है।) प्रतिपदा तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर इसकी अभिव्यक्ति की गयी है कि सबसे पहले तो यह आश्चर्य की बात है कि अष्टकुल पर्वत बिना जल के तैर गये, पार उतर गये। अष्टकुल पर्वत स्थूल काया है और जल माया है, काया में माया और आत्मा दोनों हैं, माया से रहित होकर योगसाधना से काया में ही परब्रह्म की प्राप्ति हो गयी, जीवात्मा कैवल्यपदमें स्थिर होकर जीवन्मुक्त हो गया। मन और पवन के संयम से, मन को उन्मन करने और प्राण का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय करने पर अलख-निरंजन की ज्योति का दर्शन होता है, मन और पवन द्वितीया तिथि के प्रतीक हैं, इनके संयम से अगम अपार परमात्म ज्योति के प्रकट होने पर सूर्य, चन्द्रमा, तारे निस्तेज हो जाते हैं। तृतीया तिथि का महत्व यह है कि त्रिगुण, सत्व, रज और तम की माया का राज्य समाप्त हो गया। योगसाधक त्रिगुणों के विकार से निर्मल होकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करता है और चतुर्थी (चौथे) का महत्व यह है कि चारों ओर सिद्धि का डंका बज गया, योगसिद्धि की बात फैल गयी। पंचमी का लक्षण यह है कि सहस्रार में स्थिति हो गयी और छठी का प्रतीक यह है कि जीवन की धारा उलट गयी (अपूंठा, पीठ की ओर हो गयी) साधक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो गयी। सप्तमी का लक्षण यह है कि अलख ज्योति का दीप जल उठा और अष्टमी के रूप में कुण्डलिनी (नारी) महाशक्ति का शिव में लय (अभिन्नत्व) हो गया। नौमी का आशय यह है कि काया के भीतर ही नवखण्ड पृथ्वी और इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थित हैं। शरीर में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सात द्वीप, सात लोक और सात समुद्र स्थित हैं, इनको शरीर में जानकर इनका ध्यान करने से इनके साक्षात्कार की सामर्थ्य मिलती है। नवखण्डों की स्थिति शरीर के नवों द्वार में हैं, एकादशी की प्रतीक एकतार

अथवा एकरस समाधि है । द्वादशी का अभिप्राय है इड़ा-पिंगला का त्रिकुटी में सुषुम्ना द्वारा मेल अथवा लय । (त्रयोदशी का उल्लेख नहीं है ।) चतुर्दशी का अभिप्राय है कि चित्त ब्रह्म में लीन हो गया है । पूर्णिमा अथवा अमावस्या का अभिप्राय यह है कि षोडश दलवाले कमल, विशुद्ध चक्र के सिद्ध होने पर योगी को बत्तीसों लक्षण प्राप्त हो गये और वह जरा-मरण तथा संसार के भय से मुक्त हो गया । दशमी तिथि, जिसका संकेत पहले न कर, अन्त में किया गया है, साधना की सम्पूर्ण सिद्धि की प्रतीक है कि उन्मनी समाधि के द्वारा योगी निरंजन स्वरूप में स्थित होकर दसवें द्वार में, शब्दब्रह्म में, अन्तर्लय में तल्लीन है, शिव और जीव की एकतानुभूति में अन्तर्हित है । इस तरह गोरखनाथ का कथन है कि जीवात्मा अपने मूल, परमात्मा में स्वस्थ हो गया ।

(12)

ऊं नमो सिवाई बाबू ऊं नमो सिवाइ ।
अह निसि बाइ मंत्र कोर्णै रे उपाइ ।।
भ्यंने भ्यंने अष्यरे जे देवै रे बुझाइ,
ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमारा ।।टेक।।
ऊंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा,
ऊंकार व्यापीले सकल संसारा ।
ऊंकार नाभी हृदै देवगुर सोई,
ऊंकार साधे बिना सिधि न होई ।। 1 ।।
नादैं लीना ब्रह्मा नादैं लीना नरहरि,
नादै लीना ऊमापति जोग ल्यो धरि-धरि ।
नाद ही तो आछै बाबू सब कछू, निधांनां,
नाद ही तैं पाइये परम निरबांनां ।। 2 ।।
बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै,
बाई षटचक्र बेघै अरधैं उरधैं मांधे फिरै ।
सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै बहै,
बाई कै प्रसादि ब्यंद गुरमुष रहै ।। 3 ।।

मन मारै मन म्रै मन तारै मन तिरै ।
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन भरै ।
मन आदि मन अंत मन मधे सार ।
मन ही तैं छूटै बाबू विषै विकार ।। 4 ।।
सक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी ब्यंद ।
बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद ।।
चारि कला रवि की जे ससि धरि आवै ।
तौ सिव सक्ती सम होवै, अन्त कोई न पावै ।। 5 ।।
एही राजा राम आछै सर्वे अंगे बासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू सहजि प्रकासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू समझि समांनां ।
बदंत गोरष हम हरिपद जांनां ।। 6 ।।

प्राचीन टीका

:

(अह निस राति दिन बाई ईश्वर बिनां बहै है । कौंण मंत्र कौंण उपाय बसि हो । ताका रे मैं चेला ।।टेक।। गुरू कहै ऊंकार जो छै सू मूल मंत्र छै । ताहि करिं संसार पंडित छै । नाभि हृदा बिचि बहै तो देवगुरू बतावा । सोते साधे बिना सिंधि नाहीं । ऊंकार करि नरहरि ब्रह्मा महादेव प्रसिधि है । नाद सबकौ निधांन । षटचक्रा कू बेंधिबे कूं बाई ही संम्रथ है । बाई ही स्रोहं द्वैं बित रष नहीं पिंड, बिषै असधि बहै । बिंदू कूं बाई जीते मन कूं मन मारै । त्रिभुवन में मन-मन दैषै । आदि मन हीं समाइसी (समदिसी-यथादृष्ट)। अति सुधि मनह । समझ्या काम । मन ही सूं विषै छूंटै अनि करणी नाहीं । बिंद रज की भांड है । बारा कला सूरज, सोला कला ससि । रज रेत सम जे ह्वै तब परम गति होय । यती समिं कीयां आपे आप है । पंच तत्व की समझि है ।)

ऊंकारस्वरूप (आदिनाथ) शिव का नमस्कार है, रातदिन प्राणवायु के चलते रहने से बराबर 'सोहं-हंस' मंत्र का जाप साँस के द्वारा होता रहता है, प्राणहंस मंत्र का यह अजपाजप अनवरत हो रहा है । प्राणवायु हकार की ध्वनि से बाहर और सकार की ध्वनि से भीतर आती जाती रहती है ।

(यही अजपा गायत्री है ।) इस प्राणविद्यास्वरूप हंस-मंत्र का मूल कौन है, कहाँ से यह मंत्र उत्पन्न है, यह बड़े रहस्य का विषय है । इसके भिन्न-भिन्न दोनों अक्षरों के रहस्य का उद्घाटन अथवा प्रकाशन योगसिद्ध गुरु के द्वारा ही होता है, निस्सन्देह जो इस हंस-मंत्र का स्वरूपबोध प्रदान कर दे, वही हमारा गुरु है । इस प्राण-मंत्र (प्राणहंस) की उत्पत्ति ऊँकार से ही है । समस्त सृष्टि, जगत् के प्राकट्य का मूल ऊँकार ही है । ऊँकार ब्रह्म ही हमारे नाभिदेश (स्वाधिष्ठान चक्र) और हृदय (अनाहतचक्र) में स्वाभिव्यक्त अथवा सहज विद्यमान है । ऊँकार ही देवता (परमशिव महादेव) है, ऊँकार ही गुरु है । योगसिद्धि ऊँकार की उपासना से ही सम्भव है । मूल ऊँकार का अभिव्यक्त रूप नाद है, नाद ही में ब्रह्मा, नरहरि (विष्णु) और उमापति (महादेव महेश्वर) लीन हैं, उनकी लीला-भिव्यक्ति का माध्यम ऊँकारस्वरूप नाद ही है, इस नाद में ही लव लगाकर (चित्तवृत्ति का लय कर) योग की साधना से ऊँकाररूपी परमधन, कैवल्यपद (निर्वाण) को प्राप्त करना चाहिए । प्राणवायु इड़ा और पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होकर सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर शरीर की चौसठ सन्धियों को निनादित करती हुई सहस्रार में प्रवेश कर अनाहतनाद में लीन हो जाती है और सहस्रार में संरचण करती रहती है और इस तरह षट्चक्रों के भेदन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती है । यह प्राणवायु सोहं रूप में अभिव्यक्त होकर हंस-मंत्र का रूप धारण कर लेती है और इसके (प्राण-अपान के) समरसत्व के फलस्वरूप बिन्दु ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और इस तरह योगसाधक का शरीर मृत्यु का ग्रास होने से बच जाता है । वायु, प्राण को शरीर में स्थिर करने पर मन भी स्थिर हो जाता है, वह मर जाता है (उन्मन हो जाता है), इस तरह मन ही मारनेवाला है और स्वयं अपने (मन के) मरण का साधन भी है, वह अमनस्क होकर जीवात्मा को मुक्त करता है और स्वयं उन्मन हो जाता है (तर जाता है), मन के स्थिर होने पर त्रिभुवन तर जाता है, मन ही शिव (आदि) है, मन ही समस्त षट्चक्रभेदन आदि अन्तर्साधनाओं का माध्यम है और वही अन्तिम (कैवल्य) अवस्था, परममुक्ति प्रदान करने का भी अमोघ साधन है । बाह्य विषय-विकारों का अन्त मन को ही वश में करने से सम्भव हो जाता है, रज ही शक्ति है, शिव बिन्दु है । मूलाधारस्थ अमृतशोषक सूर्य बारह कलाओंवाला है और सहस्रार में स्थित

अमृतस्रावक चन्द्रमा सोलह कलाओं का है, विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से बारह कलावाले शक्तिमान सूर्य को ऊपर और तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्र को नीचे कर शेष चार कलाओं के द्वारा योगी अमृतपान कर दिव्य देह की प्राप्ति करता है । बिन्दुरूपी शिव ही चन्द्रमा हैं और रजरूपिणी शक्ति ही सूर्य है । इन दोनों के समरसत्व से योगी अमरकायत्व प्राप्त करता है । यही शरीर में व्याप्त परब्रह्म राजाराम के सहज स्वरूप का बोध है । पाँचों तत्व का यथोचित प्रकाशन इसी परमात्मानुभूति का फल है । पाँचों तत्व इस बोध के परिणामस्वरूप परब्रह्म में अन्तर्लय प्राप्त कर उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं । गोरखनाथ का वचन है कि यही हरिपद, परमपद की प्राप्ति है, महायोगज्ञान है ।

(13)

अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई ।
अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई ।।टेक।।
कवल बदन काया करि कंचन, चेतनि करौ जपमाली ।
अनेक जनम का पातिग छूटै, जपंत गोरष चवाली ।। । ।।
एक अषीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वांणी ।
प्यंड ब्रह्माण्डसमि तुलि ब्यापीले, एक अषिरी हम गुरमुषि जांणीं ।। 2 ।।
द्वै अषिरी दोई पष उधारीला, निराकार जापं जपियां ।। 3 ।।
जे जाप सकल सिष्टि उतपंनां, ते जाप श्रीगोरषनाथ कथियां ।। 3 ।।
त्रिअषिरी त्रिकोटी जपीला, ब्रह्मकुंड निज थांनं ।
अजपाजाप जपंता गोरष, अतीत अनुपम ग्यांनं ।। 4 ।।
चौ अक्षरी चतरवेद थापिला, चारि षोंणी चारि वांणी ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, अजपा जपिला धीर रहांणी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जाप समझौ तिहि करि अगम जपीए ।टेक। बदन प्रांन सुसम भजतां । काया कंचनी बसि होवै । तौज होय चवै कहै । एक अक्षर यड़ाकार कुंभक सुंनि नाभि बांणी बसि हुई जो पिंड-ब्रह्माण्ड में समतत हैं । द्वै

अज्ञरी दूजी नाड़ी। दोय पष पांन अपांन। तिहि कारे भौ पार उतरे। त्रे अक्षरी सुषमन त्रेमंत्र जपी। ब्रह्मकुण्ड ब्रह्मद्वार चौ अज्ञरी परा चारे षांणी चारि बांणी बसि हुई।)

हे अवधूत! दुर्लभ मनुष्य-शरीर की प्राप्ति का पुण्य फल है कि सदा अगम सर्वातीत अलख-निरंजन परमात्मा का चिन्तन होता रहे, यही जप है। यह चैतन्यघन परमात्मा ही जपमाला है, इसका अच्छी तरह तत्वतः ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। परमात्मारूपी जपमाला पर चित्त की वृत्ति का लगा रहना परमफल है। इसका रहस्य विरला (योगसिद्ध) ही समझ पाता है। जप की माला परमेश्वर है, कमल (चक्र), जो शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के रूप में विद्‌यमान हैं, जप करते रहने के लिये मुख हैं, प्राण-अपान का सामरस्य इन्हीं चक्रों के भेदन का फल है और प्राण का इस तरह सहस्रार में पहुँच जाना ही जप का फल है, यह कंचनकाया ही इस माला के मनके के रूप में हमें प्राप्त है। इस तरह की माला पर अगम का जप करते हुए गोरखनाथ का कथन (चवाली) है कि जन्म-जन्म के पातकों का, परमात्मा से विमुखतारूपी अपक्रमों का कुफल नष्ट हो जाता है और गोरखनाथ जी का कथन है कि हम पंचाक्षर, द्वादशाक्षर, षोडशाक्षर आदि मंत्रों का जप नहीं करते हैं, हमारा मंत्र तो केवल एकाक्षरी है, अलख-निरंजन अगम परमशिव के स्वरूप का वाचक, स्थूल और आभ्यन्तर (शून्य तथा स्थूल), दोनों तरह की वाणियों से परे अथवा अतीत है। यह शून्याकार महत्तत्व अलख के ध्यान में चित्तवृत्ति का लय कर देने वाला सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्राणविद्या, महाविद्या, अथवा एकाक्षर (एकमात्र परमात्मबोधक) महामंत्र है। एक चैतन्यमंत्र स्वरूपतः पिण्ड और समस्त ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त है। निराकार से ही साकार सृष्टि उत्पन्न है। अक्षर मंत्र के जप से हमने (गोरखनाथ ने) त्रिकुटी में ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अजपाजप (प्राणहंसगायत्री मंत्र के जप) से परम शिव, अलख-निरंजन का अनुभव कर लिया है। सृष्टि में उद्‌भिज, उष्मज, अण्डज और पिण्डज-चार प्रकार के प्राणियों में परब्रह्म व्याप्त है। पिण्ड में यथाक्रम रोमावली, हड्डी, नेत्र और वीर्य के रूप में अवस्थित है, इनमें परमात्मा, चैतन्य, पुरूष, प्राणपुरूष, परमहंस, अलख

निरंजन विद्यमान है, इसी तरह परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के रूप में शरीर में सहज, संयम, सुपाइ, अतीत की विद्यमानता है । वैखरी साधक की क्रिया-शक्ति मध्यमा, (ज्ञानमयी) बुद्धिवृत्ति अथवा ज्ञानशक्ति, परम परमेश्वर की प्राप्ति अथवा स्वरूपानुभूति की वृत्ति का द्योतन करती है । यह समरसावृत्ति है । गोरखनाथ की महार्थमंजरी रचना 49 में स्वीकृति है - 'वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक् । इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा (परा) समरसावृत्तिः ।।'

मत्स्येन्द्रनाथ के कृपापात्र गोरखनाथ का कथन है कि यही चतुरक्षरी मंत्र है । शरीर में प्राण की यही सार्थकता है कि वह निरन्तर परमात्मा के चिन्तन का साधन बनते हुए जीवात्मा को भवसागर से पार उतारने का सम्बल बन जाय । यही एकाक्षरी मंत्र की सहज सिद्धि है ।

(14)

रमि रमिता सौं गहि चौगानं, काहे भूलत हौ अभिमांनं ।
धरंन गगन बिचि नहीं अंतरा, केवल मुक्ति मैदांनं ।।टेक।।
एक मैं अनंत अनंत मैं एकै एकै अनंत उपाया ।
अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया ।। । ।।
अहरणिनाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षाला पवनं ।
मूल चापि डिढ़ आसण बैठा, तब मिटि गया आवागवनं ।। 2 ।।
सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगांग चित चवका ।
चेतनि असवार ग्यांन गुरू करि, और तजौ सब ढबका ।। 3 ।।
तिल कै नाके तृभवन सांध्या, कीया भाव विधाता ।
सौतौ फिर आपणही हूवा, जाकौ ढूंढण जाता ।। 4 ।।
आस्तिकहूँ तो कोइ न पतीजै, बिन आस्ति (अनंतसिध) क्यूं सीधा ।
गोरष बोलै सुणौ मछिंद्र, हीरै हीरा बीधा ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(अहरणि नाद-बिंद की काया । ताती सीली नाड़ी ए पवन । मूल द्वार पाचौ आसन करि ।।टेक।। सहज़ ही पलांण । पवन का घोड़ा । ल्यौ

लगाम । चित्त चाबक । चेतन असवार । ग्यांन गुरू । तिलं ब्रह्मद्वार हीरौ पांन । अहीर अपान) ।

जीवन चौगान का खेल है, (चौगान के खेल में लकड़ी के बल्ले से गेंद को उछाला जाता है ।) हमारे शरीर में परब्रह्म अलख निरंजन परमशिव परिव्याप्त है, उससे जीवात्मा का अभिन्नत्व-स्थापन ही चौगान खेल की, योग-साधना की सिद्धि है, शरीर ही ब्रह्मसाक्षात्कार का विस्तृत क्रीड़ाक्षेत्र है, इसमें रमण करनेवाले राम, परब्रह्म अन्तर्लय ही जीवात्मा के जीवन की सिद्धि अथवा विजय है । (गोरखनाथ सावधान करते हैं कि) अहंकार ही अविद्या है, जो परमात्मा और जीवात्मा के सामरस्य में आवरण है, इस अहंकार को, मिथ्या कर्तृत्व के अपने आप पर आरोपण को नष्ट कर देने से परमात्मा की प्राप्ति होती है । धरा (मूलाधार) और गगन (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र) के बीच दूरी नहीं है, सर्वत्र समान रूप से अलख निरंजन चैतन्य, सच्चिदानन्द परब्रह्म व्याप्त है, इस विस्तृत क्षेत्र को ही मुक्ति-प्राप्त का कैवल्यपद की सिद्धि का असीम और आवरण-रहित मैदान कहा जाता है । इस विस्तृत पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म की निरन्तर क्रीड़ा होती रहती है । सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म अभिव्यक्त है । जीवात्मा (योगसाधक) उससे सर्वथा अभिन्न है, एकरस सम्बद्ध है । यह क्रम सदा बना रहता है । इसी क्रम को सदा अभिन्न रखने की युक्ति यह है कि मूलबन्ध में आसन लगाकर, सिद्धासन में स्थित होकर जीवात्मा मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को षट्चक्र के भेदन द्वारा जगाते हुए सहस्रार में स्थित परम शिव में अभिन्न कर जन्म-मरण, आवागमन (बार-बार शरीर धारण करने) से मुक्त होकर, जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित होकर अमरकायत्व प्राप्त कर ले । प्राणायाम के बल से नाद-बिन्दु को सहस्रार में एकात्मकर जीवन्मुक्ति का वरण करना चाहिए । बिन्दु (वीर्य) रूपी हथौड़े से नाद की निहाई पर रवि-शशिरूपी नलिकाओं से (इड़ा-पिंगला नाड़ियों से) प्राण को प्रवाहित कर सहस्रार में नाद-बिन्दु की एकता स्थापित कर परमात्मा का साक्षात्कार ही स्वर्णकाररूपी जीवात्मा का अभीष्ट है । इस चौगान के खेल में सफलता प्राप्त करने का साधन यह है कि योगसाधक पवनरूपी घोड़े पर (प्राणायाम में) सहज के जीन पर स्थित होकर लय की लगाम लगाये और चित्त को चाबुक बनाकर

क्रीड़ा-क्षेत्र में (योग-साधना के क्षेत्र में) उतर पड़े, प्रवेश करे, गुरू के पथ-प्रदर्शन में क्रीड़ा करते हुए, खेल खेलते हुए (जीवात्मारूपी असवार) अन्य उपायों को त्यागकर सफलता प्राप्त करें । (गोरखनाथ की प्रेरणा है कि) चेतन, जीवात्मा इस तरह गुरू के ज्ञान प्रकाश में योगसाधना कर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाये । मैंने ब्रह्मानुभव प्राप्त कर लिया, ब्रह्म मुझसे (जीवात्मा से) तिलमात्र भी भिन्न नहीं हैं, मैंने त्रिभुवन में उसका संधान किया, खोज की पर वह अपने भीतर ही व्याप्त, अनुभवानंदस्वरूप में अभिव्यक्त है । परमेश्वर के अनुग्रह से (हृदय में परमात्मा की कृपा की ज्योति प्रकट होने पर) मैं वही हो गया, जिसे मैं त्रिभुवन में खोजता फिरा, मुझे पता चल गया कि मैं परब्रह्म ही हूँ, अलख निरंजन परमशिव मैं, कैवल्यपद में स्वस्थ हूँ । परमात्मा है, वह हमारे भीतर हैं, ऐसा कहने मात्र से लोग विश्वास नहीं कर लेते हैं, वह अनुभवगम्य है, अगम होते हुए सहज सुगम है पर उसके साक्षात्कार के लिये ज्ञाननेत्र का उन्मीलन आवश्यक है । गोरखनाथ का अपने गुरू से निवेदन है कि आत्मा से ही परमात्मा की पहचान, परख होती है, काया के राज्य में भ्रमण न कर आत्मराज्य में विचरण करना चाहिए । परमात्मा के साक्षात्कार का आधार आत्मा है ।

(15)

तत बणिजील्यौ ततबणिजील्यौ, ज्यूं मोरामन पतियाई ।।टेक।।
सहज गोरषनाथ बणिज कराई । पंच बलद नौ गाई ।
सहज सुभावै वाषर ल्याई । मोरै मन उडियांनी आई ।। । ।।
सुरहट घाट अम्है बणिजारा । सुंनि हमारा पसारा ।
लेण न जाणौं देण न जाणौं, ऐसा बणज हमारा ।। 2 ।।
भणंत गोरषनाथं मछिंद्र का पूता ऐसा बणिज ना अरथी ।
करणी अपणी पार उतरणां, बचने लेणां साथी ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(तत नाम । पंचभूत नौ गाय । मन बछौ (वत्स) । नौ द्वार बाखर बरह वरत । उडियान अडिग । सिरांकौ हाट सुंनि । अभ्यास बनिज । कूड़ा

लैन दैन ।)

परमात्मतत्व (रूपी रत्न) ही इस जगत् में अमूल्य पदार्थ है, मैं उसी का वाणिज्य करता हूँ । (हे अवधूत) इस परमात्मतत्व को सदा सुरक्षित रखना चाहिए, इससे मन में यह विश्वास हो जायेगा, यह सहज ज्ञान का व्यापार है । मैं बनजारा हूँ । इस सहज ज्ञान को मैं अपने पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी बैलों पर तथा शरीर में स्थित नव द्वाररूपीगायी के सहारे करता हूँ । पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और नवोंरन्ध्र शरीर रूपी बखार (पदार्थ सुरक्षित रखने के स्थान) से इस पदार्थरत्न को जागतिक मायामोह में लुप्त नहीं होने देते हैं । ये उपकरण ही हमारे व्यापार के सहज साधन हो गये हैं, ये बाह्य विषयों में प्रवाहित न होकर निरन्तर प्राण का संयमन करते हुए परमतत्व के साक्षात्कार में (जीवात्मा को) प्रवृत्त करते हैं । मेरा मन ऊँची उड़ान लेता है, उन्मन होता जाता है, मैं ऊँचे घाट (सुरहट) सहस्रार प्रदेश, ब्रह्मरन्ध्र और शून्य का व्यापारी हूँ, शून्यस्थ परब्रह्म का ही व्यापार होता है, इसके बदले में लेन-देन की बात ही नहीं है, यह स्वतः स्वरूपबोध है । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि अपनी साधना और सदाचार के बल पर इस व्यापार में जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति कर स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेना चाहिए ।

(16)

मांहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि जोगी जोगणि संग न छोड़े ।
मानसरोवर मनसा झूलंती आवे, गगनमंडल मठ मांड़े रे ।।टेक।।
कौंण अस्थांनिकि तोरा सासू नै ससुरा, कौंण अस्थान का तोरा बासा ।
कौंण अस्थांन क तूनै जोगणि भेंटी, कहाँ मिल्या घर बासा ।। 1 ।।
नाम अस्थांन -क मोरा सासू नै ससुरा, ब्रह्म अस्थांन -क मोरा बासा ।
इडाप्यंगुला जोगणा भेंटी, सुषमन मिल्या घर बासा ।। 2 ।।
कांम क्रोध बाली चूनां कीधा, कद्रप कीया कपूर ।
मन पवन दो काथ सुपारी, उनमनी तिलक सींदूरं ।। 3 ।।
ग्यांन गुरू दोऊ तूबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी ।
उनमनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णां षांडी ।। 4 ।।

एण सतगुरि अम्है परणाव्यां, अबला बाल कुंवारी ।
मछिंद्र प्रसाद श्रीगोरषबोल्या, मायानां भौटारी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जोगणि मनसा । मन जोगी । मन सरोवर ईश्वर । गगन ब्रह्म । मठ आसन ।टेक। सासू सुरति ससुरौ सबद । जोगणि मनसा । नाभि बसै ब्रह्म अस्थांन के बास ।)

हमारा विरागी, वैराग्यराज का निवासी योगी मन है, यह मन रात-दिन योगिनी (महामाया कुण्डलिनी) के साथ भोगासक्त रहता है, निरंतर वैराग्यरस का आस्वादन करते हुए कुण्डलिनीरूपी योगिनी के सहवास में परमानन्द, सच्चिदानन्द, ब्रह्मानन्द में निमग्न रहकर कैवल्य पद में अलख-निरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है । यह इच्छास्वरूपिणी-दिव्यकामस्वरूपिणी महामाया कुण्डलिनी पराम्बा मनरूपी मानसरोवर में झूलती (विहार करती) है और गगनमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अपने निवास के लिये, परम शिव के मिलनसुख के योग के लिये अपनी मढ़ी (मठ) या मन्दिर बना लेती है, उन्मनी समाधि में स्थिर होकर सहस्रार में प्रकाशित अथवा अपने मूल स्वरूप (आदिनाथ) में अभिव्यक्त हो उठती है ।

(गोरखनाथ का मनरूपी योगी से प्रश्न है कि) हे योगी । तुमने जिस योगिनी का (कुण्डलिनी, मायाशक्ति का) संग प्राप्त किया है, उसके पिता और माता कौन हैं अर्थात् तुम्हारे सासु-ससुर कौन हैं, कुण्डलिनी योगिनी से भेंट होने पर तुम उसके साथ किस स्थान पर रहते हो । (जीवात्मारूपी) योगी का उत्तर है कि (यद्यपि महामाया आदिमाया है, उसके माता-पिता नहीं है, वह मूल माया और अक्षतयोनि बालकुमारी है तथापि) जिस योगिनी का मुझे सहवास प्राप्त है, वह मूलाधार चक्र में निवास करती है; वहाँ स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर वह विराजमान रहती है, इस मूलाधार के अधिपति देवता ब्रह्मा हैं, इसलिये प्रकारान्तर से उन्हें इस योगिनी का जनक, पिता कहा जा सकता है, मणिपूर अथवा नाभिचक्र महाविद्या, ब्रह्मा की प्राणसंगिनी प्राणविद्या गायत्री ही उसकी माँ है, जननी स्वीकार की

जा सकती है । रूप की (स्थूलाकार) दृष्टि से (क्योंकि कुण्डलिनी तो स्वाभिव्यक्ति है, अपने आप में ही उसकी स्वरूपस्थिति है) नाभि में प्राणवायु प्राणहंस का जप ही अजपाजाप महागायत्री है, इसी के द्वारा कुण्डलिनी महामाया प्रबुद्ध होती है और इसके प्रबुद्ध स्वरूप के साथ सुषुम्ना में मेरा विहार, रमण आरम्भ हो जाता है, सुषुम्ना में ही मैं निवास करता हूँ और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में मूलमाया योगिनी (कुण्डलिनी) का परम शिव से साक्षात्कार होने पर मैं तादात्म्य अथवा अन्तर्लय प्राप्त करता हूँ । (मनरूपी योगी का कथन है कि मैंने काम, क्रोध को जलाकर चूना (भस्म) बना डाला और इस तरह मुझे काम-विकार विमुग्ध अथवा पतनोन्मुख नहीं कर सका, मन को मैंने कत्था, पवन (प्राण) को सुपारी बना डाला तथा उन्मनी समाधि की अवस्था मेरे भाल का सिन्दूरी तिलक बन गयी, ज्ञान और गुरू, (आत्मज्ञान और गुरूपदेश) इन दोनों को मैंने तूँबा बनाकर तथा उन्हें मनसा (इच्छा) की डांडी पर उन्मनी समाधिरूपी ताँत से कसकर तम्बूरा का रूप प्रदान किया, इस तम्बूरे पर (वैराग्य का) महाराग, संगीत प्रस्फुटित हो उठा, मैं नाद ब्रह्म में तल्लीन हो गया और मेरी तृष्णा-वासना, भौतिक जगत् के विषयसुखोपभोग में रमण की कामना का अन्त हो गया । इस तरह आत्म-ज्ञान के प्रकाश में सद्गुरू देव के अनुग्रह और स्नेह-वात्सल्य से मैंने आजीवन कुमारी, पराशक्ति, परामबा, महाकुण्डलिनी शिव योगिनी से अपने शिवस्वरूप में चिरसम्बद्ध हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि इस तरह मनरूपी योगी ने माया को शिवस्वरूप में स्थित होकर अपने वश में कर लिया और भवबाधा, माया के अविद्यारूप से उत्पन्न भय का नाश हो गया । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी, मन की उन्मनी समाधि में ।

(17)

ततबेली लो ततबेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणी ।
डाल न मूल पहुप नही छाया, बिरधि करै बिन पांणी ।।टेक।।
काया-कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बेलि रूपांणी ।
पुरिष पांणती करै धणियांणौं नीकै बालि धरि आंणी ।। । ।।

मूल एद्वा जेद्वा ससिहर अवधू, पांन एद्वा जद्वा भांणं ।
फल एद्वा जेद्वा पूनिम चंदा, जोउ-जोउ जांण सुजांणं ।। 2 ।।
बेलड़ियां दौं लागी अवधू, गगन पहुँची झाला ।
जिम-जिम बेली दाझबालागी, तब मेल्हे कूंपल डाला ।। 3 ।।
काटत बेली कूँपलमेल्ही सीचतड़ाँ कुमलाये ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नितनबेलड़ी थाये ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(तत बेलि आत्मां । डाल करम । मूल मन प्रकृत, छाया नहीं । माया जल बिनां बधै ।टेक। कुंजर मन । काया वाड़ी । बेलि आत्मा सुबधि । धरती रोपी पुरष प्रांन । मूल एद्वा । ससि चंद्र पांन भांण । सूरिज पवन । फल पूनिम । चंद ग्यांन गगन ब्रह्म । झाल बिरह । दाया लहै काटत कूंपल-मेल्है । स्वाद सीच्य कुमलावे ।)

आत्मा अथवा परमात्मा को आच्छादित करने वाली तत्ववेलि को, माया को मैंने (गोरखनाथ ने) समझ लिया है । हे अवधूत ! यह माया हमारे शरीर में और समस्त लोकलोकान्तर, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और नित्य स्थित है । यह बन्धनकारिणी मायावेलि विचित्र है, न तो इसका मूल है (उत्पत्ति का पता है), न इसके डाल-पुष्प और छाया का ही पता है, यह बिना सीचे ही अपने आप बढ़ती रहती है । हे अवधूत ! इस काया-कुंज की रमणीय फुलवारी, वाटिका में सद्गुरू ने इस तत्ववेलि का रोपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य स्वरूप में स्थित होता है और इसमें नहीं उलझता है अर्थात् सद्गुरू-ज्ञान के प्रकाश में यह पता चला कि इस शरीर में तत्वबेलि है । इस माया को, तत्वबेलि को परमात्मसाक्षात्कार का साधन भी कहना संगत है । इस तत्वबेलि का मूल सहस्रारस्थित चन्द्रमा में है और इसका पूर्ण विस्तार, प्रसार और पुष्पित-पल्लवित रूप मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य में है । यह माया ऊर्ध्वमूल और अधः शाख है । चन्द्रमा शीतल आत्मज्ञानामृत का बोधक है और सूर्य भौतिकता, सांसारिक विषय-सुख के विस्तार का प्रतीक है । विलक्षण बात तो यह है कि कोई-कोई बिरले ज्ञानी ही माया के मूलअधिष्ठानं, सहस्रारस्थित चन्द्रमा के अमृत, ज्ञानामृत का

आस्वादन (सदुपयोग) कर पाते हैं । माया-बेलि भव-दुःख की अग्नि से प्रज्वलित होने पर ऊपर बढ़ती है, विकसित होती है । ज्यों-ज्यों यह जलने लगती है, त्यों-त्यों इसकी शाखाओं में नई-नई कोंपलें आने लगती हैं। यह मायावेलि काटने पर नष्ट नहीं होती, इसके विपरीत वह अत्यधिक पल्लवित होती है, और जितना ही ज्ञानामृत से इसका सिंचन किया जाता है, उतनी ही कुम्हलाती जाती है । यह माया-वेलि-संसार के प्राणियों के लिये निरन्तर बन्धनकारिणी है । अध्यात्म-साधक अपने स्वरूप की प्राप्ति कर इसको प्रभावहीन कर देता है । सद्‌गुरुमत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का वचन है कि यह मायावेलि नित्य नवीन बनी रहती है । यह माया संसार में फँसाती है और संसार से मुक्ति भी देती है ।

(18)

बूझौ पंडित ब्रह्म गियानं, गोरष बोलै जाण सुजानं ।।टेक।।
बीज बिन निसपती मूलबिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।। ।।
गगन बिना चंद्रम ब्रह्‌माण्ड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणैं ता घटि परम गियानं ।। 2 ।।
सुंनि न अस्थूल लिंग नहीं पूजा, धुनि बिन अनहद गाजै ।
बाड़ी बिन पहुप-पहुप बिन साइर पवन बिन भृंगा छाजै ।। 3 ।।
राह बिन गिलिया अगांने बिन जलिया, अंबर बिन जलहर भरिया ।
यहु परमारथ कहौ हो पंडित, रूग जुज स्यांम अथरबन पढ़िया ।। 4 ।।
ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं ।
गंग जुमन बिच षेलै गोरष, गुरू मछिंद्र प्रसादं ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बीज कांम । निसपती ग्यांन । मूलमाया बिनां पांण तरवर । पांन परकीरति । फूल कांमनां । बांझ का पूत ग्यांन । लिंग प्रांण । बाड़ी काया रहत ईश्वर । कँवल काया । भृंग मन । स्वांसवेद । सोहं बाणी । गंगजमनां स्वास उसास । बिचि गोरष षेलै ।)

हे विद्वानो । ब्रह्मज्ञान को समझो, यह परमार्थ है, यह साधना से साध्य और अनुभवगम्य है, शब्दातीत है, मैं (गोरखनाथ) ने इस परमार्थ का (अपने गुरूप्रदत्त महायोगज्ञान के प्रकाश में) योगसाधना के द्वारा अनुभव कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया है । परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, यह निर्बीज है । यह निर्मूल है, मूलमाया प्रकृति से इसकी उत्पत्ति नही है, मूलमाया तो इसका स्वयं उपाश्रय करती है और यह शाश्वत चेतन शक्ति के रूप में आभासित होता है । वह सकाम होकर भी पूर्ण निष्काम है, प्रकृति का अधिष्ठान होकर भी, स्वाश्रय होकर उससे परे हैं, यही इस परमात्मवृक्ष का पुष्प और पत्र के बिना फलना है । स्वज्ञानस्वरूप परमात्मा परब्रह्म अलख-निरंजन कारणरहित है, चिन्मय निराकार होकर साकार और कार्य ब्रह्म-सा प्रतीत होता है । यद्यपि यह प्रतीतिमात्र ही है, उसके स्वरूप में विकृति (प्रकृति की परिणति) है ही नहीं यह सम्भव नहीं है कि बन्ध्या पुत्र पैदा करे, पुत्र की उत्पत्ति में रज़-बिन्दु (वीर्य), प्रकृति पुरूष के स्त्रीत्व-पुरूषत्व की प्रधानता है, केवल यह कथन मात्र है कि बन्ध्या पुत्र-प्रसव करती है । इस तरह यह असम्भव है कि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन हो सके, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो शब्दातीत है, अनुभवगम्य है । सूर्य (प्यंगुल) का चन्द्रमा के घर में (सहस्रार) में चढ़ना, जीवात्मा का परमात्म्-साक्षात्कार कर लेना अनुभवस्वरूप है, शब्दसाक्ष्य नहीं है । सूर्य-चन्द्रमा का समरसैक्य असाधारण बात है । बिन्दु शिव है, चन्द्रमा है, सूर्य रज है, प्राण-वायु के द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) का चालन होने पर रज का बिन्दुरूपी चन्द्र से सामरस्य सिद्ध होने पर सहज स्वरूप में स्थिति हो जाती है । (तरवरि, तरूवर) चन्द्रमा के घर में यही सूर्य का चढ़ना है, और इस तरह जीवात्मा - परमात्मा परब्रह्म शिव के अमृतस्वरूप में स्थित हो जाता है । यह परमात्मज्ञान अथवा परमात्मतत्व ऐसा चन्द्रमा है, जो गगन (आकाश) में निराधार है, निरालम्ब है, शून्य है, परमात्मा ऐसा सूर्य है, जो ब्रह्माण्ड से परे है । वह ऐसे कर्तृत्व का शक्ति-केन्द्र है, जिसका क्षेत्र असीम है, वह युद्धक्षेत्र से परे युद्धकार्य का कर्ता है, उसका कर्तृत्व युद्ध-क्षेत्र की सीमा से परे का कार्य है । अलख-निरंजन परमशिव का यही परमात्मतत्व है, इसी परमात्मज्ञान को परमार्थ कहा जाता है, जो इस परमार्थ को जान जाता है, जो सद्गुरूदेव द्वारा कृपापूर्वक प्रदत्त योगज्ञान से परमात्मा

में अपना अभिन्नत्व समझ लेता है, उसी के भीतर (हृदय में) परमात्मज्ञान अथवा परमज्ञान अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित हो उठता है। परमात्मा न शून्य है, न स्थूल है (साकार) है, उसका लिंग, कोई आकृतिपरिचायक लक्षण भी नहीं हैं, न पूजा ही है, अथवा पूजा से (स्वकर्म द्वारा उसकी अभ्यर्चना से) सिद्धि, कामना-पूर्ति, आत्म-साक्षात्कार तो हो जाता है, पर उसकी प्राप्ति पूजा से नहीं होती है, परमात्मा सिद्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का आलम्बन तो है पर परमात्मा निरालम्ब है, इसलिये पूज्य होकर भी वह पूजा से परे है। वह यद्यपि शब्दाकार (भी) है, शून्य में आकृतिवान है, शून्याभिव्यक्त है, तथापि ऊँकार (शब्द मंत्र) से परे परम सत्ता के रूप में शब्द, वेद से भी परे होकर, नेति-नेति की सहज अनाहत धारा में स्थित है, महाभावस्वरूप है, अपनी परमाह्लादिनी शक्ति में सहज विद्यमान है। वह रमणीय उपवन का पुष्प है, पर यह उपवन लोकोत्तर, अलौकिक, चिन्मय है, यह परमात्मपुष्प ऐसे सौरभ का सन्निधान है, जिसका आधार-पुष्प प्रकृति सौन्दर्य से परे है, इस सौरभ की गति वायु अथवा पवन के अधीन नहीं है, इस सौरभ से आकृष्ट होकर असंख्य साधकों के मनरूपी भृंग पुष्प-रस (कमल-पुष्प के मकरन्द) के लोभ से, परमात्मरस की अनुभूति के लिए इसके अभिमुख रहते हैं। इसकी सर्वत्र गति है, यह परमात्मा अलख-निरंजन किसी विशेष निर्दिष्ट पथ पर प्रकट नहीं है, गतिमान नहीं है, सहज शून्य में स्थित, परमाकाश में विराजमान शाश्वत चैतन्य है, गति से परे है, यह सम्पूर्ण तेज है, अग्नि का अधिष्ठान है, इसके तेज से समस्त सृष्टि प्रकाशित है अथवा समस्त विकृति का उच्छेद हो जाता है, यह ऐसा बादल है, जो शून्यस्थ, आकाशस्थ नहीं है, शून्य से भी परे हैं और इसके रस से चराचर संतृप्त और अमृतत्व में स्थित हैं। हे वेद के विद्वानों! इस परमार्थ का रहस्य कहो, यह रहस्य वेद भी नहीं कह सकते। यह परमात्मा स्वसंवेद्य है, यह स्वप्रकाश है, यह धरती, आकाश, और जल तत्व से परे परमात्महंस, प्रकाशब्रह्म अनुभव से साक्षात्कार का विषय बनता है, इड़ा, पिंगला, गंगा-यमुना (नाड़ियों) में प्राण को प्रवाहित कर सुषुम्ना (सरस्वती) में संगम के फलस्वरूप त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा के प्रकाश का स्वानुभव होता है, इसी संगम में (गोरखनाथ) मैं सद्गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से

नित्य बिहार करता हूँ, प्रकृति से परे होकर अकुल साधना-एकमात्र शिव अलख निरंजन का शून्यपद-सहस्रार में यौगिक ज्ञाननेत्र से दर्शन करता हूँ, निस्सन्देह परमात्मा सर्वाधार, निराधार निरंजन परब्रह्म शिव है ।

(19)

बदत गोरषनाथ दसवीं द्वारी सरग नै केदार चढ़िया ।
इकबीस ब्रह्मण्ड ना सिषर ऊपरि, ससमवेद ऊचरिया ।।टेक।।
द्वादसदल भींतरि रवि सक्ती, ससि षोडस सिवथांनं ।
मूल सहंसर जीव सींव धरि उनमनी अचल धियांनं ।। 1 ।।
नाद अनाहंद गरजै गगणं (गेणं), पछिम ऊंग्यां भाण ।
दक्षिण डीबी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं ।। 2 ।।
चंद सूर नी मुद्रा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला ।
नादी ब्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरू नां चेला ।। 3 ।।
तीन सै साठि थेगली कंथा, इकवीस सहंस छ सै धागा ।
बहतरि नाड़ी सुई नवासी, बावन बीर सीया लागा ।। 4 ।।
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ़ी असमांनं ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि के थांन ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(स्वरगरंध्र के पुरुष चढ़या । यकीस ब्रह्मण्ड ऊपरि ससमवेद ।टेक। द्वादस अंगुल की बाई । रज बीरज की सकति बस हुई । ससिम षोडसु सरकंवल । सिव थांनं सहंस पषुड़ी । थांनं जीव सीव धरि । अनहद सबद । पंछिम ऊँचे भाणं ग्यानं । डीबी मनसा । पाताल गुणां परै । चंद सूर तातासीला । धरया का गुण भस्म किया । नादी बिंदी नाद बिंद सींगी । आकास आत्मां । थेगली काया । छ सै सहंस स्वास । बहतरि नाड़ी । सूइ सुरति । बावन वीर मन । यड़ा पिंगुला सुषमनी । आसमांन ब्रह्मद्वार ।)

(गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने शरीर के नव द्वारों को पार कर दसवें दरवाजे में स्थित परमानन्दस्वरूप केदार धाम में अलख-निरंजन का

साक्षात्कार कर लिया । मैंने मूलाधार से ललाटपर्यन्त समस्त नवद्वारों को पार कर लिया, मूलाधार में प्रसुप्त महाकुण्डलिनी शक्ति को जगाया, इड़ा-पिंगला नाड़ी में प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना की ब्रह्मनाड़ी में स्थित कर, नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत से अमरकायत्व प्राप्त कर ब्रह्मरन्ध्र, केदार में अलख निरंजन केवलानुभवस्वरूप परब्रह्म, परमशिव का, वेदातीत शब्द (नाद) ब्रह्म के ऊँकारस्वरूप में स्थित सूक्ष्मवेदगत, स्वसंवेद्य महंत् चैतन्य के पद में स्थित हो गया । अपने पिंड में स्थित (सप्त पाताल सहित) इक्कीस ब्रह्माण्डों के शिखर पर चढ़कर स्वसंवेद्य (सुषमवेद, सूक्ष्मवेद) ऊँकारस्वरूप में अलख निरंजन का मैंने उच्चारण अथवा मंत्र-दर्शन किया । सूर्य की मूलाधारस्थ बारहकलाओं में शक्ति का निवास है, और सहस्रार में चन्द्रमा की सोलह कलाओं में शिव का अधिवास है । उन्मनी समाधि में मैंने शिव-शक्ति का तादात्म्य-अनुभव कर लिया, शक्ति शिव में मिल गयी है, अन्तर्लीन है, मैंने ध्यान में स्थित होकर यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है । गगन (त्रिकुटी अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में अनाहतनाद का गर्जन हो रहा है, सूर्य का पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में उदय हो गया है, चन्द्रमा से सूर्य के मिलन का उपक्रम हो रहा है, दक्षिण (मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान) में स्थित प्रसुप्त शक्ति महाकुण्डलिनी मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश कर अपनी पूर्ण ज्योति में अभिव्यक्त हो उठी है (नाच रही है) । मैंने चन्द्र और सूर्य, इड़ा-पिंगला, दोनों नाड़ियों को मूँद दिया है अथवा उनमें प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना नाड़ी (अग्नि नाड़ी अथवा सरस्वती) में प्रवाहित कर दिया है, यह हमारा मुद्राबन्ध है । पृथ्वी (सांसारिकता) का भस्म जल में मिल गया है अर्थात् शरीर में वीर्य (रस) की सिद्धि हो गयी है, वह उसमें जीर्ण हो गया है और इस तरह शरीर दिव्य हो गया है । निरंजन की साधना, अलख-निरंजन परब्रह्म की प्राप्ति ही योग का परम-चरम प्रतिपाद्य है । इसके लिए पिण्ड को योगाग्नि में पक्व करना ही श्रेयस्कर है । इस शरीर के प्रति सदा सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि इसी में परमपुरूष, परमात्मा के अधिवास का, स्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है, अलख-निरंजन का साक्षात्कार होता है, समस्त ब्रह्माण्ड इसी में अभिव्यक्त है, हठयोग, सूर्य और चन्द्र के सहस्रार में सामरस्य का अमृतत्व इसी में विद्यमान है, यह जीवात्मा रूपी योगी का कन्था

है, गुदड़ी है, जिसके सहारे वह योगसिद्धि, कैवल्यपद, परमामृत स्वरूप की प्राप्ति करता है । यह कन्था शरीर में स्थित तीन सौ साठ हड्डियों से निर्मित है, ये हड्डियाँ ही (थेगली, थिगली) चकतियाँ हैं, जिनसे देहरूपी गुदड़ी बनती है, इस गुदड़ी को सीनेवाली (ठीक रखने वाली) इक्कीस हजार छः सौ साँस ही धागे हैं, बहत्तर नाड़ियाँ ही असँख्य (नवासी) सुइयाँ हैं, जिनसे शरीररूपी कन्था को बाबनवीर, चेतन जीवात्मा अथवा मनरूपी दर्जी निरन्तर सीता रहता है, अन्यथा गुदड़ी के (शरीर के) फट जाने, नष्ट हो जाने की आशंका सदा बनी रहती है । इस शरीर, गुदड़ी में स्थित जीवात्मारूपी योगी को इड़ा-पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित प्राण का शोधन कर सुषुम्ना मार्ग में उसे संस्थित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर, प्रवेश कर परम शिव अलख-निरंजन, योगब्रह्म, परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस तरह मैं (गोरखनाथ) ने निरंजन की सिद्धि का स्थान ब्रह्मरन्ध्ररूपी दसवें द्वार केदार का दर्शन कराया है, बतलाया है और स्वयं परमानन्द का आस्वादन किया है ।

(20)

आंबलियौ थलि मौरियौ ऊपरि नींब बिजौरै फलियौ ।
सो फल षातां लागै मीठौ, जांणै रे जिन गुरू प्रसादै दीठौ ।।टेक।।
ऊँट सिचार्णै जब ग्रह्यौ जाइ कैरो डाली बैठौ ।
बांझै बेटा जनमियूं नेणै पुरिष न दीठौ ।। । ।।
लाकड़ डूबै सिलतिरै, देषतां जग जाइ ।
ऊँटप्रनालै बहिगयो, सुसिल्यौ पौली न माइ ।। 2 ।।
डूंगरि मंछा जलि सुसां, पांणी में दौं लागा ।
अरहट बहै तुसालवौं, सूलै कांटा भागा ।। 3 ।।
एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ ।। 4 ।।
पगां बिहूनड़ै चोरी कीधी, चौरी नै आंणी गाई ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, दूझै पाणीन ब्याई ।। 5 ।।

(आंबलीयौ आत्मा । थल ब्रह्म । नींब बपु । बिजौरा बिचारा ।टेक। ऊँट सिंचाणै जब ग्रह्यौ । ऊँट आंपौ । सिंचाणौ सबद । केरूं करम । बांझ आत्मां । बेटौ ग्यांन । पुरिष न दीठौं । पुरिष परमेस्वर बिना और पुरिष । लाकड़ बूड़ै सिलातिरै । लाकड़ कठोर सिला सुध । ऊँट आपौ । प्रनालौ प्रीति । सुसलौ सांसौ । मछ मन । डूंगर ब्रह्म । जल संसार । ससौ सांसौ । पांणी बूंद । ब्रह्म अगनि । रहट रटणि । सूल बिरह । कांटा (करम) क्रम, गाय आत्मा नौ नाड़ि पंच भू । फूल कवंल । करंडीया कली । पग करम बिनां चोरी । गाय मनसा धरया मैं ब्यावै नहीं ।)

परब्रह्म परमात्मा, मूलअधिष्ठान स्वरूप यद्यपि माया मूलप्रकृति (प्रधान) के वश में नहीं है तथापि उसकी साकार अभिव्यक्ति का उपाश्रय यह प्रकृति ही है, इस परमात्मारूपी, आत्मब्रह्मरूपी अधिष्ठान (थलि-स्थल) अथवा थाले में जीवात्मा (मौरियौ) प्रकट हो गया पर वह मायारूपी निबौरी, नीम के बीज से आवृत्त हो गया, जो खाने में, आस्वादन में बड़ा ही मधुर है, इसका आस्वाद तो जीवात्मा करता ही है, पर गुरू की कृपा होने पर वह इसकी कडुवाहट से बंच सकता है । इस मनरूपी जीवात्मा को (अपने अज्ञान और स्वरूप-विस्मृति के कारण) सचान, (सिचाणै) बाज (यम) पकड़ लेता है, अपने पाश में बाँध लेता है तो मन अपनी शक्ति (परमात्मा में अन्तर्लीनता की शक्ति) से हाथ धोकर संसाररूपी कटीले वृक्ष की शाखा (कैरो डाली) का आश्रय लेता है, दुःख-सुख में आस्था रखकर जागतिक मायाजाल में फँस जाता है । दुःख-भोग के बाद उसे सम्यक् विवेक की प्राप्ति होती है, ब्रह्म से नितान्त विमुख जागतिक माया बाँझ (बन्ध्यास्त्री) उसे ब्रह्म की ओर प्रेरित करती है, वह स्वरूप का अनुसन्धान करते हुएं ब्रह्मानुभव (वन्ध्यापुत्र) के द्वारा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है । इस भवसागर में विपरीत बात यह है कि लकड़ी तो डूब जाती है, पर शिला तैर कर पार हो जाती है । लकड़ी में चंचलता है, शिला में स्थिरता है, इस तरह संसार नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है, स्थूल माया, जो ऊँट के समान है, नेहर में बह जाती है और सूक्ष्म माया (आत्मप्रपंच में स्वरूप की प्राप्ति की व्यामोहवृत्ति) जो खरहा (खरगोश) के समान दरवाजे (पौलि-पौर) तक आकर भी भीतर प्रवेश

नहीं कर पाती, अर्थात् स्थूल (अविद्यास्वरूपिणी) माया और सूक्ष्म माया, दोनों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और जीवात्मा स्वरूप में स्थिति का विवेक प्राप्त करने के परिणामस्वरूप जन्म-मरणरूपी दुःख के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है । मछली (मन) पहाड़ी (डूँगर) पर (ऊँची दशा में) पहुँच जाती है। पानी में आग लग जाने पर जिस तरह मछली डूँगर-भीटें या छोटी पहाड़ी पर चढ़ जाती हैं, खरहा सूक्ष्म माया जल में समा जाता है, उसी तरह भवसागर की जलरूपी माया जल जाती है, जीवात्मा पर संसार का प्रभाव नहीं पड़ता है । सत्-असत् का (यह ब्रह्म है, यह माया है, इसका) पहले विवेक पैदा होता है और इसके बाद असत् का नाश होता है । सूक्ष्म माया का नाश होने पर केवलमात्र रहट की तरह मुमुक्षुओं को चिरतृप्त करने के (पिपासुओं की पिपासा की निवृति के) लिये ब्रह्मानुभूति रह जाती है । इस तरह विवेक रूपिणी, सत्स्वरूपिणी सूक्ष्म माया के द्वारा अविवेकस्वरूपिणी, अविद्या अथवा माया का अन्त हो जाता है, माया से ही माया मिट जाती है, यह कार्य ऐसा है मानो कण्टक से ही कण्टक नष्ट हो गया है । तृसालवाँ का आशय है तृषालु जन अथवा मुमुक्षु लोग, जो निरन्तर ब्रह्मानुभूति से चिरतृप्ति प्राप्त करना चाहते हैं । भवसागर में आग लग जाने पर, माया का अस्तित्व मिट जाने पर मन उन्मन हो जाता है और जीवात्मा अपने सत्स्वरूप में परब्रह्म का अनुभव पाता है, उसी में तादात्म्य लाभ कर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है । मनरूपी मछली का डूँगर (भीटा) ब्रह्मरन्ध्र है, मन ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर उन्मनी समाधि में तल्लीन जीवात्मा का, अमायिक निरंजन ब्रह्म का अनुभव प्राप्त करने में सहायक होता है । हमारे शरीर में (जीव-) आत्मा गाय है और शरीर के नवों रन्ध्र इस जीवात्मारूपी गाय के बछड़े हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इस गाय को निरन्तर दुहती (शक्तिहीन करती) रहती हैं, इस तरह जिस साधक की दृष्टि केवल शारीरिक पोषण और माया-मोह में ही, असत् सम्बन्ध में ही लगी है, वह कभी आत्मिक (आध्यात्मिक) उन्नति नहीं कर सकता । शरीर में व्याप्त (जीव) आत्मा योगसाधना के द्वारा सहस्रार में स्थित चन्द्रमारूपी पुष्प के रस (अमृत) का कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन तथा नादानुसन्धान आदि यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा पानकर परमात्मा, अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है । यह फूल सोलह कलाओं (करंडियों) का है, इसका रसामृत पान

कर जीवात्मारूपी मालिन के मन में अपार आनंद उमड़ पड़ता है । बिना पैरों की आहट के (चोरी-चोरी) उन्मनी समाधि के द्वारा आत्मारूपी गाय का परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार लाभ, तादात्म्य अथवा स्वरूपानुभव हो जाने पर वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाती है, उसे शरीर धारण कर नव (बछड़ों के) द्वार से पंचेन्द्रियों द्वारा फिर दुहे जाने का, शक्ति से हीन होने का भय नहीं रहता है । आवागमन से मुक्ति मिल जाती है तथा इस तरह जीवात्मारूपी गाय ब्रह्मानुभूतिरूपी (चन्द्रामृतस्वरूपिणी) मुक्ति में स्वरूपस्थ हो जाती है, जीवात्मा कैवल्यपद की प्राप्ति कर लेता है । सद्गुरू योगिराजेन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य का यह अनुभव है, वचनामृत है ।

(21)

गोरष लो गोपालं लो, गगन गाय दुहि पीवै लो ।
मही बिलोय अमीरस पीजै, अनभै लागा जीजै लो ।।टेक।।
ममिता बिनां माइ मुइ, पिता बिनां मूवा छोरूलो ।
जाति बिहूनां लाल ग्वालिया, अहनिस चारै गोरू लो ।। 1 ।।
अनहद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो ।
काया कै अंतरिं गगन मंडल मैं, सहजै स्वामी मिलिया लो ।। 2 ।।
ऐसी गावत्री धरबारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो ।
इहि लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतरि बांधी लो ।। 3 ।।
कानां पूछां सींग बिबरजित, बरन बिबरजित गाई लो ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहाँ रहै ल्यो लाई लो ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोष्ट थी पाली । गगन की गाय मनसा । मही मन । अनभै ईस्वर ।टेक। ममित मिट्यो । तब माया मुंई । बाप बपु । छोरू यंद्री । लाल गवाल प्रांन । गाय मनसा । अनहद ईस्वर सबद । संष असत काया । गगन कँवल । सुंनि असथांन गगन । गाय मनसा । परवार मन पवन । सुरति निरंतरि प्रांण धरि । वरण रहत मनसा गाय ।)

गोरखनाथ का कथन है कि मैं ग्वाला हूँ, जिस तरह ग्वाला गाय का दूध दुहकर पीता है, उसी तरह मैं उन्मनी समाधि में स्थित होकर सहस्रार स्थित चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान करता हूँ । अर्थात् परमशिव का साक्षात्कार करता हूँ । यह शुद्ध ब्रह्मामृत है । मैंने इस दूध में स्थित छाँछ, मट्ठे (निस्सार मायिक द्रव) को बुद्धि की मथानी. से मथकर, बिलोकर अलग कर दिया है, अभयपद में स्थित होकर जीवन का आनन्द ले रहा हूँ । सांसारिक, प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में आसक्त होने से जो असत् स्वीकृति, ममता उत्पन्न होती है, वह मुझमें नाममात्र को भी नहीं रह गयी है । इस तरह माया प्रभावहीन हो गयी है, माया के प्रभावहीन होने से अहंकार भी नष्ट हो गया है । यही शरीर का बाप है और माया ही शरीर की माँ है, माया, अहंकार तथा उसके षड्विकारों से परे होकर जीवात्मा स्वरूपानुसन्धान में लगकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर परब्रह्म के निवास स्थान, गगन मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित होकर रसमयी ब्रह्मामृतानुभूति का पान कर जीवन्मुक्त हो जाता है । जन्म-मरण से परे होकर (जातिविहीनता अथवा चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने की क्रिया की समाप्ति से) लाल (बाल) ग्वाल, बालगोपाल, बालयोगी गोरखनाथ, अखण्डब्रह्मचर्यव्रती योगी रात-दिन गो-चारण करता है, इन्द्रियों को संयत रखकर साधना की सिद्धि में अनवरत सावधान रहता है । गोरूपिणी इन्द्रियों को मृत्यु विनाश की ओर नहीं ले जाने पाती, इस संसाररूपी वन में मैं (गोरखनाथ) शंखनादकरता हूँ, अनाहतनाद, ध्वनि के द्वारा अमृतत्व की साधना कर यमराज की सेना, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का वीरता और निर्भीकतापूर्वक दमन करता हूँ और इस तरह सहस्रार में स्थित परब्रह्म ऊँकारस्वरूप अलख-निरंजन की सहज प्राप्ति कर लेता हूँ । हमारा घर गगनमण्डल सहस्रार है, ब्रह्मरन्ध्र इसका दरवाजा है, इस दरवाजे पर ब्रह्मानुभूतिरूपिणी अमृतप्रदायिनी गाय (गायत्री) बंधी हुई है, हमारी आत्मरक्षिणी है, अजपाजप, महाविद्या, प्राणविद्या की सिद्धि है और इसने हमें अमृतत्व में प्रतिष्ठित कर जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त कर दिया है । मेरा सारा परिवार (ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अन्तःकरण आदि) इस गाय की सेवा में संयत है, तत्पर है, इसी ब्रह्मानुभूतिरूपिणी गाय से पता चलता है

कि जगत् अलख निरंजन का अधिष्ठान है, वह पिण्ड और समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, यह गाय सीग, कान, पूँछ और रूपरंग से परे है, इसका आशय यह है कि यह ब्रह्म की निरंजन अमायिक, निर्विकार, निराकार, निर्गुण सत्ता की अभिव्यक्ति है । गोरखनाथ का वचन है कि परमगुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से मैं इस ब्रह्मानुभूति में सदा लवलीन, स्वस्वरूपस्थ रहता हूँ ।

(22)

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी, तामैं झिलिमिल जोति उजाली ।टेक।
जहाँ जोग तहाँ रोग न व्यापै, ऐसा परषि गुर करनां ।
तन मन सूंजे परचा नाहीं, तौ काहे को पचि मरनां ।। 1 ।।
काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तप करि हूवा न सूरा ।
कुल का नास करै मति कोई, जै गुरू मिलै न पूरा ।। 2 ।।
सप्त धात का काया पींजरा, ता माहिं जुगति बिन सूवा ।
सतगुरू मिलै तो ऊबरै बाबू, नहीं तौ परलै हूवा ।। 3 ।।
कंद्रप रूप काया का मंडण, अँबिरथा कांइ उलीचौ ।
गोरष कहे सुणौं रे भौंदू, अरंड अंमी कत सीचौं ।। 4 ।।

हें अवधूत मैंने (साक्षात् शिवस्वरूपप्रदत्त योगमहाज्ञान के स्वामी मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से) अपने शरीर के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन, की झिलमिल ज्योति का दर्शन कर लिया है । यह निर्मल ज्योति ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर झिलमिलाती रहती है, यह सत्य है कि जहाँ योग है, वहाँ जन्ममरणरूपी रोग का सर्वथा अभाव है । सोच-विचार कर योगज्ञान में निष्णात सद्‌गुरू का चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिए, जिससे भवरोग नष्ट हो जाय, अमृतत्व, योग, शाश्वत चैतन्याधार, आत्मसंबल बन जाय । यदि शरीर और मन के सहारे अपने भीतर व्याप्त स्वरूपानुभव नहीं होता है तो साधना व्यर्थ और निस्सार है, अर्थहीन और श्रममात्र है । योगसाधना में सिद्धि का फल है मोक्ष की प्राप्ति और मृत्युभय का समाप्त हो जाना तथा भवबन्धन, (जगत् के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति के प्रति असत् सम्बन्ध की स्वीकृति) के जाल अथवा (प्रपंच) जंजाल का अन्त हो जाना पर यह अध्यवसाय और साधना में सतत लगे रहने से ही सम्भव होता है, यह कठोर तप है और

वीरात्मा योगी इस तरह की योग-साधना रूपी तप में तत्पर हो पाता है । जबतक सद्गुरू सर्वसमर्थ का चरणाश्रय नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक योग-साधना के परम उद्देश्य, अलख निरंजन का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसलिये अधूरे ज्ञानवाले गुरू के आश्रय में योगसाधना करना शरीर और मन को थकाना मात्र है, यह निष्फल है । साधक को अधकचरे गुरू के फेर में पड़कर कुल का नाश नहीं करना चाहिए, अपने आश्रमसम्बन्धी (गृहस्थाश्रम के) आचार-विचार में लगे रहना चाहिए । यह शरीर रस-रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र, सात धातुओं से निर्मित पिंजरा है, जिसमें जीवात्मा योगयुक्ति से हीन होकर मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान से शून्य होकर सुग्गे के समान तड़फड़ा रहा है, यदि सद्गुरू, का आश्रय सुलभ होता, तब तो वह शारीरिक बन्धन से ऊपर उठकर सहस्रार ब्रह्मरन्ध्ररूपी गगनमण्डल में उड़कर मुक्त हो सकता है, अन्यथा मृत्यु का ग्रास बन जाता है । हे अवधूत ! परमात्मा की कृपा से कामदेव के शरीर के समान सुन्दर काया (देह) की प्राप्ति हुई, इसको व्यर्थ नहीं चले जाने देना चाहिए, अधूरे गुरू के योगज्ञान में इस शरीर को साधनारत करना उसी तरह व्यर्थ और निष्प्रयोजन है, जिस तरह रेड़ के वृक्ष को अमृत से सीचना अज्ञान है ।

(23)

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड षोजंता, अम्हे सब सिधि पाई ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नव लष खाई ।
दसवै द्वारि अवधू ताली लाई ।। 1 ।।
कायागढ़ भीतरिं देव देहुरा कासी ।
सहज सुभाइ मिले अविनासी ।। 2 ।।
बदंत गोरषनाथ सुणौ नर लोई ।
काया गढ़ जीतैगा बिरला कोई ।। 3 ।।

अलख निरंजन, घट-घट में विद्यमान परमात्मा साक्षी है कि मैं स्वरूपतः उसमें स्वस्थ हूँ । (परमात्मा और जीवात्मा में मायिक भेद का समाप्त हो जाना ही परम कैवल्य अथवा स्वरूपानुभव है ।) मैं मुक्त हो गया

हूँ, मेरी काया जन्म-मृत्यु से परे हो गयी है, मैं जीवन्मुक्तावस्था में शरीर से अमर होकर, कायारूपीगढ़ पर विजय प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो गया हूँ । अपने शरीर (पिण्ड) के भीतर व्याप्त समस्त चराचर विश्व, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है । सम्पूर्ण सिद्धियों की सिद्धि परमात्मा के स्वरूप का मैंने अपने ब्रह्मरन्ध्र में अनुभव कर लिया, निरंजन की ज्योति का मुझे दर्शन हो गया । शरीर में नवरन्ध्र हैं, ये नवों दरवाजे हमारे चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने के अनेकानेक संस्कारों से भरे पड़े हैं, जीवात्मारूपी योगी इन दरवाजों को तोड़ कर, इनको अवरुद्ध करने वाले संस्कारों (नव लाख खाइयों) का भेदन करते हुए दसवें दरवाजे (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार करता है । (नव लाख खाइयों की स्थिति का आशय यह भी है कि हमारे शरीर के भीतर बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, ये मल से भरी-पड़ी हैं, षोडशआधार, षट्चक्र, पंच व्योम आदि अन्यान्य भी इसी शरीर में स्थित हैं, ये नव लाख खाइयाँ (असंख्य खाइयाँ) हैं, आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, चक्रभेदन, मुद्राबन्ध आदि के अभ्यास तथा नाद-बिन्दु-सामरस्य से इन खाइयों को पार किया जाता है । इस कायागढ़ में परम पदार्थ, महारत्न परमात्मा का अधिवास है, वह स्वरूपतः अभिव्यक्त है, । इसी में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति, सूर्य, चन्द्रमा, देवालय, त्रिकुटी, (काशी, केदार, कैलाश) गंगा, यमुना, सरस्वती आदि विद्यमान हैं । इन तीर्थो के दर्शन से अलख-निरंजन, निराकार, सनातन, शाश्वत सच्चिदानन्द परमात्मा की सहज अनुभूति प्राप्त हो जाती है । परमात्मा अपने पूर्ण स्वरूप में इसी कायागढ़ में अपनी समस्त शक्तियों में अभिव्यक्त है । यह कायागढ़-विजय बहुत कठिन काम है, वीरात्मा योगी ही इस पर अपना अधिकार, प्रभुत्व स्थापित कर पाते हैं । गोरखनाथ का कथन है कि हे सज्जनों । मेरा अनुभव यही है कि कोई बिरला आत्म-शक्तिसम्पन्न (योगाभ्यासी) प्राणी ही अमरकायत्व का सौभाग्य पाता है, कायागढ़ को जीतता है ।

(24)

पवनां रे तूं जासी कौनें बाटी ।
जोगी अजपाजपै त्रिवेणीं कै घाटी ।।टेक।।

चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी ।
मनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी ।। । ।।
अरधैं उरधैं लाइलै कूंची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवनां ।
दसवां द्वार चीन्हिलै, छूटै आवागवनां ।। 2 ।।
भणत गोरखनाथ मछिंद्रना पूता, जाति हमारी तेली ।
पीड़ी गोटा काढ़ि लीया, पवन षलि दीयां ठेली ।। 3 ।।

(इस पद में प्राण-मन की विजय पर बल दिया गया है, प्राणवायु के द्वारा ही जीवात्मा शरीर में स्थित रहता है, अपान, उदान, समान, व्यान और प्राण में प्राण ही ज्येष्ठ अथवा प्रधान है । गोरखनाथ जी प्राण से पूछते हैं कि हे प्राण (पवन), तुम शरीर के किस रास्ते (दरवाजे) से बाहर जाओगे, शरीर के नवों द्वार, दोनों नेत्र, दोनों नासारन्ध्र, मुख, दोनों कर्णरन्ध्र और उपस्थ एवं पायु मुद्रित (बन्द) हैं और दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र भी मुद्रित है, इसलिए तुम्हारे बाहर निकलने का भय (मृत्यु का भय) समाप्त हो चला है । हे प्राण । तुम शरीर को नहीं छोड़ सकते । यह शरीर मैला हो चला है । इसे मन राजा (धोबी) गंगा (इड़ा) और यमुना (पिंगला) के घाट, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में स्थित अथवा उन्मन होकर निर्मल कर रहा है, प्राणापान के सामरस्य के द्वारा शुद्ध कर रहा है । अपान और प्राणवायु, दोनों का एकरसत्व स्थापित हो गया है, चन्द्रमा ही साबुन की टिकिया है और सूर्य पाटा है, इस तरह चन्द्रमा और सूर्य, इड़ा और पिंगला के संगम, सुषुम्ना के घाट पर मन द्वारा शरीर धुलकर साफ किया जा रहा है । यह शरीररूपी वस्त्र (लूगा) अथवा कपड़ा निर्मल हो गया है, इसकी अनेकानेक नाड़ियों में मल एकत्र हो जाने पर इसके जीर्ण हो जाने का भय रहता है और जीवात्मा (प्राणहंस) इसके बाहर चला जाता है । निःश्वास और प्रश्वास (अपान और प्राणवायु) को ताली लगा कर, एकरस कर कुम्भक द्वारा प्राण को रोक लेने पर यह स्थित हो जाता है और पवन का नीचे-ऊपर, अधः-ऊर्ध्व का आकर्षण, अपान का प्राण की ओर खिंचना और प्राण का अपान की ओर जाना बन्द हो जाता है । पवन थक कर ठहर जाता है और सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर (त्रिकुटी में) अजपाजाप में तत्पर योगी (जीवात्मा) का ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान अलख-निरंजन शिव के साक्षात्कार में मन सहायक

होता है । वह त्रिकुटी में पहुँचते-पहुँचते उन्मन अथवा अमनस्क हो उठता है । (पद में 'अरधै-उरधै लाइलै कूंची' का आशय मूलाधार-स्थित परम शक्ति कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ऊर्ध्व, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव में अन्तर्लीन (समाधिस्थ) करना भी हो सकता है ।) दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार (परिचय) प्राप्त करने पर आवागमन, जन्म-मरण के चक्र से जीवात्मा मुक्त हो जाता है अथवा जीवन्मुक्त होकर अमरकायत्व प्राप्त कर कालदण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में विचरण करता रहता है । मन, प्राण, शरीर-तीनों की शुद्धि से ही जीवात्मा को सहस्रार में ब्रह्म सच्चिदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मेरा काम तेली का है । जिस तरह तेली तिल के पिंडों को (कोल्हू में) पेर-पेर कर तेल निकाल लेता है और खली को निस्सार तत्व को अलग कर देता है, उसी तरह योग-साधना की विधियों को सिद्धकर मैंने शरीर को पूर्णतः निर्मल कर लिया । निस्सार पदार्थों को अलग कर इसमें स्थित परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया ।

(25)

अवधू गागर कंपै पांणींहारी, गवरी काधैं नौरा (नवरा) ।
घर का गुसांई कौतिग चाहै, काहेन बंधौ जौरा ।।टेक।।
लूँणकहै अलूंणां बाबू, धृत कहै मैं रूषा ।
अनील कहै मैं प्यासा मूवा अंन कहै मैं भूखा ।। । ।।
पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा ।
अनहद मृदंग बाजै, तहाँ पांगुल नाचन लागां ।। 2 ।।
आदिनाथ बिहबलिया बाबा, मछिंद्रनाथ पूता ।
अभेद-भेद भेदीले जोगी, बदंत गोरष अवधूता ।। 3 ।।

(इस पद में निगूढ़तम हठयोगसाधन-प्रक्रिया का निरूपण किया गया है । मत्स्येन्द्र के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने अन्तस्साधना पर प्रकाश डाला है ।) हे अवधूत ! पानी भरने वाली (पनिहारिन) के कन्धे पर गागर काँप रहा है । जिस तरह कुएँ से रस्सी के सहारे पानी कलश में भर कर

पनिहारिन अपने कान्धे पर घट रख लेती है और जब तक उसे रखने का पूरा अभ्यास नहीं सध जाता है, गागर रह-रह कर हिल जाता है, उसी तरह ब्रह्मरन्ध्र से निरन्तर अमृत की वृष्टि होती रहती है, यह अमृतधारा ही पनिहारिन है, सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है, यह चन्द्रमा ही अमृत का कलश है, अमृतधारारूपी पनिहारिन के कन्धे पर यह तब तक अस्थिर रहता है, जबतक योगी इसे निरन्तर प्रवाहित करने में पूर्ण समर्थ नही होता है । कुण्डलिनी को जगाकर षटचक्रों का भेदन करते हुए प्राणवायु का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय कर देने से चन्द्रमारूपी घट से अमृतधारा झरती है । अमृत धारा (पनिहारिन) नित्य नवेली, नवयुवती (नौरा) गौरवर्ण, ज्योत्स्ना (गवरी, गौरी, गौरवर्णवाली) है । धारारूपी युवती कन्धे पर अमृतघट रखकर नित्य नृत्य करती रहती है । सहस्रार में स्थित शिव, अलख-निरंजन परमात्मा इस कौतुक (तमाशे) को देखता रहता है । इस अमृतधारारूपी युवती का उपभोग करते हुए जरा (जौरा) को नियंत्रित कर लेना (बाँध लेना) चाहिए । यहाँ जोरा का आशय यम अथवा मृत्यु से भी है । अमृत का पान करने से, अमृतधारा रूपी युवती के सहवास से योगी को मृत्यु को वश में करना चाहिए । जौरा का आशय भुइधरा, भँवरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र से भी है, ब्रह्मरन्ध्र में अमृतधारारूपी रमणी को सुरक्षित कर लेना चाहिए । (पनिहारिन सहस्रार में स्थित परमशिवय में अन्तर्लीन जागरत कुण्डलिनी, महाशक्ति नित्यतरूणी के भी प्रतीक के रूप में स्वीकार की जा सकती है । पनिहारिन को जीवात्मा भी कहा गया है, कुण्डिलिनी को गागर कहा गया है । 'तलि गागरि ऊपर पनिहारिन ।' पद 47।5) जीवनमुक्त योगी के लिए लवण के लवणत्व की शक्ति समाप्त हो जाती है, लवण का स्वाद उसके लिये निष्प्रयोजन हो जाता है, घी की रससिक्तता शक्तिहीन हो जाती है, हवा कहती है कि मैं स्वयं प्यासी हूँ, मेरी शोषणशक्ति समाप्त हो गयी, अन्न में भूख मिटाने की क्षमता नहीं रह जाती है, योगी प्रांणायाम के सहारे शरीर में स्थित रहता है, वह अणिमा आदि सिद्धियों पर शासन करता है । उसके लिए अग्नि की शक्ति भी समाप्त हो जाती है, अग्नि स्वयं जड़ा उठती है, इसी तरह शरीर को कपड़े से ढकने की प्रवृत्ति मिट जाती है । इन वस्तुओं और शक्तियों का आत्मा पर प्रभाव समाप्त हो जाता है । ब्रह्मरन्ध्र में निष्पति-अवस्था में अनाहत

नादरूप मृदंग के बज उठने पर मन सर्वथा उन्मन हो जाता है, आनन्दमग्न होकर नाच उठता है, अमनस्कता में परमानन्द का अनुभव कर आत्म-विभोर हो उठता है । मन इन्द्रियों का साथ छोड़ देता है, इसलिये वह पंगु हो जाता है विषयास्वाद के क्षेत्र में । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अमृत-पान कर सहस्रार में अलख-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लिया, परम निगूढ़ परमात्मतत्व का रहस्य-भेदन कर लिया ।

(26)

अवधू अहूठ परबत मझार, बेलड़ी माडयौ बिस्तार ।
बेली फूल बेली फल, बेंलि अछै मोत्याहल ।।टेक।।
सिष्टि उतपनी बेली प्रकाश, मूल न थी चढ़ी अकास ।
उरध गोढ़ किया बिसतार, जांण मैं जोसी करै विंचार ।। 1 ।।
आइसौं भील पारधी हाथ नही, पाई प्यंगुलो मुष दांत न काही ।
हयो हयो मृधलौ धुणही न तंही, घंटा सुर तिहां नाद नाहीं ।। 2 ।।
भीलड़ै तिहां ताणियौ बांण मन ही मृधलौ बेधियो प्रमांण ।
हयों हयों मृधलो बेधियौं बांण, धुणही बांण न थी सरतांण ।। 3 ।।
भीलड़ी मातंगी रांणी, मृधलौ आंणी ठांणी ।
चरंण बिहूणौं मृधलौं आण्यौं, सीस सींग मुष जाइ न जाण्यौं ।। 4 ।।
भणत गोरषनाथ मछिंद्र ना पूता, मारयो मृध भया अवधूता ।
याहिं हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी को तृभुवन सूझै ।। 5 ।।

हे अवधूत ! यह पार्थिव शरीर एक पर्वत के समान है । इस साढ़े तीन हाथ (अहूँठ) के पर्वत रूपी शरीर में मायारूपी वेलि फैली हुई है, मूलमाया की मनोमोहिनी वेलि का विस्तार दर्शनीय है । यह माया ही इस शरीर में फूल और फल है, (मायारूपी बेलि अच्छी तरह फल-फूल गयी है) इस मायाबेलि से मुक्ताफल (मोक्ष) की भी प्राप्ति होती हैं । इस बेलि की शक्ति अथवा प्रकाश से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसका मूल नहीं है, फिर भी यह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती गयी है, फैलती गयी है । इस माया का विस्तार ऊर्ध्वस्थल ब्रह्मरन्ध्र तक में हो गया है, इस माया का वहाँ भी विस्तार हो जाने पर योगी परमात्मानुभूति नहीं कर पाता है, क्योंकि अविद्या-

रूपिणी माया की तमिस्रा अथवा घनी छाया से ब्रह्मरन्ध्र आवरित हो गया है, तमसाच्छन्न है । शास्त्रज्ञान के प्रकाश में परमात्मतत्व की खोज कर करने वाले विद्वानों, ज्योतिषियों को इस रहस्य पर विचार चाहिये । इस शरीररूपी पर्वत की प्राकृतिक रमणीयता से अलंकृत मायारूपी बेलि की हरीतिमा और मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता में मनरूपी मृग (चंचल मन) विहार कर रहा है । इस मृग को मारने के लिये जीवात्मारूपी पारधी, भील (योग-साधक अथवा आत्मा) निरन्तर उसके पीछे पड़ा हुआ है और अब मारता है कि तब मारता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है । इस आत्मारूपी शिकारी के (मनरूपी मृग का वध करने के लिये) न तो हाथ है, न पैर है, न मुख में दाँत हैं, और न धनुष है, न मृग को आकृष्ट करने के लिये सुरीला नाद, घण्टा, ध्वनि आदि ही हैं, फिर भी आत्मारूपी पारधी ने बाण ताना और इच्छा करते ही (मन से ही) मृग, मन को मार डाला (उसने जो बाण ताना था, वह भी बाण नहीं था, बिना धनुष और बाण के ही शरीररूपी पर्वत की मायारूपिणी बेलि की हरीतिमा को विकृत करने वाला मन मारा गया, यह मृग बिना चरण के ही दौड़ता रहता है ।) यह मृग चरणहीन है । मतवाली, आनन्दोन्मादित आत्मशक्तिरूपी भीलनी, उस उन्मन मन को, अपने स्थान (परमात्मा और शक्ति के मिलन-स्थान) ब्रह्मरन्ध्र में ले आयी । न उस मनरूपी मृग के सींग था, न पूछ थी, न सिर ही दीख पड़ता था । वह मन परम शिव में मुक्तिस्वरूप हो गया । आशय यह है कि कुण्डलिनी महाशक्ति, परमेश्वरी चक्रों के भेदन द्वारा प्रबुद्ध हो उठी और विषय-भोगों में आसक्त मन के स्वतः उन्मन होने पर उसे उन्मनी में अन्तर्लीन कर उस महाशक्ति मूलमाया ने उसे शिवस्वरूप प्रदान किया । मनरूपी मृग विरक्त योगी हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस हियाली (यह एक छन्द है) को समझ लेने पर शरीर में ही व्याप्त त्रिभुवन का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है ।

(27)

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहाँ जोवौ ऊजूद्वार ।
अधर-उरध बजार मंड्या है, गोरष कहै विचारं ।।टेक।।
हरि प्रांण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदोंर मनः पवन दोऊ हस्ती घोड़ा,
गिंनान ते अषै भंडारं ।। ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदारं ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 2 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसैं, दसवाँ लष्या न जाई ।। 3 ।।
अठारह भार कोट कंठजरा जाइलै, बहतर कोठड़ी निपाई ।
नव सुत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब काया गढ़ लिया न जाई ।। 4 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ ग ।न मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 5 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमां भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिं ाथ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 6 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीररूपी नगर को बसाया है, जिस तरह नगर की सुरक्षा की जाती है, उसी तरह योगसाधना के द्वारा मैंने कायागढ़, शरीर पर विजय प्राप्त कर ली है, मैंने अमरकायत्व की सिद्धि कर ली है । हे अवधूत । हमारे कायानगर के महाद्वार का, ब्रह्मरन्ध्र का दर्शन करो, इसका दर्शन करने पर ही इस नगर के निर्माण और सुरक्षा तथा इसकी वस्तुओं और रक्षकों तथा स्वामी का पता लग सकता है । इस कायानगर में श्वास-प्रश्वास (अरध-उरध) का बाजार लगा है अथवा मूलाधार चक्र से सहस्रार तक के क्षेत्र में असंख्य नाड़ियाँ, दस प्राण, मन, सूर्य और चन्द्रमा, अनेक प्रकार के नाद आदि का विस्तार देखते ही बनता है । मैंने ज्ञाननेत्र से इस बाजार को देख लिया और नगर का पूरा-पूरा दर्शन कर लेने के बाद ही अपना विचार प्रकट कर रहा हूँ । हमारा प्राणप्रियतम परमात्मा, साक्षात् हरि इस कायानगर का राजराजेश्वर (बादशाह) है, (सद्‌विवेक) विचार ही इस नगर का न्यायाधीश (काजी) है, जब तक हम सद्‌विवेक में स्थित हैं, इस नगर में अधर्म और पाप का आतंक नहीं रह सकता है, पाँचों तत्व, छिति, जल, पावक, गगन, समीर ही वजीर हैं, मंत्री हैं अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषयों के अधिपति पाँचों ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर हैं, उनके संकेत और बुद्धि के बल पर ही इस घर का ठीक-ठीक शासन चलता है । यदि ये

ज्ञानेन्द्रिय सत्पथ से भटक जायँ तो शासन बिगढ़ जाता है और कायागढ़ ढह जाता है, इसलिये ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर (उजहदार) हैं । इस नगर की रक्षा के लिये मन और पवन (प्राण) हाथी और घोड़े हैं, इन पर सदा अंकुश रखना पड़ता है, इस बाजार का अक्षय भण्डार ज्ञान (आत्मविवेक)है,जो कभी नष्ट ही नही होता है, मन इस नगर का रक्षक सेनापति (हुजदार) है । वह अपार शक्तिशाली है, इस नगर का प्रहरी चेतन आत्मा है, वही नगररक्षक कोतवाल है, उसके देखते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि चोर तथा रागद्वेष आदि परिपंथी (बटमार) कायानगर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं । यह कायागढ़ बहुत अच्छी तरह निर्मित है । तीन सौ हड्डियाँ ही इस नगर के ढाँचे के लिये प्रयुक्त हैं, वे ही पाषाण-भित्ति हैं और गहरी-गहरी सोलह खाइयों से यह नगर पूर्ण सुरक्षित है, ये सोलह खाइयाँ ही शरीर के भीतर स्थित सोलह आधार हैं, षादांगुष्ठ, मूलाधार, गुह्याधार, बज्रगर्भनाड़ी, उड्डिया-नबन्धाधार, नाभिमण्डलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार-जिह्वामूलाधार, जिंह्वाअधोभागाधार, ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, नासिकाग्राधार, नासिकामूलाधार भ्रूमध्यआधार और नेत्राधार - इन आधारों का ध्यान करने से योगसिद्धि के द्वारा कायागढ़ को वश में रखना सम्भव होता है । इस कायानगर में नौ दरवाजे तो स्पष्ट दीख पड़ते हैं, पर दसवाँ दरवाजा ब्रह्मरन्ध्र नहीं दीख पड़ता है, यही महाद्वार है और इसमें प्रवेश कर जीवात्मा रूपी योगी अलख-निरंजन परब्रह्म शिव के स्वरूप में अभिन्नता का सम्पूर्ण अनुभव करता है । इस नगर की सुरक्षा की दृष्टि से, कोट अथवा गढ़ को सुरक्षित रखने के लिये (अठारह भार योगसाहित्य में काठ के लिए प्रयुक्त) कटहरे लगाये गये हैं और (72 हजार नाड़ियों) बहत्तर कोठरियों को इन कटहरों से छाया गया है और इसके नवों द्वारों पर जंजीरें (सूत्र) चढ़ा दी गयी हैं, ये नवों द्वार प्राणायाम के द्वारा मुद्रित हैं, मूँद दिये गये हैं तथा बड़े-बड़े नवरन्ध्रों, दरवाजों पर बड़े-बड़े यंत्र लगा दिये गये हैं, कोई भी विजातीय विषय, विरोधी तत्व कायागढ़ में प्रवेश कर उसे नष्ट नहीं कर सकता है । इस गढ़ के भीतर निरन्तर नाद होता रहता है, घण्टे बजते रहते हैं, इसलिए निरन्तर सावधानी रहती है और काम-क्रोध आदि भीतर प्रवेश कर साधना में विघ्न नहीं डाल सकते हैं । इस विशाल गढ़ में परमात्मा के सगुण-निर्गुण

अभिव्यक्तिरूपी दो दीपक प्रकाशित हैं और चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैला है । इसमें परमात्मा का शासन है, उसकी आज्ञा है कि किसी भी तरह काम, क्रोध इस गढ़ में प्रवेश न कर पायें । इस गढ़ की महारानी सत्य (की शक्ति) है, निष्काम भाव से साधना की जाती है, सन्तोष ही इस साधना का फल (राजपुत्र) है और इस फल की देख-रेख दो दाइयाँ, धाय, क्षमा तथा भक्ति करती हैं, साधक क्षमा की शक्ति से विकारों को जीत लेता है और परमात्मा की भक्ति से साधना की सिद्धि का फल, स्वरूपानुभव का आस्वादन करता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र और आदिनाथ के पौत्र, गोरखनाथ (मैं) ने इस कायागढ़ को बसाया है, सिद्धदेह की प्राप्ति की है ।

(28)

ईकीस ब्रह्मण्ड भाठी चिगावै, पीवत सदा मतिवालं,
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मदना प्यालं ।।टेक।।
अमृतदाषी भाठीं भरिया, ता मधे गुड़ झकोल्या ।
मन महुवा तन धाहुबा, बनासपती अठारै मेल्यां ।। । ।।
भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्याने बैस्या आसण बाली ।
चेतनि रावल मद भरि छाक्या, जुग-जुग, लागो ताली ।। 2 ।।
तृकुटी संग कूपी भरिया मदनीपज्या अपार ।
कुसमल होंता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहाँ तत सारं ।। 3 ।।
एवहां मद श्रीगोरष क़ेवट्या, बदंत मछिंद्र ना पूता ।
जिनि कैवट्या तिनि भरि-भरि पीया, अमर भया अवधूता ।। 4 ।।

हमारे शरीर में निरन्तर अमृतवारूणी सिद्ध होती है और जीवात्मारूपी (आत्मानन्दी) मतवाला योगी इसका पान करता है । अमृतवारूणी मदिरा के चुआने के लिये शरीर में स्थित इक्कीस ब्रह्माण्ड ही भट्ठी हैं, जिस तरह भट्ठी में आग प्रज्वलित कर मदिरा, महुवा, अंगूर आदि का अर्क निकाला जाता है, उसी प्रकार इक्कीस ब्रह्माण्ड की भट्ठी है और उनमें अमृतवारूणी सिद्ध की जाती है । इच्छा ही कलालिनी है, वह अच्छा-अच्छा प्याला मदिरा से भर कर देती रहती है । इस अमृतवारूणी के, अमृतानुभूति के निर्माण के लिये भट्ठी पर पात्र में अंगूर (दाष, द्राक्षा) रखा जाता है और

उसमें गुड़ मिलाकर मनरूपी महुवा और तनरूपी धाहुवा (धाहुड़ अथवा धव, एक वनस्पति, जिससे औषधि बनायी जाती है अथवा घौर, एक तरह की सफेद ईख) तथा अठारह (अनेक) तरह की वनस्पतियाँ डाली जाती हैं । इस तरह अमृतवारूणी तैयार की जाती है । चेतनआत्मारूप रावलयोगी ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर उसमें स्वरूपस्थ होकर अथवा आसन लगा कर इस अमृतासव का पान कर आनन्द में निमग्न हो जाता है । आज्ञाचक्र में इड़ा-पिंगला, चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी के सुषुम्ना में संगम, त्रिकुटीरूपी कूपी में पूर्ण रूप से यह अमृतासव भर उठता है, वहीं यह उत्पन्न होता है । सारे पाप, (कश्मल, कुसमल, गन्दगी) का अन्त हो जाता है, चेतन आत्मारूपी योगी इस अमृतवारूणी के संगम त्रिकुटी में स्नान कर परम पवित्र, निर्मल हो जाता है । इस मद, अमृतासव को मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इक्कीस ब्रह्माण्डों की भट्ठी पर चुआ कर उतारा है, सिद्ध किया है । जिन सिद्धों और योगस्थ पुरूषों ने इस तरह अपने शरीर के भीतर इस मदिरा को, अमृतवारूणी को उतारा (केवट्या) और अच्छी तरह प्याला भर-भर कर उसका पान किया, वे जीवन्मुक्त होकर, शरीर से अमर हो गये ।

(29)

सति सति भाषंत श्रीगोरष जोगी, अमे तौरहिबा रंगै ।
अलेष पुरसि जिनि गुरमुषि चीन्ह्यां, रहिबा तिसकैं संगै ।।टेक।।
सतजुग मधे जुग एक रचीला, बिसहरएक निपाया ।
ग्यांन बिहूणां गण गंध्रप अवधू, सबही डसि-डसि षाया ।। । ।।
त्रेता जुग मधे जुग दोइ रचीला, राम रमांइणा कीन्हां ।
नरबंदर सब लड़ि-लड़ि मूए, तिन भी ग्यांन न चीन्हां ।। 2 ।।
द्वापर जुग मधे जुग तीनि रचीलै, बहुडम्बर बहुभारं ।
कैरों पांडौ लड़ि-लड़ि मूए, नारद कीया संघारं ।। 3 ।।
कलिंजुग मधे जुग चारि रचीला, चूकिला चार बिचारं ।
धारे-धारे दंदी धारे-धारे बादी, धारे-धारे कथण हारं ।। 4 ।।
चौथे जुग मधे जुगचारि थापिला, ग्यांन निरालंब रहिया ।
मछींद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, कोई बिरला उतारिया पारं ।। 5 ।।

गोरखनाथ योगी का यह सत्य बचन है, कि मैं निराकार, निर्विकार, निर्गुण अलख-निरंजन परमेश्वर के रंग, स्वरूप में स्वस्थ हो गया । जिस योगात्मा ने महायोगज्ञानोपदेश के प्रकाश में सद्गुरू (के अनुग्रह) से अलेख-रूपरंगरहित अथवा अलख, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अन्तर्बोधगम्य, निरंजन का परिचय प्राप्त किया है, मैं उसी के सत्संग में, सन्निधान में सदा निरन्तर निवास करना ही जीवन का परम श्रेय समझता हूँ । अलख पुरूष अकाल हैं, युगसापेक्ष उसका स्वरूप रूप में अभिव्यक्त तो होता है, पर यह उसकी सनातन अखण्डता का ही परिचायक है । परमात्मा का अखण्ड स्वबोध सनातन है, कालविशिष्ट नहीं है । यह सच है कि युगानुक्रम से सत्युग (आदियुग) में घट-घट में व्याप्त शाश्वत चैतन्य की अभिव्यक्ति का विशेष रूप से अनुभव किया गया, पर उसमें अहंकाररूपी विषधर साँप, सकाम कर्मफल की प्राप्ति की ऐषणा ने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व,-जो आत्मज्ञान, स्वबोध से शून्य थे, सभी को डँस लिया । सत्ययुग के बाद त्रेतायुग का क्रम है, इसमें परब्रह्म ने दिव्य प्रकृति, परम दैवी सम्पत्ति के संरक्षण के लिये रामरूप में लीला की, अपने चरित, रामायण का प्रकाश किया, पर नर-बन्दर का घोर संग्राम छिड़ गया, दोनों पक्षों की महती हानि हुई, भयंकर संहार हुआ, पर सगुण-साकार ब्रह्म के अभिव्यक्त होने पर भी उसके वास्तविक साक्षात्कार, अनुभव अथवा बोध या सत्स्वरूप का परिज्ञान दैवी और आसुरी शक्ति में संघर्षरत प्राणियों को न हो सका । इसी तरह तीसरे युगानुक्रम द्वापर में साक्षात् परमात्मा की कृष्णरूप में साकार अभिव्यक्ति हुई । उस समय लोग अहंकारजन्य आडम्बर और पारस्परिक कलह (नारद) के कारण एक-दूसरे को नीचा दिखाने में आसक्त हो गये । कौरव और पाण्डव ने भीषण संहार का दृश्य उपस्थित किया और सत्स्वरूप का बोध दुर्लभ हो गया । चौथे युगानुक्रम, कलियुग में तो प्राणी आचार-विचार से हीन ही है, प्राणियों में द्वन्द्व है, ज्ञान-अज्ञान, सत् और असत् विद्या-अविद्या के वास्तविक रूप को समझने की उनमें शक्ति ही नहीं है, व्यर्थ वाद-विवाद और प्रलापमात्र में उलझ कर वे सद्ज्ञान से शून्य हैं । चारों युगों की विशिष्टता को दृष्टि में रखकर यही बात समझ में आती है कि एकमात्र निराधार, सर्वाधार, घट-घट में, सचराचर में व्याप्त अलख-निरंजन परमात्मा का ही अनुभव करना

चाहिए । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि कोई बिरला पुरूष ही अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर संसार-सागर से पार उतर जाता है ।

(30)

ऐसा जाप जपौ मन लाई, सोहं सोहं अजपागाई ।।टेक।।
आसण दिढ़ करि धरौ धियानं, अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं ।
जाग्रत न्यंद्रा सुलप अहारं, काम-क्रोध अहंकार निवारं ।। । ।।
नासा अग्र निपुज्यौ बाई, इड़ा प्यंगुला मधि समाई ।। 2 ।।
छ सै सहंस इकीसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप ।
बंक नालि मैं ऊगै सूर, रोम-रोम धुनि बाजै तूर ।। 3 ।।
उलटै कंवल सहंसदल वास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास ।
मछिंद्र प्रताप जती गोरष रहै, परम तत कोई बिरला कहै ।। 4 ।।

परमात्मतत्व के साक्षात्कार का यौगिक साधन यह है कि पहले पद्मासन, सिद्धासन, अथवा योगासन में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाओ और मन की वृत्ति, चित्तवृत्ति को परब्रह्म के स्वरूप (ब्रह्मज्ञान) में संयोजित कर परमात्मा का स्मरण करो । चित्त को परमेश्वर के ध्यान में लगा दो । प्राण (जीवात्मा) का उत्थान, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश अजपाजप की सिद्धि से सम्भव होता है । रात-दिन में प्राण का इक्कीस हजार छः सौ बार शरीर में उत्थान होता है, प्रत्येक श्वास को, हंस को सोहं के जाप में स्थिर कर दो । प्राण हकार की ध्वनि से बाहर जाता है और सकार की ध्वनि से भीतर आता है । इस तरह सदा हंस-हंस मंत्र का जप होता है । यही अजपागायत्री अथवा अजपाजाप है, जिसके द्वारा जीवात्मा को सोऽहं, अपने परब्रह्मस्वरूप में स्वस्थिति का बोध होता है । निद्रा आने पर जागते रहो, निद्रा से साधना में अवरोध उत्पन्न होता है, इसी तरह अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करो, क्योंकि अधिक भोजन करने से आलस्य उत्पन्न होता है, प्राणवाहिनी नाड़ियों में विजातीय द्रव्य (मल) एकत्र हो जाता है और साधक प्रमाद करने लगता है, प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से नाभि से समुस्थित होकर बायें और दायें नासारन्ध्रों के मार्ग से नासाग्र तक गति कर आज्ञाचक्र में, त्रिकुटी में जब प्रवेश

करता है, तब अनाहतनाद सोऽहं मंत्र की अजपाजाप द्वारा सिद्धि से स्वतः उत्पन्न हो जाता है, इसलिये इस नाद में अन्तर्लीन होने के लिये काम, क्रोध और अहंकार का भाव मन में कभी नहीं पैदा होने देना चाहिए, ये तीनों साधना में भयानक रूप से बाधक हैं । अनाहतनाद के सहज उत्पन्न होने से बंकनालि, सुषुम्ना में सूर्योदय, आत्मज्ञानोदय हो जाता है और रोम-रोम में तूर्यनाद का श्रवण होने लगता है, अंग-अंग में अनाहतनाद का संचार हो उठने पर सच्चिदानन्दस्वरूप की परिव्याप्ति का शरीर के भीतर अनुभव होने लगता है । भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में, जहाँ शून्य-ही-शून्य गहनतम नीरवता है, प्रकाश छा जाता है , परमशिव का प्रबुद्ध कुण्डलिनी महाशक्ति से सायुज्य स्थापित हो जाता है । नाभिस्थान में रहने वाला प्राणहंस उलटकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है, जीवात्मा परमात्मा में अन्तर्लय अथवा तादात्म्य में आत्मरमण करता है । महायोगसिद्ध सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि यह परमात्मानुभव, महत्तत्व का ज्ञान किसी बिरले को ही होता है ।

(31)

जागा जोगी कनक रावलिया, गुरूदेव मेंहली बूठौं ।
षोजतां षोजतां सतुगरू पाया, सहजै नैं भावे तूठौ ।।टेक।।
उतर देस मैं मेंह धड़क्या, दक्षिण बादल छाया ।
पूरब देस थी पाणिग बिछूटी, पछिम खेत्र मैं पाया ।। । ।।
मन पवना धोरी जोतावो सतनां सांतीड़ा समधावो ।
दयाधर्म ना बीज अणावो, इणी परि षेत्रे जावो ।। 2 ।।
षांता न षूटै, देतां न निठै, जम बार नहीं जाई ।
मछीन्द्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नित नवेरडौं थाइ ।। 3 ।।

रससिद्ध रावलयोगी (राजयोगी) साधना में सावधान हैं, जग गया हैं, उसने सिद्ध गुरू का चरणाश्रय ग्रहण कर लिया, (रसायन के द्वारा लोह का स्वर्ण में परिवर्तन करने की विद्या के द्वारा जीवन-यापन करने से ऊब कर) उसने खोजते - खोजते जिज्ञासा की तृप्ति के लिये सद्गुरू की खोज की और उसकी साधना गुरू-प्राप्ति में सफल हो गयी, उसे सद्गुरू मिल गये । गुरू की

प्रसन्नता और कृपा से उसका जीवन सफल, सार्थक और कृतार्थ हो गया । गुरु ने मेघ के रूप में दयामृत की वृष्टि की । अथक परिश्रम और बड़ी खोज के फलस्वरूप उसे सद्‌गुरु की प्राप्ति हो सकी और उसकी साधना से वे कृपामय, अनुग्रह-विग्रह सहज संतुष्ट हो गये, उत्तर दिशा, (कनकरावल योगी के) ब्रह्मरन्ध्र में अमृत के बादल घहर-घहर कर दक्षिण दिशा (स्वाधिष्ठान चक्र) में छा गये । प्राण हंस साधन-मार्ग पर, ब्रह्मरन्ध्र में उस अमृत का पान करने के लिए अग्रसर हो उठा, इस तरह पूर्व दिशा, इड़ा-पिंगला नाड़ियों से प्राणामृत की धारा छूट पड़ी, प्रवाहित हो उठी और पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में पहुँच गयी । इस तरह योग-साधना में तत्पर योगी को मन और पवनरूपी दो धवल, निर्मल बैलों को जोतना चाहिए और नाथने की रस्सी (प्राणायाम की साधना, सांतीड़ा) से उन्हें नाथ कर वश में कर लेना चाहिए । मन और पवन ही शरीररूपी खेत को जोत कर साधन-क्षेत्र में परिवर्तित करते हैं । दया और धर्म ही बीज हैं, सत्य ही नाथने की रस्सी (सांतीड़ा) है । जीवन में दया और धर्म के आचरण से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है । इसलिए दया और धर्म की ही सदा हरी-भरी रहने वाली, हरीतिमा से लहलहाती रहने वाली खेती करनी चाहिए । इस पुण्यमयी खेती से प्राप्त दया और धर्मरूपी अन्न-भण्डार का जितना ही परोपकार में उपयोग होता है, उतना ही यह बढ़ता है । इस तरह प्राण-साधना करने पर योगी, योग-साधक यमराज के द्वार पर नहीं जाता, उसका शरीर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रहप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि शरीर नित्य-नवीन (नवेरडो) बना रहता है ।

(32)

जीव सीव न संगै बासा, ना बधि षाइबा रे रूध्र मासा ।।टेक।।
धाव न धातिबा हंस गोतं, बदंत गोरषनाथ निहारि पोतं ।। 1 ।।
मारिबा रे नरा मन द्रोही, जाकै बप बरण नही मांस लोही ।। 2 ।।
सब जग ग्रासिया देव दाणं, सो मन मारीबा रे ।
गहि गुरूग्यांन बांण ।। 3 ।।
पसू क्या हतिये रे प्यंडधारी, मारिये पंच भू मृघला जे चरै बुधि बाड़ी ।
जोग का मूल है दया दानं, भणत गोरषनाथ ए ब्रह्म ग्यांन ।। 4 ।।

परमात्मा बड़े करूणामय हैं, वे अन्तर्यामी हमारे शरीर में और सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हैं । सभी जीवात्मायें, अपने ही स्वरूप हैं, इसलिए मृगया में किसी पशु-पक्षी तक का भी वध नहीं करना चाहिए, न उनके इस तरह मृत शरीर के मांस और रूधिर का ही भोजन के लिए उपयोग करना चाहिए, सचराचर आत्मरूप है । जो प्राण हमारे पुत्र, पौत्र के शरीर में है, वही दूसरे के शरीर में है । इस तरह सभी से आत्म सम्बन्ध है, अपने पुत्र-पौत्र को देखकर दूसरों के वध से निवृत्त होकर हृदय में सभी के प्रति दया का भाव रखना चाहिए । पर-पीड़ा से बढ़कर दूसरा कोई महापाप है ही नहीं । हे मनुष्यो ! यदि मृगया का ही शौक है, तो इसके लिए अपने मन को मारो, मन पर विजय प्राप्त करो, यह भी तो मृग है, चंचल है, न इसके शरीर है, न मांस है और न रक्त है, इसलिए इसे मारने से वह पाप नहीं लगेगा, जो जीव की हत्या अथवा वध करने से लगता है । इस मनरूपी मृग ने देव-दानव, सभी को अविद्याग्रस्त कर दिया है, मुग्ध कर दिया है, इसे मारने का उपाय है गुरूज्ञानरूपी बाण । गुरू के शब्द, उपदेश को जीवन में उतारने पर ही मनरूपी मृग अपने आप मर जाता है, उन्मन अथवा अमनस्क होकर ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमशिव के साक्षात्कार का साधन बन जाता है । शरीरधारी पशुओं का बध करना हिंसा है, जीवहिंसा करने से किसी तरह का आध्यात्मिक, पारमार्थिक लाभ नहीं मिलता है, तो पांचभौतिक शरीर में निवास करने वाले चंचल मन को मारना चाहिए, यह मन हमारे बुद्धिरूपी, सद्विवेक रूपी उपवन को श्रीहीन कर देता है, विषयवासना में बुद्धि को भ्रमित कर परमेश्वर के भजन में विघ्न डालता है । योग की साधना का परम फल यही है कि हमारे हृदय में प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव हो, यह सद्भाव ही दया अहेतुकी करूणा का रंगमंच है, दयाभाव का पोषण करना ही योगज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्नत्व, अखण्डत्व, निरंशता, निर्विकल्पता और निश्चयात्मक स्वरूप का प्रतिपादक है, यही ब्रह्मज्ञान है, अलख-निरंजन परम शिव के स्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान है । सर्वात्मदर्शन ही ब्रह्मज्ञान है ।

(33)

ऐसा रे उपदेस दाषै श्रीगोरष राया ।
जिंनि जगचतुर बरन राह लाया ।।टेक।।

पढ़िले संसवेद । करिलै बिधे नषेद ।
जाणिलै भेदांन भेद । पूरिलै आसा उमेद ।। ।।
विषमी संधे मंझारी । संझाया पंची वषत सारि ।
रहिबा दसवैं दुवारि । सेइबा पद निराकार ।। 2 ।।
जपि लै अजपाजाप । विचारि लै आपै आप ।
छुटिला सबै बियाप । लिपे नाही तहां पूनि पाप ।। 3 ।।
अहो निसि समो ध्यांन । निरंतर रमेबाराम ।
कथै गोरषनाथ ग्यांन । पाईला परम निधांन ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(स्वास सुसमवेद । बिदि हदि । अजपाजाप । विषमी संधी नाभि विषनाड़ी सुषमन ।)

(शिवगोरक्ष योगेश्वर) गोरखनाथ का बचन है कि मेरा यह योगज्ञान प्राणीमात्र के लिये हितकारी और कल्याण स्वरूप है । यह (मेरे) ऐसे योगी का योगानुभव, योगज्ञान है, जिसने चारों वर्णो के लोगों के लिये, समस्त जगत् के प्राणियों के लिये योग की साधना के मार्ग पर (बिना किसी भेदभाव के) चलने की सत्प्रेरणा प्रदान की है, (गोरखनाथ का उपदेश है कि) चारों स्थूल वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ही पढ़ने मात्र से आत्मज्ञान और परमात्मानुभव की प्राप्ति नहीं हो जाती है, इसलिए स्वसंवेद्य तत्व, अलख-निरंजन, निजाशक्ति में स्वरूपस्थ ऊँकार ब्रह्म का अनुभव, योगसाधना, कुण्डलिनी, षट्चक्रभेदन, नादानुसन्धान और सहस्रार में सुषुम्ना के मार्ग से मन-पवन के लय द्वार से भी परे स्वसंवेद्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस स्वसंवेद्यानुभूति के प्रकाश में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध और रूप, दोनों में भेद का ज्ञान हो जाता है, पिण्ड में ही व्याप्त महासाकारपिण्ड पद ब्रह्म का अनुभव हो जाता है । योगसाधना में सिद्धि-प्राप्ति का यही सुगम और सहज मार्ग है । इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ विपरीत दिशागामिनी हैं, ये विषम नाड़ियाँ हैं, एक चन्द्रनाड़ी शीतल है, तो दूसरी सूर्यनाड़ी उष्ण है, इन दोनों में संचारित होने वाले श्वास को सुषुम्ना, विषमीसन्धि नाड़ी में संस्थित कर गंगा, यमुना, सरस्वती के तट पर स्थित होकर प्राणहंस, जीवात्मा को संगम-स्नान कर लेना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान कर जीवात्मा को, मन को

उन्मन कर, उन्मनी समाधि लगाकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर अलख-निरंजन के ध्यान, चिन्तन और भजन में समाहित हो जाना चाहिए। सुषुम्ना में स्थित होकर पाँचों समय की संध्या पूरी करनी चाहिये। पाँचों समय की संध्या का तात्पर्य पंचज्ञानेन्द्रिय से है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्लीन कर परमात्मा के अभिमुख कर देना ही पंच संध्या का अनुष्ठान है। नाभिस्थान में उत्थित प्राणहंस की, शरीर की प्राणवाहिनी नाड़ियों में इक्कीस हजार छः सौ बार आवृत्ति, पुनरावृत्ति होती रहती है, प्राण हकार ध्वनि से बाहर आता है, सकार ध्वनि से भीतर जाता है, सोऽहं-सोऽहं का जप निरन्तर चलता रहता है, यही हंसगायत्री महाविद्या, प्राणविद्या है, अजपाजप के द्वारा, सहज जप के द्वारा हंस-मंत्र की सिद्धि कर जीवात्मा को आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, परमात्मा से अभिन्न सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए। इस स्वरूपज्ञान से जीवात्मा को पाप-पुण्य, विधि-निषेध से परे स्वसंवेद्य, ऊँकारस्वरूप निरंजन ब्रह्म में तल्लीन होकर रात-दिन, सब समय (समौ) समाधिस्थ होकर ध्यानस्थ रहना चाहिए। अलख-निरंजन, घट-घट में रमण करने वाले आत्माराम में ही रमण करना चाहिए। गोरखनाथ का बोध-वचन है कि इस तरह की साधना के द्वारा मैंने परम पद, सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति कर ली।

(34)

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला,
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।टेक।।
दूधैं धोया कोइला ऊजला न होइला,
कागा कंठै पहुप माल हंसला न भैला ।। 1 ।।
अभाजै सी रोटली कागा ले षाइला,
पूछो म्हारा गुरू नैं कहाँ बैसि षाइला ।। 2 ।।
उतर दिस आविला, पछिम दिस जाइला,
पूछौ म्हारा सत गुरू नैं, तिहां बैसि षाइला ।। 3 ।।
चोटी केरा नेत्र में गज्येंद्र समाइला,
गावड़ी के मुष में बाधला बिवाइला ।। 4 ।।
बारैं बरसैं बंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिंद्र नापूता ।। 5 ।।

(कायेला मन । दूध तीरथ । काग मंन । पहुंप पुरांन । आभा काया । काग काल । उतर सबद में । पछिम पाछिली बुधि । दूजा अरथ । उतर माया । पाछिल परमेश्वर । चीटी मनसा । गजिंद्र मन । गाय आत्मां । बोध ग्यांन ।)

(इस पद में गहिला का आशय अज्ञान में भटकने वाले और मानसिक विकार से ग्रस्त प्राणी से है ।) हे अज्ञानी, मूढ़, मायाग्रस्त मनुष्य ! बिना गुरू के शरणागत हुए आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा, गुरू ही आत्मा और परमात्मा के अभिन्नस्वरूप का प्रतिपादक ज्ञान-प्रकाश प्रदान करते हैं । निगुरा (जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नहीं हो सकी है) अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकलने में समर्थ नहीं हो सकता, निगुरा नहीं रहना चाहिए, संसारसागर से पार उतरने और परमात्मा की प्राप्ति अथवा योगानुभूति के लिये गुरूमुख (गुरूज्ञानप्रकाश के सम्मुख) रहना चाहिए । हे भाई, गुरू ही जगत् के असत् सम्बन्ध और मोहान्धकार से निवृत्त, मुक्त करने में समर्थ है । यह लोकप्रसिद्ध बात है कि (काले) कोयले को, जिसका सहज नैसर्गिक रंग ही काला है, उजले द्रव, दूध में धोने से उस में धवलता नहीं आ सकती, वह उजला नहीं हो सकता, कौए को पुष्पों की माला पहना देने मात्र से ही वह हंस नहीं कहला सकता, इसी तरह मनरूपी कौए को केवल उपदेशों के श्रवणमात्र से ही निर्मल नहीं बनाया जा सकता । जीवात्मारूपी काग सम्पूर्ण अखण्ड ब्रह्मानुभूतिरूपी रोटी (जो काग का भक्ष्य है, भोज्य है) को खाता है, परमात्मानुभूति का आस्वादन करता है । यह जीवात्मा परमात्मा ही का स्वरूप है, अभिन्न रूप है, कर्म-विपाक के भोगवश अपने अंशी परमात्मा से अभिन्न-सा प्रतीत होता है, यह कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन तथा अजपाजप के द्वारा प्राणहंस सोऽहं मंत्र की सिद्धि कर ब्रह्मरन्ध्र, उत्तर दिशा में स्थित होकर परम कैवल्य की अनुभूति करता है । हमारे सद्गुरू से ही इस सत्य का प्रकाशन होता है । उनके अनुभव से विदित होता है कि पश्चिम दिशा, सुषुम्णा के मार्ग से ही वह अपने स्वरूप, ब्रह्मरन्ध्रस्थ शिव में ही अधिष्ठित होता है । जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में ही पुनः उन्मनी समाधि में स्थित होकर पूर्ण ब्रह्मानुभूति का रसास्वादन करता है । यद्यपि यह असम्भव है कि चींटी के नेत्र में हाथी प्रवेश करें, समा जाय, तथापि इस तरह

की सम्भावना के पोषण का आशय है कि आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म है, अणु से भी अणु है और उसमें सारा स्थूल प्रपंच सन्निविष्ट है । जिस तरह गाय के मुख में बाघिन के बच्चा देने का आशय है गाय का बाघिन से नष्ट हो जाना, इसी तरह मायारूपी गाय में आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है और इस तरह ज्ञान के प्रकाश में अविद्या-अज्ञान का अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है । मायिक जीवन निष्फल है, माया में ज्ञान का, आत्मज्ञान का प्रकाश होना कठिन है, यह माया बाँझ स्त्री के समान है, बाँझ पुत्र-प्रसव कर ही नहीं सकती । माया में (बारह वर्ष के बाद, सुदीर्घ काल तक योगाभ्यास करने के बाद) जीवात्मा को आत्मज्ञान, स्वरूपबोध मिलता है तो मिल जाता है, माया में यह ज्ञानोदय ही बाँझ का पुत्र-प्रसव है । यह आत्मज्ञान होने पर माया के हाथ-पैर की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसका वन्ध्यापन समाप्त हो जाता है, हाथ-पैर के टूटने का आशय है माया का अपंग हो जाना । योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने यह अनुभव किया है, योगसिद्धि में सद्गुरूज्ञान के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार कर अच्छी तरह समझ लिया है कि आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में मन का निर्मल होना आवश्यक है, तन का योगाग्नि में पकना आवश्यक है । ऐसा होने पर ही गुरू के अनुग्रह से जीवात्मा कैवल्य अथवा परमपद में स्वस्थ होकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार करता है'।

(35)

कहा बुझै अवधू राई गगन न धरनी
चंन न सूर दिवस नहीं रैनी ।।टेक।।
ऊंकार निराकार सूछिम न अस्थूलं,
पेड़ न पत्र फलैं नहीं फूलं ।। । ।।
डाल न मूल न वृष न बेला, साषी न सबद गुरू नहीं चेला ।। 2 ।।
ग्यानें न ध्यानें जोगे न जुक्ता, पापे न पुंने मोषे न मुक्ता ।। 3 ।।
उपजै न बिनसै आवै न जाई, जुरा न मरण वांके बाप न माई ।। 4 ।।
भणत गोरखनाथ मछींद्र ना दासा,
भाव भगति और आस न पासा ।। 5 ।।

हे अवधूतराज ! योगसिद्धपुरुष, वह परमेश्वर ज्ञान का विषय नहीं है, नादबिन्दुकलातीत है, वह धरती और गगन, चन्द्रमा और सूर्य, दिन और रात-दिक्कालातीत, अणु से अणु, महान्-से-महान्, सूक्ष्म, विराट् है । यह ओंकार ब्रह्म न गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में ही अपने स्वरूप में सीमित है, न धरणी, पृथ्वी (मूलाधार) में ही है, यह तो पृथ्वी से आकाश, स्थूल से सूक्ष्म, सभी में व्याप्त है, यह न चन्द्रमा (सहस्रारस्थित अमृतज्योति तत्व) और न सूर्य (नाभि में स्थित तेजस्तत्व) ही से प्रकाशित है, यह स्वयंप्रकाश है, यह दिवस और रात्रि के भेद से भी प्रभावित नहीं है, दिन और रात की सीमा से अप्रमेय है, यह निराकार ब्रह्म अनादि है, मूलरहित है, यह न वृक्ष है और न उसकी आश्रित बेलि-माया है, यह पत्र, पुष्प-फल भी नहीं है, इसके स्वरूप का अनुभव तो है पर स्वरूप के वर्णन का कोई साखी नहीं है, वह साखी और शब्द के अतीत है, यह न चेला है, न गुरू है । यह उपास्य, उपासक, ज्ञेय और ज्ञाता, सभी भावों से परे और असीम है । वस्तुस्थिति तो यह है कि परमात्म सत्य का साक्षात्कार ज्ञान-ध्यान का भी विषय नहीं है, योग और युक्ति (यौगिक साधना) से भी यह तत्व अभिव्यक्त नहीं होता है, यह पाप-पुण्य के द्वन्द्व में सर्वथा निर्लिप्त है, यह सर्वतंत्र स्वतंत्र परम सत्ता है और कर्म की गति इसका स्पर्श ही नहीं कर सकती है, मोक्ष और मुक्ति से भी सहज शून्य है यह परमतत्व । न इसका जन्म होता है, न इसकी मृत्यु होती है, उत्पत्ति और विनाश के नियम इसके आकार अथवा स्वरूप-निश्चय में निष्प्रयोजन और निरर्थक है । न तो यह अपने पद से च्युत होता है, न अपने आकार के बाहर होता है, यह अच्युत है, निजाकार अथवा स्व है । यह जन्म और मृत्यु से परे है, न उसको जन्म देने वाला कोई पिता है, न पोषण और पालन करने वाली माँ है, वह सकल सृष्टि का स्वामी, नियामक और स्वयं उत्पत्ति और लय का अनादि, सनातन कारण है । उसे भाव (प्रेम) और भक्ति (श्रद्धा-विश्वास) से भी नहीं समझा जा सकता, उसमें उपास्य और उपासक-भाव की यद्यपि उसके रूप (सौन्दर्य-माधुर्य) के आस्वादन की दृष्टि से सार्थकता है तथापि वह इससे परे है, वह आशापाश (माया के जाल) में आवृत्त नहीं होता है, मत्स्येन्द्र योगेश्वर के शिष्य गोरखनाथ का यह सत्य अनुभव है, परमात्मा स्वसंवेद्य है ।

आवो माई धरि-धरि जावो, गोरष बाला भरि-भरि खावो ।।टेक।।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद-बिबाद ।। । ।।
पवन गोटिका रहणि अकास, महीयल अतंरि गगन कविलास ।। 2 ।।
पयालनीं डीबी सुंनि चढ़ाई, कथंत गोरषनाथ मछींद्र बताई ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(धरि-धरि धरया की तासीर जाई । टेक । पारा बिंद । नाद सबद; ससि सूर ताता सीला । पवन गोटिका । आकास ब्रह्म । गगन कँवल । डीबी मनसा । सुंनि समाधि ।)

हे माताओं ! मैं भिक्षा के लिये फेरी लगा रहा हूँ, बालयोगी, बालयती (गोरखनाथ) से अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये आशीर्वाद प्राप्त करो, मुझे भिक्षा दो, दरवाजे पर आकर भिक्षा रख दो और मुझे आदेश दो कि हे गोरखनाथ बालयोगी ! भिक्षा ग्रहण करो और इससे भोजन सिद्ध कर अपने शरीर को योगाचरण में लगाये रहो । हे माताओं ! मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण कर योगाभ्यास में तत्पर हूँ, मैंने बिन्दु (शरीर के रस, पारा) को क्षरित होने से बचा कर उसे ऊर्ध्वमुख कर प्राणायाम के द्वारा शरीर में जीर्ण कर, पचा कर (शरीर की) चौसठ सन्धियों और सभी प्राणवाहिनी नाड़ियों को शुद्ध कर, आज्ञाचक्र में स्थापित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया है । यह आज्ञाचक्र ही नाद की उत्पत्ति का स्थान है । ('आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदा ज्ञाचक्रमुच्यते'-गोरक्षसंहिता) प्राण और अपान, ह और ठ, सूर्य और चन्द्र का समरसत्व करने से वीर्य अपने आप ऊर्ध्वगामी होकर ब्रह्मरन्ध्र में नाद से मिल जाता है और जीवात्मारूपी योगी परमशिव का साक्षात्कार करता है । हे माताओं ! मैंने प्राणविद्या की सिद्धि कर, भगवती गायत्री के अनुग्रह से हंसमंत्र को अभिमंत्रित कर पवन गुटिका के सहारे ब्रह्मरन्ध्र, आकाश में प्रवेश किया है, हंसमंत्र, सोऽहं-सोऽहं मंत्र का जप ही पवन-गुटिका (गोटिका) है, इस तरह मेरा निवास ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में है, शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र ही कैलाश है, जिसमें परमा[illegible] परब्रह्म अलख-निरंजन अपनी निजाशक्ति में नित्य विद्यमान है और हठयोग ही नहीं,

सम्पूर्ण योगविद्या का परम प्रतिपाद्य है । ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) कैलाश, शरीर में (पृथ्वी पर) ही विद्यमान है । मैंने पाताल (पयाल) की शक्ति (डौबी), मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी को षट्चक्रों के भेदन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध, नादसन्धान आदि से जागरत कर शून्य आकाश में ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा लिया है । यही महायोगज्ञान है कि ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए स्थापित कर योगी परमशिव का साक्षात्कार करें । मेरे गुरूदेव महामति योगाधीश्वर सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ ने कृपापूर्वक मुझे इस महायोगज्ञान की सिद्धि का उपाय बताया है ।

(37)

कैसे बोलौं पंडिता देव कौने ठांई,
निज तत निहारतां अम्हें तुम्हें नाहीं ।।टेक।।
पषांण की देवली पषांण का देव,
पषांण पूजिला कैसैं फटीला स्नेह ।। । ।।
सरजीव (तेड़िया) तोड़ीला निरजीवी पूजीला,
पाप की करणी कैसैं दूतर तिरीला ।। 2 ।।
तीरथि-तीरथि सनांन करीला,
बाहर धोये कैसैं भीतर भेदीला ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता,
निज तत निहारै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

हे पण्डितों ! परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान है, सर्वव्यापक है, ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह विद्यमान नहीं है, इसलिये किसी एक स्थान पर उसे विद्यमान कहना निरा अज्ञान है । निज तत्व (आत्मा) की व्यापकता का सर्वत्र ज्ञान (दर्शन) हो जाने पर 'मैं' 'तुम' का भेद उसी स्थल (परमात्म) दर्शन में अन्तर्लीन हो जाता है । हे पण्डित ! परमात्मा के सगुण रूप के उपासको, पाषाण का मन्दिर बना कर उसमें पाषाण की इष्ट देव की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा मात्र से ही सर्वव्यापक महाशक्तियुक्त परमेश्वर के ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य के प्रति हृदय में स्नेह नहीं प्रस्फुटित हो सकता । प्राषाण प्रतिमा निर्जीव है । पत्र-

पुष्प आदि सजीव हैं । इन्हें तोड़कर निर्जीव प्रतिमा पर चढ़ाने में पाप लगता है । यह पाप कर्म करके तुम दुस्तर भव सागर का संतरण कैसे कर सकते हो ? तीर्थों में जाने और उनमें स्नानादि सत्कर्म द्वारा शरीर तप-पूर्वक शुद्ध ओर संस्कारित कर लेने मात्र से ही जीवन के परम-चरम प्रतिपाद्य परमात्मा के स्वरूपानुभव की प्राप्ति नहीं हो जाती, मन और हृदय के भाव की परिशुद्धि आवश्यक है । बाह्य शुद्धि के साथ आन्तरिक शुद्धि होने पर ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है, शरीर के भीतर स्थित ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रूद्रग्रन्थियों का भेदन होने पर ही जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि में परमतत्व का बोध पाता है । कुण्डलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करने पर ब्रह्मग्रान्थि का भेदन होता है, कुण्डलिनी विद्युत्रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है, वह अनाहतचक्र (हृदय) में पहुँच कर विष्णुग्रान्थि और आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में प्रवेश कर रूद्रग्रन्थि का भेदन करती है । इस प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर शिव में मिल जाती है । बाह्य (तन की) शुद्ध के साथ-ही-साथ आन्तरिक शुद्धि (मन शरीर की प्राणवाहिनीनाड़ियों की शुद्धि) आवश्यक है, ऐसा होने पर ही परमात्म दर्शन होता है । मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने इस तरह स्वरूपबोध, परमात्मा का अन्तर्दर्शन प्राप्त किया ।

(38)

पंडित जण जण बाद न होई, अणबोल्या अवधू सोई ।।टेक।।
पत्रे ब्रह्मा कली बिसना, फल मध्ये रूद्रमदेवा ।
तीनि देव का छेद किया, तुम्हें करहु कौन की सेवा ।। । ।।
येक डंडी दुडंडी त्रियडंडी भगवान हूवा ।
विष्न को तिन पार न पायौ, तीरथां भ्रमि भ्रमि मूवां ।। 2 ।।
येक काल मुहां जटाधारी, ल्यंग उपासिका हूवा ।
महादेव को तिन पार न पायो, राष रौलि रौलि मूवां ।। 3 ।।
चारि महाधर बारह चेला, येकंकारी हूवा ।
कायम को तिन पार न पायो, जोति बालि बालि मूवां ।। 4 ।।
चौदसियांने पूनमिया, जैन ब्रतधारी हूवा ।
अरहंत को तिन पार न पायो केस लोंचि लोंचिमूवां ।। 5 ।।

येक मुलांनमदोइ कुरांनम, ग्यारह षुरसांणी हूवा ।
अलह को तिन पार न पायौ, बंग देइ देइ मूवां ।। 6 ।।
नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा ।
जोग को तिन पार न पाया, बनषंडा भ्रमे भ्रमे मूवां ।। 7 ।।
पंच तत्त की काया बिनसी राषि न सक्या कोई ।
कालदेवन जब ग्यान प्रकास्या, बदंत गोरष सोई ।। 8 ।।

हे पंडितो, ज्ञानियो, अलख-निरंजन, परमेश्वर अप्रतर्क्य है । अवधूत योगी, योगसिद्ध पुरूष उसका अनुभव करता है और अपनी अनुभूति से दूसरे लोगों को परमात्मा की अपरोक्षानुभूति से कृतार्थ करता हैं, वह वाद-विवाद से ब्रह्म की सिद्धि नहीं करता है । पत्र, पुष्प, फल में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव व्याप्त हैं, उन्हें तोड़कर, परमदेव को समर्पित कर उसकी उपासना अथवा पूजा (सेवा) में विघ्न और विच्छेद उपस्थित करना मात्र है, इससे परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता है, इस बाह्य पूजोपकरण से उनकी अनुभूति नहीं होती है, यह शरीर ही पत्र है, मन ही पुष्प है, हृदय ही फल है, तन-मन और हृदय के समर्पण में ही परमात्मा की पूजा सिद्ध होती है । यद्यपि तीर्थो में भ्रमण कर तन-मन की शुद्धि की जाती है और सत्संग के द्वारा सत्स्वरूप के बोध में सहायता मिलती है, पर इस बाह्याचार में अटके रहने से सर्वव्यापक विष्णु का साक्षात्कार नहीं होता है । दण्ड धारण कर यतिवेष में भ्रमण करने वाले एकदण्डी (हंस) तथा दो दण्ड और त्रिदण्ड धारण करने वाले त्रिदण्डी संन्यासी का संन्यासग्रहण तभी सार्थक होता है, जब अपने भीतर व्याप्त परमेश्वर की निरन्तर अनुभूति होती है । वास्तव में दण्डी तो वह है, जो अहंकार का नाश करता है और कामना का खण्डन करता है । इन्द्रियों की विजय कर परमतत्व का साक्षात्कार करता है । कालमुख जटाधारी, लिंगोपासक शैव योगी शरीर पर राख पोत-पोत कर मर गए किन्तु वे महादेव (परमशिव) का अनुभव नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने भी बाह्य वेष आदि को ही विशेष महत्त्व दिया । अद्वैतब्रह्मनिष्ठ (एकंकारी), ऊँकार ब्रह्म के उपासक योगस्थ सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन तथा उनके बारह शिष्य (अनेक शिष्य, नारद, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, वासिष्ठ आदि) भी आत्मज्योति प्रज्ज्वलित करके (ज्ञानज्योति, के द्वारा) भी परब्रह्म (कायम-मूलस्वरूप) का रहस्य नहीं प्राप्त कर सके । इसी तरह

साधनमय जीवन में अर्हन्त पद (कैवल्य) की प्राप्ति के लिये तीर्थंकर पद में स्थित होने के लिये चौदह व्रतों को धारण करने वाले (चौदसिया) श्रावक अथवा उपासक और पूर्णव्रत धारण करने वाले (पूनमिया) श्रमण भी कठोर- से-कठोर तपस्या में रत होकर केश लोंच कर, अहिंसाव्रत में स्थित रह कर भी अर्हन्तपद का अनुभव न कर सके । वे तप और बाह्य साधन को ही विशेष महत्व देते रह गये और स्वबोध, कैवल्य, परमतत्व के तादात्म्य में स्थिर न रह सके । इसी तरह इस्लाम में परमेश्वर, परम-महान्, परमज्योति की अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है और पवित्र ग्रंथ कुरान में अपने परमात्मसाक्षात्कार अथवा परमज्योति के रसूल- (ईश्वरीय ज्ञान के सन्देशवाहक) मुहम्मद साहब ने अनुभव वर्णन किया है, पर उनकी आन्तरिक परमात्मानुभूति पर विशेष बल न देकर एक अल्लाह के माननेवाले अनुयायियों में भी दो सम्प्रदाय हो गये और बारह नबियों ने, तत्वज्ञों ने अपनी-अपनी साधना के अनुरूप एकही तत्व की व्याख्या की, इस तरह अल्लाह के (परमात्मा के) तत्व का उन्हें सम्यक् वास्तविक बोध न मिला, वे इस बोध के लिये, परमात्मज्योति के साक्षात्कार के लिये बाँग देते रह गये, पर शब्द में ही उलझने पर आन्तरिक परमात्मानुभव न हो सका । यही दशा नवनाथों और चौरासी सिद्धों की है, वे महायोगज्ञान के प्रकाश में परब्रह्म का (अलख-निरंजन का) साक्षात्कार अथवा अनुभव करने के लिये स्थित हो गये, आसनस्थ हो गये, पर स्वरूप में स्थित न हो पाये और अपने-अपने अनुभव के आधार पर परमात्मज्ञान को शब्दों में व्यक्त किया, स्वरूपानुभव अथवा योग का रहस्य वन-खण्ड में घूम-घूम कर, वैराग्य की धूनी प्रज्ज्वलित कर वे नाथयोगी भी न समझ सके । (जिसने समझा, वह मौन हो गया, स्वरूपस्थ हो गया ।) परमतत्व का अनुभव सिद्धदेह, योगाग्नि में पक्व शरीर की प्राप्ति से होता है और योगी अमरकायत्व का लाभ कर जीवन्मुक्ति अवस्था में काल-दण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में योगबल से विचरण करता है । पाँच तत्व, क्षिति, जल, पावक, समीर, और गगन से निर्मित शरीर देखते-देखते मृत्यु का ग्रास बन जाता है, इसको कोई रख नहीं पाता है, यह नष्ट हो जाता है । गोरखनाथ का वचन है कि काल-देवता के द्वारा ही यह ज्ञान प्रकाशित हो सका है कि शरीर नश्वर है, इसके रहते परमतत्व का अनुभव करना चाहिए, मैं इसी ज्ञान-प्रकाश में शरीर को योगसिद्धि कर परमात्मा के साक्षात्कार पर बल देता हूँ ।

भ्रणंत गोरषनाथ कायागढ़ लेबा,
कायागढ़ लेबा जुगे जुगी जीबा ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नौ लख षाई,
जंत्र (चक्र) फिरै गढ़ लीयौ न जाई ।। । ।।
ऊंचे-नीचे परबत झिलमिलि षाई,
कोठड़ी का पांणी पूरण गढ़ जाई ।। 2 ।।
इहां नहीं, उहां नहीं त्रिकुटी मँझारी,
सहज सुंनि मैं रहनि हमारी ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
कायागढ़ जीतिले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

शरीर को योगाग्नि में पका कर, सिद्ध देह की प्राप्ति करना योगसाधना की सिद्धि है, इसमें व्याप्त परमात्मा के साक्षात्कार अथवा अलख-निरंजन के दर्शन के लिये, स्वरूपबोध के लिये यह आवश्यक है कि शरीर शक्तिहीन और जीर्ण न हो । शरीर को जरा जीर्णता से सुरक्षित रखना ही कायागढ़ को विजय करना है । योगी साधक के लिये यह विजय अनिवार्य है । गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, कि योगी को कायागढ़ पर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए । अन्यथा प्राणहंस, जीवात्मा के इसमें से बाहर निकर जाने पर इसकी उपयोगिता अथवा सार्थकता नष्ट हो जाती है । इस कायागढ़ को वश में कर लेने पर इसमें दीर्घकाल तक जीवन्मुक्त होकर कालवंचन (कालदण्ड का खण्डन) कर योगी निवास कर अपने स्वरूप में स्थिर रहता है । इस तरह कायागढ़ पर अधिकार कर इसमें निवास करना चाहिए । इस कायागढ़ में नवद्वार की नवलाख (असंख्य) खाइयाँ हैं, जिन्हें योगाभ्यास द्वारा मुद्रित कर गढ़ की सुरक्षा की जाती है, ये नवों रन्ध्र भीतर प्रवेश कर स्थिर हो जाने में जीवात्मारूपी योगी को बाधा पहुँचाते हैं, उसके काम में विघ्न डालते हैं, प्राणायाम की शक्ति से इन रन्ध्रों को बन्द कर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने से ही स्थिति सुदृढ़ होती है । इसमें जगह-जगह पर यंत्र हैं, चक्र हैं, उन चक्रों का भेदन कर इसमें प्रगति की जाती है । इस दुर्ग में ऊँचे-नीचे अनेक पर्वत हैं, इस गढ़ के ऊपर सहस्रार में स्थित योनि नामक

त्रिकोण चक्र है. यह चंद्रमा का स्थान है. यहाँ से अमृतद्रव (जल) निरन्तर झरता रहता है और पूरे गढ़ का उसके द्वारा पोषण होता है. गढ़ में जीवन ठप्प नहीं होने पाता है । आज्ञाचक्र में त्रिकुटी है. यह भ्रूमध्य में स्थित है. यहाँ मन का लय होता है । अन्य नीचे के पाँच चक्रों में (मूलाधार. स्वाधिष्ठान. मणिपूर. अनाहत. विशुद्ध में) इन्द्रियों का लयस्थान है । इस त्रिकुटी के मध्य में सहज-शून्य ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मनी समाधि में स्थिर कर मैं (गोरखनाथ योगी) अपने स्वरूप में. अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा में तादात्म्य लाभ कर निरन्तर अमृतपान करते हुए. शरीर को मृत्यु का ग्रास होने से बचा कर (अमरकायत्व प्राप्त कर) इसी ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता हूँ और अमृत की कोठरियों पर. जहाँ से सारे शरीर में अमृत की धारा पहुँचती रहती है. मैंने पूरा-पूरा आधिकार कर लिया है । योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ अवधूत. योगी ने कायागढ़ पर विजय प्राप्त कर ली है. और इसी तरह योगाग्नि से पक्व सिद्धदेह. योगदेह में रहकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लिया है ।

(40)

बदंत गोरषराई परसि ले केदारं.
पांणी पीवो पूता तृभुवन सारं ।।टेक।।
ऊंचे-ऊंचे परबत विषम के घाट.
तिहां गोरषनाथ कै लिया सबाट ।। । ।।
काली गंगा धौली गंगा झिलमिल दीसै.
काउरू का पांणी पुनिर गिरि पईसै ।। 2 ।।
अरधै जोगेस्वर उरधै केदारं भोला लोक न जानै मोख दुवारं ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता.
काया केदार साधीले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(केदार ब्रह्मद्वार । पांणी रामरस ।टेक। ऊँचा परबत । रागदोष । ता आगें बाट । यला पिंगुला । झिलमिल पवन । काँवरू काया । पूरण गिरि दसवौ द्वार ।)

हे वत्स (शिष्य) कायसाधन द्वारा शरीर में ही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान करते हुए अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। इस काय-साधन की सिद्धि के लिये, ब्रह्मद्वार, स्वर्गद्वार, केदार का स्पर्श कर लेना चाहिए, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परम परमेश्वर, शिव (लिंग) स्वरूप का स्पर्श भी साक्षात्कार अथवा दर्शन के साथ-ही-साथ आवश्यक है । त्रिभुवन, स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल में परमामृत-जो अमृतमन्दाकिनी त्रिपथगा का त्रिकुटी में स्थित रसद्रव है, का पान करना चाहिए । गोरखनाथ ने प्रत्यक्ष ज्ञाननेत्र से देख लिया है कि काया में स्थित ऊँचे-ऊँचे (राग-द्वेष आदि) पर्वत हैं बड़ी विकट घाटियाँ हैं, परन्तु उनको पार करने के बाद सपाट मैदान-ही-मैदान हैं, जिनमें वाम भाग में बहने वाली इड़ा नाड़ी (गंगा) और दक्षिण भाग में बहने वाली पिंगला नाड़ी (यमुना) का भ्रूमध्य में सुषुम्ना नाड़ी में संगम हो जाता है । ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार में स्थित मूलकन्द से ही प्रवाहित होती हैं । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का मूलाधार में सूर्य के द्वारा जो शोषण होता है, उसे धवल गंगा इड़ानाड़ी और काली गंगा (यमुना) पिंगलानाड़ी ऊर्ध्वमुखी करती हुई भ्रूमध्य में सुषुम्ना से मिल जाती हैं, इस तरह कावरू का पानी ऊपर आ जाता है, कावरू कामरूप है। मूलाधार चक्र (ब्रह्मचक्र) में कामरूपपीठ है और यहाँ पावकाकार शक्ति का ध्यान करने से प्राण ऊर्ध्वमुख होता है, कुण्डलिनी जागकर ऊर्ध्वमुखी होती है, इड़ा-पिंगला से प्राणामृत प्रवाहित हो उठता है, यही कावरू-कामरूपपीठ से अमृत (पानी) का ऊपर चढ़ना है और यह अमृतमयी शक्ति सुषुम्नामार्ग से आकाश चक्र में स्थित सहस्रार के ऊर्ध्वभाग में मध्य में सोलहदल कमलवाली कर्णिका में पूर्ण गिरि पीठ पर पहुँच कर परमशिव में अन्तर्लीन होकर जीवात्मारूपी योगी का जीवन अलख-निरंजन परमशिव के प्रकाश से अभिव्यक्त कर देती है । ब्रह्मरन्ध्र ही स्वर्गद्वार केदार है, यही मोक्ष का द्वार है, इसे अबोध लोग, जिन्हें परमात्मतत्व का अनुभव नहीं है, नहीं जानते हैं । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि हमारे शरीर में ही केदारेश्वर-दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्वरूपस्थ है, इस काया में ही इड़ा-पिंगला के सहारे प्राणामृत को सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित करते हुए दसवें द्वारा केदार में प्रवेश की साधना कर लेनी चाहिए । परमशिव केदार में, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान है ।

(41)

कासौं झूझौं अवधू राइ, विपष न दीसै कोई ।
जासौं अब झूझौरे आत्मा रामा सोई ।।टेक।।
आपण ही मछ कछ अपण ही जाल,
आपण ही धीवर आपण ही काल ।। । ।।
आपण ही सिंध बाघ आपण ही गाय,
आपण ही मारीला, आपण ही षाय ।। 2 ।।
आपण ही टाटी फड़िका, आपण ही बंध,
आपण ही मृतग आपण ही कंध ।। 3 ।।
न्हाइबे कौं तीरथ न पूजिबे कूं देवा,
भणंत गोरषनाथ अलख अभेवा ।। 4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे अवधूत राज सम्पूर्ण विश्व में एक ही परमतत्व विद्यमान है । किसे प्रतिपक्षी मानकर युद्ध करूँ । सर्वत्र आत्मा राम रम रहा है । आत्मा ही मछ (मछली), कच्छप (कछुआ), जाल है, वही मछली और कच्छप को पकड़नेवाला मछुवा (धीवर) है । और वही जाल भी है, जिसमें मछ और कछ पकड़े जाते हैं । इस आत्मसत्ता में राग-द्वेष (किसी भी प्रकार के वैर-विरोध और द्वन्द्व) के लिये तिल मात्र भी अवकाश नहीं है, यही बाघ में है, यही सिंह में है और यही गाय में है । यही मारने-वाला और यही खानेवाला भी है । यही पशु है (जीवात्मा है), यही पाश है (बन्धन है) और यही पशुपति है (शिवस्वरूप है), यह आत्मा ही छप्पर है, बाँस का ठट्टर है और यही फरका (फड़का) भी है, जिससे ठट्टर को (छान के ढाँचे) को छाया जाता है । ठट्टर और फरका (छान) को बाँधनेवाला बन्धन (रस्सी की गाँठ) भी आत्मा है । यह आत्मा जीवात्मा में स्वयं मारने वाला है, शरीररूप में मरनेवाला है अर्थात् आत्मा ही जीवात्मा और शरीर (कन्ध) है । आत्मा (अपना शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप) ही तीर्थ है और आत्मा ही परमपूज्य परमात्मा है, (समस्त तीर्थो में आत्मा है, समस्त स्थापित देव-मन्दिरों में (परमात्मस्वरूप में) इष्ट आत्मा ही प्रतिष्ठित है । वह अलख-निरंजन और एक है, वही एक सर्वत्र है ।

मेरा गुरू तीनि छंद गावै ।
ना जांणौं गुर कहां गैला, मुझ नीदड़ी नआवै ।।टेक।।
कुम्हरा के घरि हांड़ी आछै, अहीरा कै घर सांड़ी ।
बभना कै घरि रांडी आछै, रांडी सांडी हांडी ।। । ।।
राजा कै घरि सेल आछै, जंगल मधें बेल ।। 2 ।।
तेली के घरि तेल आछै तेल बेल सेल ।। 2 ।।
अहीर कै घरि महकी आछैं, देवल मधें ल्यंग ।
हाटी मधे हींग आछैं, हींग ल्यंग स्यंग ।। 3 ।।
एकै सुत्रैं नाना बणियां, बहुँ भांते दिखलावै ।
भणंत गोरषि त्रिगुणीं माया, सतगुरू होइलाषावै ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(त्रिगुणी माया ।टेक।। कुंभार काय कै वसि। हांडी ही माया। अहीर कै महकी माया। ब्राह्मण कै ब्राह्मणी माया। राजा कै सेल माया। वाणियां कैं हींग माया। तेली कै तेल माया। जंगलि बेलि माया। एक ऊँकार नांना प्राण पोया ।।)

मेरे गुरूदेव ने महायोग ज्ञान में स्वस्थ, अलख-निरंजन आदिनाथ शिव के स्वरूप योगीन्द्र (मत्स्येन्द्र) ने मुझे माया के रूप को तीन-तीन उदाहरण देकर (अच्छी तरह) समझाया है और सद्ज्ञान प्रदान किया है । वे कहाँ अदृश्य हो गये, उनके दर्शन के बिना मुझे पलमात्र भी विश्राम नहीं मिलता है, नींद ही नहीं आती है । यह माया कुम्हार के घर मिट्टी से ही आकारित बर्तन-हाँड़ी के रूप में विद्यमान है, पृथ्वीतत्व है पर आकारित होने के नाते उसकी सत्ता भिन्न प्रतीत होती है, सत्ता की भिन्न प्रतीति ही माया है । अहीर के घर में दूध की साढ़ी (मलाई) के रूप में मायां विद्यमान है, यद्यपि साढ़ी दूध की आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, पर साढ़ीरूप में आकारित दूध की भिन्न सत्ता की प्रतीति ही माया है, इस तरह साढ़ीरूपिणी माया सत्स्वरूप दूध का ज्ञान नहीं देती है । यही माया ज्ञानी के घर में स्त्री के रूप में विद्यमान है । ज्ञानी (ब्राह्मण, ब्रह्म का चिन्तन करने वाले) के लिये यह स्त्री

मायारूपिणी हो जाती है । इस तरह हाँड़ी, साढ़ी और स्त्री (रांड़ी) में एक ही आत्मा व्याप्त है, पर भिन्न-भिन्न आकृति में उनमें भिन्न होने की प्रतीति होती है । माया राजा के घर में बरछे अथवा बांण (सेल-शल्य अथवा शर) के रूप में विद्यमान है । उसे वह अपनी शक्ति समझता है । जंगल में (वृक्षों से लिपटी) लता-वेलि है, इसका मूल उसी में है, जिसमें उसके आश्रय वृक्ष का मूल है, संसाररूपी जंगल में यह मायारूपिणी लता-वेलि अपने ही मूल के वृक्ष से भिन्न दीखती है । लता-वेलि की भिन्न आकृति की यह प्रतीति ही माया है । तेली के घर में तेल है, यह तेल तिल का ही रूप है, इस तेल की तिल से अलग सत्ता ही नहीं है, तेल अलग हो जाने पर उसकी भिन्न आकृति अथवा सत्ता की प्रतीति ही माया है, (सेल, बेल, तेल) लोहे से बने बरछे या बांण, जंगल की वेलि और तिल के तेल में एकही सत्ता अभिभूत है, व्याप्त है । अहीर के घर में भैस है, भैंस दूध देती है, देवालय में मूर्ति (लिंग) स्थापित है, उसमें परमात्मा की व्याप्ति है, हाट, बाजार में हींग है, उसमें से सुगन्ध निकलती है, भैंस, मूर्ति, और हींग से दूध, परमात्मसत्ता (दिव्यता) और सुगन्ध में एक ही आत्मसत्ता (परमात्मा) की परिव्याप्ति है । (स्यंग का आशय है सींगवाली भैंस-श्रृंगी) इसी प्रकार एक ही सूत्र से नाना रूप बने हैं । बहुविध आकृतियों में सूत्र एक ही है । गोरखनाथ का कथन है कि सद्गुरू ही कृपापूर्वक त्रिगुणी माया के अन्धकार से ग्रस्त जीवात्मा को अपनी मूल सत्ता (परमात्मा) का बोध देते हैं ।

(43)

गुरूजी ऐसा करम न कीजै, तार्थैं अमी महारस छीजै ।।टेक।।
दिवसै बांधणि मन मोहे राति सरोवर सोषै ।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया धरि-धरि बाघणि पोषै ।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरषा अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई तार्थैं कंध बिनासा ।। । ।।
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुलां की पंषियां ।
अमी महारस बांधणी सोष्या घोर मथन जैसी अषियां ।। 2 ।।
बाधनी कौ निदिलै बाधनी कौ बिंदिलै बाधनी हमारी काया ।।
बाधनी घोषे सुरनर षाये भणंत गोरष राया ।। 3 ।। घोषि

हे गुरूदेव ! स्त्री के सहवास में योगी को नहीं रहना चाहिए, उसकी कामोपभोगपरायणता में प्रवृत्ति होने पर शरीर में विद्यमान जीवनरस, प्राणामृत (वीर्य) क्षीण हो जाता है और भोगी का शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। हे गुरूदेव ! स्त्री (कामिनी) रात-दिन योग की साधना में विघ्न डालती है, इसके सहवास में तो जीवन का नाश-ही-नाश है । वह दिन में अपने हावभाव, कामुक प्रवृत्ति और साज-श्रृगारयुक्त सुन्दर शरीर के प्रति योगी के मन में आकर्षण पैदा करती हैं, अपनी मोहिनी माया में मुग्ध करती है और रात में, जब योगी साधना में प्रवेश करना चाहता है, अपने आलिंगन, परिरम्भण से सद्विवेक का अपहरण कर लेती है, वह इस तरह वीर्यरूपी अमृत के सरोवर को सोख लेती है, यह स्त्री वाघिन है । लोग जानते हुए मूर्खता वश घर-घर में इसका पोषण करते हैं । जिस तरह नदी के किनारे का वृक्ष कभी भी गिर सकता है, उसके बने रहने की प्राय: सम्भावना नहीं रहती है, ठीक उसी तरह जो पुरूष स्त्री में कामासक्त होता है, उसका शरीर अब ढहे, तब ढहे, किसी भी शरीर का प्राणरहित होना सम्भव हो जाता है । सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणचक्र ही चन्द्रमा का स्थान है, वहाँ से शरीर का पोषण करने के लिये अमृतद्रव निरन्तर प्रवाहित होता है, वीर्य हमारे मन में उत्पन्न कामदेव का आस्वाद्य है, ज्यों ही हमारे मन में काम-विकार उत्पन्न होता है, त्यों ही वीर्य अधोमुखी होकर स्खलित हो जाता है, उसका ऊर्ध्वगमन रूक जाने पर शरीर में उसकी जीवन-पोषकतत्व के रूप में महत्ता समाप्त हो जाती है और मेरूशिखर (सुषुम्ना के उर्ध्वमुख ब्रह्मरन्ध्र) से अमृत का स्राव रूक जाता है, शरीर ढीला हो जाता है, नष्ट हो जाता है, पैर डगमगाने लगते हैं, शक्ति में निर्बलता आती है और बुढ़ापा आ जाता है । उसके केश सफेद हो जाते हैं मानो बगुला के सफेद पंख हों । मन को मथने वाली अपने कटाक्षबाण से पुरूष को बिद्ध करनेवाली आँखों से युक्त बाघिन (स्त्री) इस तरह अमृत के सरोवर को सोखकर उसे निष्क्रिय और निर्बल बना देती है । इस बाघिन को दलित कर देना चाहिए, इसके रूपजाल में न पड़ने से यह शक्तिहीन हो जाती है । इस तरह इसे बाँध रखना चाहिए अथवा अपने साधन-अंकुश अथवा संयम से इसे बिद्ध करना चाहिए, जिससे यह शरीर का नाश न कर सके । इस बाघिन से सुर-नर, कोई भी नहीं बच सका, इसने

सबाका आवाहन कर सभी को नष्ट कर दिया । वह इस काया को नष्ट कर देती है । गोरखनाथ का वचन है कि इस कुरमणी से सदा दूर रहना चाहिए।

(44)

भोगिया सूते अजहूँ न जागे । भोग नहीं रे रोग अभागे ।।टेक।।
भोगिया कहै भल भोग हमारा । मनसइनारि किया तन छारा ।। 1 ।।
एक बूंद नरनारी रीधा । ताही मैं सिधसाधिक सीधा ।। 2 ।।
भोगिया सोइ जो भगर्थे न्यारा । राजस-तामस झरै न पारा ।। 3 ।।
भणंत गोरषनाथ सुणो नर लोई । कथणी बदणी जोग न होई ।। 4 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि भोगियों की अभी मोहमयी निद्रा का अन्त न हो सका । वे अब भी संसार में ठोकरें खाकर भी होश में नहीं आ सके । वे ऐसे भोगियों को सम्बोधित करते हैं कि हे अभागे ! सद्वस्तु परमात्मा से विमुख भोगी, जिसे तुमने आनन्द माना है, वह आनन्द नहीं है, वह दुःख से भरा सुखरूपी रोग है । हे भोगियो ! जागो, योग में तत्पर होकर सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति करो । तुम भोगी न बने रहो, क्योंकि भोगी तो यह कहता है कि हमारा भोग ही, असत् में सुख का क्षणभंगुर संयोग ही अच्छा है, भला है । इस तरह इन भोगियों ने रमणी के भोगास्वाद की इच्छा करके अपने वीर्य को अधोगामी और स्खलित कर शरीर को (चिन्ता की अग्नि में) जला कर भस्म कर डाला है, नष्ट कर दिया है । वीर्य के एक बूँद के स्खलन से प्राप्त भोगसुख में स्त्री-पुरुष आसक्त होकर जीवन नष्ट करते रहते हैं और इस बिन्दु को प्राणायाम तथा मुद्राबन्ध आदि की साधना के द्वारा ऊर्ध्वगामी कर शरीर में जीर्ण कर लेने (पचा लेने) से तथा उसे सहस्रार के मूल अमृतस्रोत में प्रतिष्ठित कर देने से असंख्य सिद्धों और योगसाधकों ने योगसाधना में सिद्धि प्राप्त की तथा अलख-निरंजन का दर्शन किया, स्वरूपानुभव में वे स्वस्थ हो गये । वास्तव में आनन्द का भोगी, वास्तविक योगी तो वह है, जो तमोगुणी अज्ञान से विमुग्ध होकर रजोगुणी काम-प्रवृत्ति से दूर रहता है और कामोपभोग की तृप्ति में

वीर्य (पारा) को क्षरित नहीं होने देता है, गोरखनाथ का कथन है कि हे भाइयों । मनुष्यो । ज्ञान के कथन और श्रवण मात्र से योग की सिद्धि नहीं होती है, यह तो साधना और अनुभव का विषय है तथा शरीर में व्याप्त वीर्यरस को सुरक्षित रखने से ही योगसिद्धि सुलभ होती है ।

(45)

मारौ मारौ स्रपनीं निरमल जल पैठी,
त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी ।।टेक।।
मारौ स्रपणी जगाईल्यो भौंरा,
जिनि मारी स्रपणी ताकौ कहा करै जौरा ।। । ।।
स्रपणी कहै मैं अबला बलिया,
ब्रह्मा बिष्न महादेव छलिया ।। 2 ।।
माती माती स्रपनी दसौं दिसि धावै,
गोरषनाथ गारड़ी पवन बेंगि ल्यावै ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
स्रपणी मारिलै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

असत् में सत् की प्रतीति ही अविद्या है, यही माया है, यह माया-सर्पिणी के समान है । इसके विषाक्त दर्शन से प्रायः सभी लोग मूर्छित और अचेत हैं, इसने त्रिभुवन को डस लिया है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने इसे तीनों लोकों को डँसते देखा है । इस सार्पिणी से, विषैली माया के दर्शन से बचने का उपाय है, निर्मल जल में प्रवेश करना, सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र से प्रवाहित चन्द्रामृत का पान करते रहने से ही माया सर्पिणी नहीं डँसेगी, इस सर्पिणी को मार डालना चाहिए और भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान परमशिव का, शाश्वत सच्चिदानन्दघन अलख-निरंजन परमेश्वर का बोध प्राप्त कर लेना चाहिए । जिसने ब्रह्ममंत्र को सिद्धकर सर्पिणी को मार डाला है, वह मृत्यु का ग्रास नहीं बन सकता । उसके अमृतमय शरीर को यमराज (जौरा) नष्ट नहीं कर सकता है । इस मायारूपी सर्पिणी का वचन है कि मैं कहने मात्र के लिये अबला हूँ, माया हूँ, मैं अत्यन्त प्रबल हूँ और त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश, सभी को मैंने काटा है

और वे मेरे विष से अचेत हैं, वे मेरे चक्र में भ्रमित हैं । यह सर्पिणी चारा और मदोन्मत्त होकर घूमती रहती है, गारूड़ी पवन (मन, इन्द्रियों को वश में करने वाले आसन, मुद्राबन्ध, प्राणायाम और नादसन्धान) ही इस सर्पिणी को निर्विष कर देता है, नष्ट कर देता है, वह जीवात्मा को काटने में असमर्थ हो जाती है, मैं (गोरखनाथ) ने इसे निर्विष कर दिया है, गारूड़ी पवन, योगसाधना की सिद्धि कर इसकी शक्ति नष्ट कर दी है । आदिनाथ के पौत्र और मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इस मायारूपी सर्पिणी को मार डाला है । इस अविद्या का अन्त कर दो, माया को मार डालो ।

(46)

थान दे गोरीए गोरष बाला माई बिन प्याले प्याला ।
गिनांन ची डालहीला पालंषू गोरष बाला पौढ़िला ।।टेक।।
देव लोकची देव कंन्या, मृत लोकची नारी ।
पाताल लोकची नागकन्या, गोरष बाला भारी ।। । ।।
माया मारिली मावसी तजीली, तजीला कुटंव बन्धु ।
सहंसर कवल तहाँ गोरष बाला, जहाँ मन मनसा सुर संधू ।। 2 ।।
आसा तजीला, तजीला मनसा माई । तृसना तजीला
नौ षंड पृथ्वी फेरि ने आलौं गोरष रहीला मछिंद्र ठांई ।। 3 ।।

हे कामिनियों ! यति गोरखनाथ तुम्हारे शरीर के नश्वर सौन्दर्य-भोग में कभी भी आसक्त नहीं हो सकता । मैंने उन्मनी समाधि में स्थित होकर योगाग्नि में पक्व सहस्रार से द्रवित अमृतवारूणी से भरा प्याला पी लिया है, हे कामिनी ! मेरा रास्ता मत रोको, मुझे योगमार्ग में बढ़ने दो, मेरे लिए जगह छोड़ों, मेरा रास्ता रोकने से, मेरी साधना में विघ्न डालने से तुम्हें कुछ न मिलेगा, क्योंकि मेरा ज्ञाननेत्र उन्मीलित है, मुझे मायिक सौन्दर्यजाल में विमुग्ध नही किया जा सकता है । मैंने ज्ञान की पालकी में अपने लिये स्थान बना लिया है, मैं उस पालकी में आरूढ़ हूँ । देवलोक की नित्य तरूणी, दिव्य कन्याएँ, मृत्युलोक की रमणियों और पाताल की नागकन्याओं के वश की बात नहीं है कि वे मुझे अपने सौन्दर्य से विमुग्ध कर परमशिव के साक्षात्कार, स्वरूप और शून्यस्थ सहज कैवल्य से विमुख कर सकें । मैंने माया को

शक्तिहीन कर दिया है, वह मेरे लिये बन्धनकारिणी नहीं हो सकती है । मैंने, कुटुम्ब, भाई, बन्धु, गृहस्थ-जीवन, सभी का त्याग कर दिया है । मेरा निवास-स्थान सहस्रदल कमल-सहस्रार है, मैंने दसवें दरवाजे से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर शाश्वत पद, कैवल्य में अपना निवास स्थान बना लिया है, मेरा मन उन्मन हो गया है, चित्तवृत्ति (मनसा) - इच्छा उन्मनी समाधि में तल्लीन है और प्राण सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में समा गया है, इस तरह मन, इच्छा और प्राण, तीनों का सहस्रार में संगम हो गया है, मैं जीवन्मुक्त और अमरकाय होकर अलख-निरंजन परमेश्वर के स्वरूप में स्वस्थ हूँ । आशा, तृष्णा और कामना में आसक्ति ही बन्धनकारिणी होती है, मैंने तीनों का त्याग कर दिया है । मैंने नवखण्डोंवाली समग्र पृथ्वी का भ्रमण कर लिया है, मुझे कहीं भी सत्स्वरूप-सच्चिदानन्द परब्रह्म की वास्तविक अनुभूति नही हो सकी । मैंने उसकी प्राप्ति महायोगज्ञानके मर्मज्ञ योगीन्द्र गुरूदेव मत्स्येन्द्रनाथ के चरणकमलों में की और गुरूपद में सदा के लिये मैंने आत्मसमर्पण कर परमात्मस्वरूप की सहज अनुभूति कर ली । मुझे जागतिक नश्वर मायामोह का भय नहीं है, मैं अभयपद में स्थित हूँ ।

(47)

नाथ बोलै अमृत बांणीं, बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणीं ।।टेक।।
गाड़ि पडरबा बाँधिलै षूंटा, चल दमांमां बाजिले ऊँटा ।। । ।।
कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै ।। 2 ।।
चले बटावा थाकी बाट, सावै डुकरिया ठौरै षाट ।। 3 ।।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै घणी पुकारै ढोर ।। 4 ।।
मगरी परि चूल्हा घूंधाइ, पीवणहारा कौं रोटी खाइ ।। 6 ।।
कामिनि जलै अंगीठी तापैं, बिचि बैसंदर थरथर कांपै ।। 7 ।।
एक जु रढिया रढ़ती आई, बहू बियाई सासू जाई ।। 8 ।।
नगरी कौं पांणी कूइ आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।। 9 ।।

प्राचीन टीका

(कांमलि काया । पाणी प्राण ।टेक। पडरवा परकीरति । षूंटा मन । दमांगा दम, ऊंट काया । कऊवा काल, डारी बसु भली । पीपल पारब्रह्म ।

मूंसामंन । बिलाई कुबुधि । बटाऊँ प्राण । चलै ब्रह्मपंथ । चौरासी बाट थाकी डोकरी आत्मां । षाट षट । कूकर मन । चोर संसार । धणी ईस्वर काढ़े । ढोर संसार । ऊजड़ गुण नही । बली ब्रह्म, गागरि गुण । पणिहारी आत्मां । कामनि कामना, अंगीठी आत्मां । बैसंदर विकार । मगरी माया । चूल्हौ चित । रोटी रटणि । पौवे कुमति रंडीया आत्मां । बहु बुधि । सासू सुरति । नगरी काया । प्राणी प्राण । कूई कंवल ।।)

गोरखनाथ की यह अमृतवाणी है कि अविद्यास्वरूपिणी माया से प्रेरित जो शारीरिक और मानसिक कर्म योगी को अमृतवर्षा में भीगने से बचाते रहते हैं, वे सद्ज्ञान से शुद्ध और निर्मल हो गये हैं और अमृतजल में निर्मित अस्तित्व के ऊपर बरस रहे हैं, यही कंबली का बरसना है और जल का, (जिसका स्वभाव बरसना है) भींगना है । शरीर ही कंबली है, प्राण ही पानी है, शरीर प्राण से जीवित रहता है, पर उलटी बात यह है कि प्राण का स्थैर्य्य शरीर के अधीन है । शरीर में बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वमुख कर योगाग्नि में उसे पकाया जाता है और जल-बिन्दु, सहस्रार में द्रवित अमृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, सिद्धदेह की प्राप्ति होती है और प्राणामृत भीगता है । खूँटा बाँधने में उपयुक्त होता है और पड़रवा, गाय का बछवा या भैस का पड़रवा बाँधा जाता है, गोरखनाथ जी मायारूपी गाय या भैंस के बछवे और पड़रवे को अविवेक कहते हैं, जो बाँधा जाता है और माया उसे बाँधती है, पर माया को ही खूँटा बना कर उसमें अविवेक को बाँध देना ही उचित योगसाधना है । व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि ऊँट की पीठ पर दमामा रखकर बजाया जाता है, साधना में यह दम-अनाहतनाद निरन्तर प्रवाहित है और ऊँट (काया अथवा मन) पर तड़ातड़ मार पड़ रही है, शब्द निनादित हैं । ऐसे तो शरीर पर मृत्यु का अधिकार रहता है, काया नश्वर होती है, पर वास्तविक बात तो यह है कि शरीररूपी पीपल कौवारूपी काल पर विराजमान है, मृत्यु पर अमृतत्व अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म का अमृतत्व विराजमान है । संसार में चूहे को बिलार खाती है, पर योगसाधना में योगी का मन ही, जो पहले मूस के समान आबद्ध रहता है, बिलाररूपी कुबुद्धि पर हावी है, यह विचित्र बात है कि रास्ता थकता है और ज्ञानमार्ग का बटोही राहगीर चलता रहता है । जीवात्मा ज्ञानमार्ग पर चलकर जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो ज्ञानमार्ग थक जात

है। चलना बन्द हो जाता है। इसका आशय यह भी है कि प्राणरूप जीवात्मा सदा सनातन काल से ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न है। प्राण का यही चलते रहना है और ब्रह्मपथ-ब्रह्म प्राप्ति भले ही कैवल्य में आकारित हो जाय पर जीवात्मा को सत्स्वरूप में निरन्तर गाते करना रहता है। जो जीवात्मा माया के अधीन रहता है, वह अब माया को वश में कर लेता है, जीवात्मा को खाट बना कर माया (डुकरिया) पहले विश्राम करती है, पर अब वह खाट ही माया को वश में करके निश्चित और स्वस्थ हो जाता है। यह विचित्र बात है कि कुत्ता तो छिपता है, और चोर भूँकता है कुत्ता मन है, वह आत्मज्ञान को चोर की तरह पहले भगाता है, पर अब मन निर्बल है, छिप गया है और आत्मज्ञान, जो उसके लिये चोर बना रहा है, भौतिकता और माया को भगाता है। ईश्वर ही धनी है, स्वामी है। वह जीवात्मा के उद्धार में प्रवृत्त है और संसार (ढोर) अस्तित्वहीन हो चला है। इस कायानगरी की स्थिति विचित्र दीखती है। इसमें मगरी, (राजस्थानी भाषा में जंगल की लकड़ी) जल नहीं रही है, चूल्हा (जिसके संसर्ग में जीव जलता था,) स्वयं जल रहा है। इन्द्रियों का विभव समाप्त हो गया है, उन्हें विषयों का खाद्य नहीं मिल रहा है, यह कायानगर गुणहीन है, उसका पूर्वरूप समाप्त है। सामान्य बात तो यह है कि कुँआ नीचें होता है, गगरी कुँए के ऊपर होती है, पर इस कायानगर में मूलाधार, पृथ्वी पर, नीचे गगरी है, कुण्डलिनी महाशक्ति है और ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म परमामृतरूप परमात्मा है, उसमें जीवात्मारूपी (पनिहारिन) स्वस्थ है। कामिनी, कामना, जो जलाती रहती है, स्वयं जल रही है, आत्मा उसके जलने को प्रत्यक्ष देख रहा है। अग्नि का कार्य जलाना है, पर इस कायानगर में विकाररूपी अग्नि (बैसंदर) थर-थर काँप रही है, विषय-विकार भी नष्ट हो चले हैं। रोटी पोने वाली को रोटी खा जाती है, इसका आशय यह है कि माया से ही अनेक मायिक भेद उत्पन्न हैं और वे ही मायिक भेद माया को खा जाते हैं, जीव ही रोटी है, यह जीवात्मा सद्विवेक के प्रकाश में माया को मार कर, खाकर अपने शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में स्वस्थ हो जाता है। कुमति आत्मा को विकृति नहीं कर सकती है, बुद्धिरूपी बहू से ज्ञान प्रगट हो गया है और यह सुरतिरूपी सासु की संतति है। इस कायागनर में स्थित जल कुँए में (ब्रह्मरन्ध्र में) आता है। सामान्य बात तो यह है कि कुँए से सारे नगर में जल पहुँचता है और पिपासुओं की तृप्ति

होती है । इस कायानगर की बात विपरीत है, कुण्डलिनीरूपी नगरी को जीवात्मारूपी पनिहारिन अपने कन्धे पर रखकर कुँए में, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, शरीर का जल (वीर्य) योगाग्नि में सिद्ध होकर सहस्रार में ऊर्ध्वगमन कर अमृतस्वरूप होकर जीवात्मा को परमामृत, परमात्मा में स्वरूपस्थ करता है । यह संसार की बुद्धि से विपरीत चर्चा गोरखनाथ करते हैं ।

(48)

भग राकसिलो, भग राकसिलो, बिण, दंतां जग षाया लो ।
ग्यांनी हुता सु ग्यांनमुषरहिया, जीवलोक आपै आप गंवायालो ।।टेक।।
दिन-दिन बाघिनी सींयां लागी, राति सरीरै सोषै ।
बिषै लुबधी तत न बूझै, धरि लै बाघिनी पोषै ।। १ ।।
भणंत गोरषनाथ द्वै कर जोड़ी, भिडैं आगै चावड़ तोड़ी ।
चामै चांम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया ।
आपा परचै गुरमुषिन चिन्हैं, फाड़ि फाड़ि बांघणी षाया ।। २ ।।
बाघनी उपाया बाघनी निपाया बाघनी पाली काया ।
बाघनी डाकरै जीरियों पाषरै, अनुभुइ गोरष राया ।। ३ ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कहना है कि स्त्री की योनि (भग), राक्षसी है, जिस तरह राक्षसी रात में अपना प्रभाव अधिक बढ़ा लेती हैं और वह निशाचरी कही जाती है, ठीक उसी तरह पुरूष रात में ही भोगास्वाद के लिये स्त्री के आलिंगन में आबद्ध होकर जीवन का रस-बिन्दु (वीर्य) क्षरित कर देता है और जीवन से हाथ धो बैठता है । यह भग (वाली स्त्री) बिना दाँत के ही जगत् के प्राणियों को खा लेती है । जिस मनुष्य में ज्ञान होता है, जो आत्मा और शरीर का भेद समझ कर परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त रहता है और आत्म-विवेक से काम लेता है, वह इस राक्षसी से बच जाता है, पर अन्य लोग तो मूढ़तावश मायिक और नश्वर रमणी के रूप से मुग्ध होकर भग के शिकार बन जाते हैं । वह बाघिन (स्त्री) दिन में सोती है, अधिकाधिक निष्क्रिय ही रहती है, पर रात में मनुष्य में कामतृप्ति की प्रबल इच्छा जागने पर यह भी जागती रहती है, सक्रिय रहती है और शरीर का शोषण कर लेती है । विषयासक्त मनुष्य बाघिन को (स्त्री को) स्वयं पालता-पोषता रहता है ।

गोरखनाथ का कथन है कि इस बाघिन के दाँत तोड़ देने चाहिए, उसका जबड़ा (चाबड़, जाबड़, जबड़ा), तोड़ देना चाहिए । इस तरह यह बाघिन निष्क्रिय हो जायेगी, इसका आशय यह है कि उसके नश्वर शरीर के रूप के कामोन्माद को नष्ट कर देना चाहिए । स्त्री के आलिंगन में बँधे संभोगपरायणपुरूष की काया दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती है । उन्हें गुरूमुख से आत्मज्ञान का परिचय नहीं प्राप्त है, सत्स्वरूप में प्रवृत्ति और स्थिर न होने के नाते ही उन्हें बाघिन (माया) फाड़-फाड़ कर, बिदीर्ण कर खा जाती है । मनुष्य की उत्पत्ति इस बाघिन (स्त्री) से ही होती है, वह शैंशवकाल से उसके शरीर को पालते-पोषते हुए बड़ा करती है, वही बाघिन स्त्री उसके लिये कालरूप बन जाती है, यह कामोन्मादिनी तरूणी रमणी बाघिन की तरह यमराज की बगल में ही दहाड़ती रहती है और पुरूष को निर्बल तथा क्षीणकाय बना देती है । गोरखनाथ का यह अनुभव है कि स्त्री के साथ कभी नहीं रहना चाहिए, उससे सावधान रहकर योगमार्ग में आरूढ़ रह कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति करनी चाहिए, माया का त्याग कर देना चाहिए ।

(49)

रूपे-रूपे कुरूपे गुरदेव, बाघनीं भोले-भोले,
जिन जननीं संसार दिषाया, ताकौं ले सूते षोले ।।टेक।।
गुरू षोजौ गुरदेव गुरू षोजौ, बदंत गोरष ऐसा,
मुषते होइ तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा ।। । ।।
चांम ही चांम धसंता गुरदेव दिन-दिन छीजै काया,
होठ कंठ तालुका सोषी काढ़ि मिजालू षाया ।। 2 ।।
दीपक-जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
बूढ़े होइ तुम्हें राज कमाया, नां तजी मोह माया ।। 3 ।।
बदंत गोरषनाथ सुनहु मछंदर तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म झरंता जे नर राषै, सो बोली अवधूता ।। 4 ।।

हे गुरूदेव ! यह स्त्री, रमणी देखने में तों बाहर से बड़ी सीधी-सादी और भोली होती है, चाहे वह रूपमती हो, चाहे कुरूपा हो, पर यह मायाविनी बाघिन है, जो देखते-ही-देखते मनुष्य के शरीर को खा जाती है, निर्बल, निस्तेज और वीर्यरहित कर देती है, सारे शरीर का रस सोख लेती है । यह

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जन्म देनेवाली और पालन-पोषण करने वाली माँ है, और इसी मां को तरूण होने पर मनुष्य सम्भोग के साधन के रूप में आलिंगन में आबद्ध कर, गोद में चिपका कर कामवासना की तृप्ति करता है। हे गुरूदेव ! इसके सहवास में, संभोग में प्रवृत्त होने पर शरीर से प्राणामृतरस, वीर्य बाहर निकल जाता है और शरीर निर्बल और क्षीण हो जाता है, ओंठ, कण्ठ और तालु, सबके-सब रसरहित हो जाते हैं, सूख जाते हैं और बाघिन स्त्री, कामिनी शरीर के मज्जा, मेद (मिजाल) तक को खा जाती है, नष्ट कर देती है। हे गुरूदेव ! आप तो मुक्त हैं, आप पर माया का वश ही नहीं चल सकता। मुक्त होकर भी आप स्त्री के रमणराज्य में नश्वर सौन्दर्य-भोग और उसकी कामवासना की तृप्ति के लिये, उसके आलिंगन में बँध गये, यह तो बंधन है, यह भोग नहीं है। जिस तरह दीपशिखा से आकृष्ट होकर पतंगे जल जाते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप-सौन्दर्य से मनुष्य आकृष्ट होकर, भोग में आसक्त होकर विनष्ट हो जाता है। आपने सदा मोह, माया और जागतिक ऐश्वर्य के त्याग की ही शिक्षा दी है। आप ज्ञानवृद्ध हैं, आपके लिये यह उचित नहीं है कि आप नश्वर जागतिक वैभव में आत्मस्वरूप का विस्मरण कर महायोगज्ञानसम्पत्ति गवाँ दे। हे गुरूदेव ! आप जानते हैं कि जो पुरूष अधोगामी, कामवृत्ति में क्षरित होने वाले वीर्यरस को ऊर्ध्वगामी कर लेता है, ब्रह्म (वीर्य) की सुरक्षा करता है, वही अवधूत है, सिद्ध है। हे गुरूदेव ! आप स्त्रीरमणसुख का परित्याग कर शिवस्वरूप में स्थित हो जाएँ।

(50)

सखा रे सखा त्रिभुवन ते गखा। पांणी तैं पतला पहुप तैं हलवा।।टेक।।
काया थैं मन जांन न देह। राति दिवस अभिअंतरिं लेह।
मन मुद्रा कै रूप न रेष। जगत रूप मन ही मन देषि।। 1 ।।
उलटैगा पवनां तब काया कौं गहेगा। काच गहे कंचन ह्वै रहेगा।
यहु तन साच साचका धरवा रूध्र पलट अमीरस भरवा।। 2 ।।
अतीत पुरस ग्यांन पद परसै। अविचल होइ सरीरं दरसै।
जुरा मृतु काल का भछिण। निसपति जोगी जोगी का लछिन।। 3 ।।

गरड़ भुवंगम संमि करि सूता । देव द्वार रस मरदौ पूता ।
मर्दत मर्दत ह्वै है पीठी । ते बात गोरष प्रतषि दीठी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(मन त्रिभवन सारिषौ । टेक । जगत मन कौ पसारौ । मन काया गहै । उलटि फिरि षीर होय । निसपती जोगी काल भषै । गरूड़ मन, भुवंगम । पांन अपांन नान्हौ कीयौ ।)

गोरखनाथ का अमृतोपदेश है कि त्रिभुवन, आकाश पाताल, मृत्युलोक, समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमात्मतत्व व्याप्त है । यह सच्चिदानन्द अलख-निरंजन तत्व ही सर्वोपरि मूर्धन्यतत्व है । यह महान्-से-महान् गुरूतत्व (गरवा) है और यही सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अणु से अणु भी है । पानी और पुष्प के गन्ध से भी सूक्ष्म (हलवा-हलका) है । इसका न कोई रूप है, न रेखा अथवा आकृति है, यह रूपरंग से परे निराकार-निर्विकार चैतन्यघन सत् है । इस परमतत्व की अनुभूति उन्मनी समाधि में होती है, उस समाधि में मन का प्रवेश नहीं है, वह उन्मन अथवा अमनस्क हो जाता है, मन परम तत्व में आकारित हो उठता है । मन को इन्द्रियों के बाह्य विषयगत रूप, स्पर्श, शब्द गन्ध और रस में बहिर्मुखी नहीं होने देना चाहिए । उसे निरन्तर अन्तर्मुखी रखकर विषयातीत कर स्वरूप-प्राप्ति की दिशा में ब्रह्मरन्ध्र की ओर उन्मुख करना चाहिए क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है । दिन-रात मन पर दृष्टि रखनी चाहिए और बाह्य विषयों में उसकी दौड़-धूप का अन्त कर देना चाहिए। मन की मुद्रा की कोई स्थूल आकृति अथवा वर्णन नहीं है । मन की साधना सूक्ष्म साधना है, अन्तर्जगत् में योगसाधना का विषय है । मन को वश में करने के लिए पवन-विजय आवश्यक है । प्राण को अधोमुखी नहीं होने देना चाहिए, प्राण-साधना की योगनिर्दिष्ट विधि से रेचक, पूरक, कुम्भक के द्वारा शरीर में उसे प्राणवाहिनी नाड़ियों में प्रवाहित करते हुए सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए । पवन के स्थिर होने पर शरीर स्थिर होता है, प्राणाग्नि में तप्त होकर शरीर पक्व होता है और मन-पवन के साथ ब्रह्मरन्ध्र में अन्तर्लीन हो उठता है । जिस योगसाधक के

द्वारा मन और पवन वश में कर लिये जाते हैं, वह व्यक्ति योगसिद्ध हो उठता है और परमपदार्थ-परमात्मतत्व उसके हस्तगत हो जाता है। वह काँच अथवा मिट्टी का स्पर्श कर दे तो वह सोना हो जाता है। यह शरीर-व्यष्टि-पिण्ड, अखिल ब्रह्माण्डनायक परमशिव का अधिवास है। यह सत्य का स्थान है, घर है, इसमें परमात्मा निरन्तर विद्यमान है, प्राण को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए। योगाग्नि में शरीर के पक्व होने पर, मन-पवन के स्थिर होने पर जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। आत्मज्ञान की अनुभूति द्वारा परम पद का स्पर्श मिलता है। योगी जरा, मृत्यु और काल को खा जाता है, वह निष्पत्तियोगी कहा जाता है, मुक्तिपद अथवा स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसकी प्रसुप्त कुण्डलिनी, सोयी सर्पिणी-शक्ति जाग जाती है और पवनरूप गरूड़ के साथ ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर समरस हो जाती है, प्राण और कुण्डलिनी का समरसत्व स्थापित हो जाने पर ब्रह्मरन्ध्र में मन का अन्तर्लय हो जाता है। मन का मर्दन हो जाता है, मन को मूर्छित कर ब्रह्मामृतरस की सिद्धि कर ली जाती है और योगी रससिद्ध होकर सच्चिदानन्दस्वरूप में विहार अथवा रमण करता है। गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अपने जीवन में इस रससिद्धि का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। मन की उन्मनी समाधि में अन्तर्लीनता ही मन का मारण है, इससे अमृतत्व प्राप्त होता है।

(51)

बांधौ बांधौ बछरा पीओ षीर।
कलि अजरावर होय सरीर ।।टेक।।
आकास की धेन बछा जाया। ता धेन के पूछ न पाया ।। 1 ।।
बारह बछा सोलह गाइ। धेनु दुहावत रैंनि बिहाई ।। 2 ।।
अचरा न चरै धन कचरा न षाई।
पंच ग्वालियां कौं मारण धाई ।। 3 ।।
याही धेनका दूध जु मीठा। पीवै गोरेषनाथ गगन बईठा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(बछरो यंद्री। षीर यम्रतरस। अजरांवर मारै न।।टेक।। आकास ऊँची

दसा ।। धेनि आत्मा । त्रिभुवन त्रिगुणी काया । राजा जीव पूछ परकीरति नाही । बारह बछरा सो बारह कला सूरज की सो बांधों । सोलह कला चंद्रमा की सो यंम्रत सखै । धेनि आत्मां । रैणि चेतन आयुबल । अचर ब्रह्म । कचरा माया । विषै रस । पाँच ग्वालियाँ पाँच यंद्री । आत्मां धेनि । अमृतरस । गगन ब्रह्म ।)

(इस पद में योगि-राजेश्वर गोरखनाथजी ने अमृतपान की साधना पर प्रकाश डाला है ।) सहस्रार में योनि नामक त्रिकोणचक्र में ही चन्द्रमा का स्थान है, इस चन्द्रमा से निरन्तर अमृत प्रवाहित होता है, पर मूलाधार अथवा नाभि-स्थान में स्थित द्वादश कलावाला सूर्य इस अमृत को पी लेता है और शरीर के अंग-प्रत्यंग में अमृत यथाविधि नही पहुँच पाता है । यह सूर्य भी ब्रह्मरन्ध्र से ही उद्‌भूत है अथवा सहस्रारस्थ चन्द्रमा का पोषित बछड़ा (वत्स) है । इसको बाँध कर योगी को ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय का अमृत स्वयं पीना चाहिए । सूर्य रूपी बछड़े को बाँधने का आशय यह है कि सहस्रार में स्थित चन्द्रमा और मूलाधारस्थ सूर्य का मेल हो जाय । विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से योगी को बारह कलावाले सूर्य का मुख ऊपर और सोलह कलावाले चन्द्रमा का मुख नीचे की ओर कर शेष चार कलाओं में स्थित अमृत को पीना चाहिए । आकाश की धेनु, बह्मानुभूति निरंजन है, निराकार है, न इसके पैर हैं, न पूछ है, यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति है । बारह कलावाला सूर्यरूपी बछड़ा सोलह कलावाली चन्द्ररूपी गाय का दूध, अमृत पीता रहता है, योगी को युक्तिपूर्वक इस दूध को स्वयं पीना चाहिए । इस गाय को दुहते-दुहते मायारूपी रात का अन्धकार मिट जाता है और ज्ञान का अमृतोदय, अरूणोदय (प्रकाश) हो गया है । यह गाय, ब्रह्मानुभूति अचल है, यह माया (कचरा) का भोग नहीं करती है, यह चंचल नहीं है, स्थिर है और शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही पाँच ग्वाले हैं, जिन्हें यह अपना अमृत नहीं लेने देती है, उन्हें मारने दौड़ती है, यह अमृत पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन से परे उन्मनी समाधि में स्थिर होने पर ही जीवात्मारूपी योगी पीता रहता है । वह ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वश में नही रह सकती है, वे विषयभोग में इसके दूध (अमृत) का उपयोग नहीं कर सकती हैं । यह अमृतस्वरूपिणी ब्रह्मानुभूति बड़ा मधुर दूध (अमृत) देती रहती है और इसका पान करते रहने से शरीर कभी क्षीण नहीं होता है, मन चंचन नहीं होता है तथा इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय)

विषयानुगामिनी नहीं हो पातीं, वे संयमित रहती हैं । गोरखनाथ ने (कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन, मुद्राबन्ध और प्राण की साधना कर) ब्रह्मरन्ध्ररूपी आकाश में निर्विकल्प सहज समाधि में स्थित होकर ब्रह्मानुभूति के अमृतरस का पान किया है ।

(52)

आवै संगै जाइ अकेला । ताथै गोरष रांभ रमेला ।। टेक ।।
काया हंस संगि ह्वै आवा । जाता जोगी किनहुँ न पावा ।। 1 ।।
जीवत जग मैं मूवां मसांण । प्राण पुरिस कत कीया पयांण ।। 2 ।।
जांमण मरणां बहुरि बिओगी । ताथै गोरष भैला जोगी ।। 3 ।।

यह बड़े आश्चर्य की विषय है कि शरीर से सर्वथा भिन्न शाश्वत चेतन जीवात्मा इस शरीर के साथ आता है, पर इसके क्षीण हो जाने पर अथवा रोगाक्रान्त होकर निष्प्राण हो जाने पर जीवात्मा इसका त्याग कर विलीन हो जाता है, शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है । यही कारण है कि गोरखनाथ आत्माराम परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में ही रमण करते हैं । हंस-प्राणस्वरूप जीव शरीर के साथ आता है, यह शरीर भौतिक है, आत्मस्वरूप नहीं है, इसलिये प्राणहंस, जीवात्मा के इससे बाहर हो जाने पर यह बात बुद्धि में नहीं आती है कि आत्मा कहाँ गया और यही कारण है कि सर्वसाधारण आत्मज्ञान से, स्वरूपबोध से दूर रहते हैं, उन्हें आत्मविवेक की प्राप्ति नहीं होती है । इस शरीर में जब तक जीवात्मा निवास करता है, तब तक यह जीवित ही दीख पड़ता है और आत्मा के, प्राणहंस जीवात्मा के निकल जाने यही शरीर मृतक, श्मशानस्वरूप हो जाता है । यह पता नहीं चलता है कि प्राण-पुरूष ने कहाँ प्रयाण किया । जन्म-मरण का होते रहना बड़ा ही क्लेशकर है, यह महान् दुःख है, जन्म-मरण की स्थिति से विमुक्त होकर गोरखनाथ ने योगी होकर, परमात्मा में स्थित होकर जीवन्मुक्ति का अमरकायत्व द्वारा वरण कर लिया ।

(53)

चेला सब सूता नाथ सतगुर जागै । दसवैं द्वारि अवधू मधुकरी मांगै ।।टेक।।
सहजै षपरा सुषमने डंडा । पाँच संगाती मिलि षेलै नवषंडा ।। 1 ।।

गंग-जमन मधि आसण बालौ । अनहदनादकाल भैटालौ ।। 2 ।।
गगन मंडल में रमूं अकेला । उरध मुषि बंकनालि अमीरस झेला ।। 3 ।।
कथंत गोरषनाथ गुरू उपदेसा । मिल्यां संत जनटल्या अंदेसा ।। 4 ।।

गुरू साक्षात् आदिनाथ परब्रह्म शिवस्वरूप है, वह निरन्तर सद्ज्ञान-प्रकाश में जागता रहता है । शिष्य तब तक सोता ही रहता है, जब तक अविद्यास्वरूपिणी माया-निद्रा, असत्सम्बन्ध में व्यामोहित है । गुरू के शब्द से संसार-निशा में सोने वाले शिष्य जाग जाते हैं और परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं । आदिनाथस्वरूप गुरू संसार में भिक्षाटन नहीं करता है, वह शरीर में अन्तर्मुखी वृत्तियों में शान्तचित्त होकर उन्मनी समाधि में स्थित होकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में अमृत की मधुकरी का आस्वादन करता है, यह नाथयोगी गुरू सहज ज्ञान का खप्पर धारण करता है, इस सहज ज्ञान से ही अमृत को सुरक्षित रखता है, उसे नाभिस्थित सूर्य के द्वारा शोषित नहीं होने देता है, इस योगी का दण्ड सुषुम्ना ही है, चक्रों का भेदन पूरा होने पर यह सुषुम्ना नाड़ी, जो मेरुदण्ड में स्थित है, सीधी हो जाती है और इस सद्गुरू योगी के पीछे (शिष्य रूप में) पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ चलती रहती हैं । वे विषयों में उसे (योगी को) आसक्त कर उसके लिये विरोधिनी नहीं सिद्ध होती हैं, उनके साथ नाथस्वरूप सद्गुरू नवों खण्डों में (शरीर के नवों द्वारों में) खेलता (विहार करता) रहता है, ये नवों द्वार संसार के लोगों के लिये मुद्रित (बन्द) रहते हैं, वे आत्मज्ञान का प्रकाशन नहीं होने देते हैं, पर योगीगुरू के लिये वे सदा खुले रहते हैं । हे साधकों । इसी तरह आसन, प्राणायाम, और मुद्राबन्ध आदि के द्वारा इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी के द्वारा प्राण की साधना करते हुए प्राण को सुषुम्ना (सरस्वती) में स्थिर कर देना चाहिए, यही गंगा और यमुना में आसन लगाना है । इस तरह प्राण को स्थिर करने पर अनाहत चक्र में उत्पन्न अनाहतनाद का श्रवण करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । मैंने (गोरखनाथ ने) इसी तरह की योगसाधना की है और अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में ब्रह्मरन्ध्र में रमण करता हूँ । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू का उपदेश ग्रहण किया ओर संतजनों की कृपा से मेरा संशय नष्ट हो गया, मुझे सत्स्वरूप का बोध हो गया ।

रे मन हीरै हीरा बेधिला, तौ काया केणैं जाई ।
गिगन सिषर चंदा रहिबौ समाई ।।टेक।।
सात पाच तीनि नव घरि लै उपाई ।
विपरीतकरणी करिलै ज्यू थिर ह्वै बाई ।।
बाई जबथिर ह्वै महारस सीझै ।
कोट्यां मधे गुरू देवा गोटा एक बूझै ।। 1 ।।
कांने रातां डोरौ गाटाकिणि मीर मूलैं ।
सदा अभ्यास रहे जोगी गंगा जमुन कूंले ।।
गंगा जमुना कूंले पैसि करिले असनानं ।
चांपीला मूले अवधू घरीला घियांनं ।। 2 ।।
मेर डंड थिरि करै स्यौ सकती जोड़े ।
कोई गुरू आराधीला जो ब्रह्मगांठि छोड़े ।
छूटे जब ब्रह्म गांठि भरिये मेर नाला ।
सहजे पांचे चूरा भया पूरण कला ।। 3 ।।
चंदा गोटा षूटा करिलै सूरिज करिले पाटी ।
अहनिसि धोबी धोवे त्रिवेणी की घाटी ।।
तलै एक चंदा गोटा पाटी गोटा आछै (षै)
भौजल नदी पारि उतरीया सिध गोरष भाछै (माषै) ।। 4 ।।

सिद्ध योगी गोरक्षनाथ का कथन है कि हे मन ! जब हीरे ने हीरे को बेध लिया अर्थात् आत्मा और परमात्मा में जब पूर्ण अद्वैत हो गया तो फिर काया को कौन महत्व देने जाय । काया को महत्व देने पर परमात्म तत्व का विस्मरण हो जाता है । परमात्म तत्व के बोध के लिए आवश्यक है कि साधक गगन शिखर, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अमृतस्वरूप चन्द्रमा में साधक अन्तर्लीन हो जाय । सप्त धातु, से निर्मित शरीर, पंचज्ञानेन्द्रिय, सत्व, रज, तम-तीनों गुणों और मुद्राबन्ध द्वारा नवों द्वारों पर अधिकार कर लेना चाहिए । इसके बाद विपरीतकरणीमुद्रा की सिद्धि के द्वारा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख और सहस्रार स्थित चन्द्र को अधोमुख कर सूर्य-चन्द्र के सामरस्य द्वारा अमृत की शेष चार

कलाओं का पान करते हुए प्राणसाधना के द्वारा प्राण को इड़ा-पिंगला से प्रवाहित करते हुए आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर कर देना चाहिए । इस तरह प्राण के सुषुम्ना में स्थिर हो जाने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है अथवा शरीर में महारस (वीर्य) जीर्ण होकर पच जाता है, ऊर्ध्वमुख होकर अमृत में बदल जाता है । कोटि-कोटि प्राणियों में केवल मात्र गुरूदेव इस प्राणगुटिका का रहस्य जानते हैं, प्राण को सुषुम्ना में रख लेने से, स्थिर कर लेने से अमृतस्वरूप में जीवात्मा की स्थिति हो जाती है । केवल बाह्य वेश से, कान में कुण्डल और लाल डोरा (सेल्ही) धारण करने से ही आत्मसिद्धि हाथ नहीं लग जाती है, इन्हें धारण करने की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाय और परमात्मस्वरूप की प्राप्ति में अपनी भूमिका निबाहे । योगी को अपने प्राण को कुम्भक की विधि से इड़ा (चन्द्रनाड़ी, गंगा) और पिंगला (सूर्यनाड़ी यमुना) में, प्रवाहित करना चाहिए, यही उसका गंगा-यमुना में स्नान करना है और इस तरह प्राण-साधना करते हुए उसे परमात्मा में ध्यान लगाना चाहिए । इस ध्यान की दृढ़ता के लिये मूलबन्ध आवश्यक है, गुदाद्वार का बार-बार संकोचन-आकुंचन कर प्राण को मेरूदण्ड में प्रवाहित सुषुम्ना में स्थापित करते हुए दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए । मेरूदण्ड के सीधा होने पर अथवा प्राण-साधना से वंकनाल, सुषुम्ना नाड़ी के उत्थित होने पर महाशक्ति कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से तादात्म्य अथवा मिलन होता है । गुरू की आराधना करने से ही, ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है और योगी को सत्स्वरूप की प्राप्ति होती है । बिना ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हुए (जीवात्मारूपी) योगी सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में शिव के परम पद का स्पर्श ही नहीं कर सकता, अलख-निरंजन का साक्षात्कार अथवा दर्शन ही नही कर सकता । ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर गुरू द्वारा ब्रह्मगाँठि छुड़ाए जाने पर कैवल्यपद का दरवाजा खुल जाता है । इड़ा-पिंगला नाड़ी सुषुम्ना में समा जाना ही मेरूदण्ड का प्राण से पूरित होना है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी मन को चंचल करने का अपना स्वभाव छोड़ देती हैं, मन उन्मन हो जाता है और चन्द्रमा का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है, अलख-निरंजन ज्योतिब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार होता है । जिस तरह धोबी पाटे पर पटक-पटक कर जल से कपड़े को धोता है और उसका मैल

छुड़ाने के लिये खूँटे (मुँगरी) से (कपड़े को) पीटता है, उसी तरह साधक के लिये यह चन्द्रमा ही खूँटा है और सहस्रार से प्रवाहित अमृत ही जल है, सूर्य पाटा है, इसी सूर्यरूपी पाटे पर चन्द्रमारूपी खूँटे से अमृतरूपी जल में काया को निर्मल कर लेना चाहिए । सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृत में मूलाधारस्थ सूर्यस्वरूप प्राणहंस (प्राणवायु) को सुषुम्ना से प्रवाहित करते हुए समरस कर शेष चार कलायुक्त अमृत का पान कर शरीर को अमरकायत्व प्रदान करना चाहिए, यही चन्द्रमारूपी खूँटे द्वारा अमृतरूपी जल से सूर्यरूपी पाटे पर शरीर का निर्मलीकरण है । चन्द्रमा और सूर्य के रूप में गोटा और पाटा (पाटी) हमें इस शरीर में उपलब्ध हैं, इनका योग-साधना में सदुपयोग कर भवसागर से पार उतर जाना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि मैं इस तरह योगसाधना में तत्पर होकर अमृतपान से अमरकायत्व प्राप्त कर भव जल सरिता से पार उतर गया ।

(55)

जागौ हो जोगी अध्यात्म लागौ जागतड़ामूल न हारौ म्हारा भाई रे ।
अंदरि बैठौ अपणौ साहिब, देषै सोधै सकल कमाई रे ।।टेक।।
दासी नैं नारी अरूधर द्वारी, तुम्हें बेस्यांन करमन कीज्यो रे ।
विधवा नारी नौ संग करेस्यौ, तौ रोमि रोमि नरक पड़ीस्यो रे ।। 1 ।।
एक बूँदि के कारणि आप सवारथि, तुम्हें बाल हत्या फललेस्यौ रे ।
नरनारी दोन्यूँ नरकि पड़िस्यौ, घाणी घालि पड़ेस्यौ रे ।। 2 ।।
अंजनि भूला निरंजन चूका तुम्हें लीया सालिम बालौ रे ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या जीती सारि न हारौ रे ।। 3 ।।

हे योगी । जागो, इस नश्वर क्षणभंगुर संसार की वैषयिक माया-निद्रा में सोने का समय नहीं है, भौतिक जीवन में सुख नहीं है, अध्यात्म में ही स्थित होकर निरन्तर ज्ञान-प्रकाश में जागते रहो । परमात्मा (साहब) हमारे शरीर में विराजमान है, और हमारे कर्मफल (कमाई) का शोधन करता रहता है । हे योगी, योग का मूल सांसारिक विषयों में वैराग्य और अनासक्ति का वरण है, योगी कहीं भी कभी भी अपने सत्स्वरूप से विमुख होकर अविद्या-स्वरूपिणी माया और अज्ञान के अन्धकार में जीवन नष्ट नही होने देता है ।

हे योगी, । कभी भी सेविकाओं, स्त्रियों, घरबार आदि के कार्यो में नहीं फँसना चाहिए । योगी के जीवन का ध्येय तो अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार है, उसे विवाह कर गृहस्थी चलाने, दासियों को सेवा-कार्य में रखने और मकान आदि बनाने से किसी भी तरह का पारमार्थिक लाभ नहीं हो सकता, ऐसा करना तो वेश्या के कर्म में प्रवृत्त होना है, मन की चंचलता और अपनी भोगैषणा का परिचय देना मात्र है । विधवा से दूर रहना चाहिए, उनका संग करने से योगी अपने साधनमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । शरीर से कामवासना की तृप्ति करने के लिये वीर्य के एक बूँद को भी क्षरित होने देना बालहत्या के समान है, यह महान् पाप है और अपने आप को मृत्यु के मुख में डाल देना है । नर और नारी, दोनों को ही नरक की यंत्रणा भोगनी होगी, एक ही घानी में दोनों डाले जायेगें । हे योगी, माया (अंजन) में आसक्त होकर निरंजन, परब्रह्म परमात्मा को भूल जाना ऐसा है, मानो धान की बालि, हरी फसल में आग लगा कर जला देना है । इसका आशय यह है कि जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । यही साधना की परमचरम सिद्धि है । योगिराजेश्वर सद्गुरू श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं गोरखनाथ योगी, अपना अनुभव व्यक्त करता हूँ कि माया में फँस जाना, स्त्री और दासी रखने और घर बनाने में आसक्त हो जाना जीती बाजी को हार जाना है, योग मार्ग से भ्रष्ट होना है । श्रेय तो यही है कि निरंतर योगी अध्यात्म में स्थित रहे ।

(56)

चलि रे अबिला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी ।टेक।
गईयां बपड़ी सिंध नै धैरै । मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ।
काटै ससत्र पूजै देव । भूप करै करसा की सेव ।। । ।।
तलि करि ढकणी ऊपरि झाल । नछीजैगा महारस बंचेगाकाल ।
दीपक बालि उजाला कीया । गोरष के सिरि परबत दीया ।। 2 ।।

यह पद एक तरह की उलट बासी है । सामान्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति माया की ओर दौड़ने की है किन्तु जब मन में ज्ञान उदय होता है तब स्थिति बदल जाती है । यहाँ 'अविला' (आम) और 'माया' कोयल

मनोवृत्ति, का प्रतीक है । मन में ज्ञान का प्रकाश हो चुका है । इसलिए अब मन (कोयल) माया (अविला) की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता । गोरखनाथ माया को सावधान करते हैं कि हे माया । जीवात्मा अपने ज्ञान-प्रकाश में स्थित है, उसे तुम अपनी ओर आकृष्ट कर बन्धन में नहीं डाल सकती, धरती (कुण्डलिनी) आकाश की ओर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर चढ़ गयी है, सुषुम्ना नाड़ी में उत्थित होकर कनकाभा से युक्त विद्युज्ज्योतिमयी महाशक्ति का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से मिलन हो गया है, जीवात्मा साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप हो गया, इसलिये हे माया । अब तुम्हारा त्रिगुणात्मक आकर्षण, सम्मोहन उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तुम स्वयं सत्स्वरूपिणी महाविद्या मूलमाया हो, अपने आनन्दआश्रय में प्रतिष्ठित हो जाओ । संसार में देखा तो यह जाता है कि गाय सिंह से भयभीत रहती है, मनुष्य की अन्तर्मुखी शान्तिमयी सात्त्विक प्रवृत्ति ही गाय है, और उसकी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमत्सरमयी बाह्य वृत्ति ही सिंह है, अब ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर यह सिंह परास्त हो गया है । शरीर मृत होने पर यमराज द्वारा अपहृत कर लिया जाता है, पर अब तो परिस्थिति बदल गयी है । यह अमृतस्वरूप शरीर ही अब मृत्यु (यमराज) को चुनौती दे रहा है । अभी तक तो यही क्रम रहता आया है कि भोग-कामनाओं की तृप्ति के लिये अन्य देवों की (सत्स्वरूप से भिन्न मानते हुए) प्रसन्नता के लिए बलि होती रही, अब बलिवाले शस्त्र निरर्थक हो गये आत्मदेव की, अलख-निरंजन की पूजा में, ज्ञान-प्रकाश में तृप्ति प्राप्त करने वाले जीवात्मा के लिये भोगपूर्ति के समस्त साधन परमात्मा की पूजा के उपकरण हो गये, इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रिय) और मन आदि सत्स्वरूप की प्राप्ति के साधन हैं । हमारी नाभि में स्थित बारह कलावाला सूर्य सहस्रार में स्थित सोलहकला वाले चन्द्रमा के अमृत का शोषण करता है, विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा ब्रह्मरन्ध्ररूपी पात्र को, जिसमें चन्द्रमा का अमृत प्रवाहित होता है, नीचे की ओर करना चाहिए और सूर्य को ऊपर कर देना चाहिए, इस तरह सूर्य-चन्द्र (ह और ठ) हठ के योग से शेष चार कलावाले अमृत का पान करना चाहिए, इससे महारस का नष्ट होना रुक जाता है और काल-वंचन होता है । कुण्डलिनी, परम ज्योतिमयी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर मूलाधार में स्थित कामरूपपीठ से उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित पूर्ण गिरिपीठ पर स्थित हो जाती है । इस तरह पर्वत पर दीपक का प्रकाश जल उठता है ।

गोरखनाथ ने इस कुण्डलिनी महाज्योति को ब्रह्मरन्ध्र में जगाकर प्रतिष्ठित कर दिया है।

(57)

सांभलि राजा बोल्या रे अवधू । सुणौ अनोपम बांणी जी ।
निरगुण नारी सूं नेह करंता । झबकै रैणि बिहांणी जी ।।टेक।।
डाल न मूल पत्र नहिं छाया । बिण जल पिंगुला सीचै जी ।
बिण ही मढीयां मंदला बाजै । यण बिधि लोका रीझै जी ।। । ।।
चींट्यां परबत ढोल्यारे अवधू । गायां बाघ विडारया जी ।
सुसलै समदां लहरि मनाई । मृघां चीता मारया जी ।। 2 ।।
ऊझड़ मारिग जाता रे अवधू । गुर बिण नहीं प्रकासा जी ।
जीत्या गोरष अब नहीं हारै । समझि ररालै पासा जी ।। 3 ।।

(जागतिक ऐश्वर्य और वैभव तथा भोगसुख में आसक्त, भौतिक सम्पत्ति के स्वामी को अवधूत योगी उपदेश देता है कि) हे राजा ! सावधान होकर अनुपम वाणी, का श्रवण करना चाहिए । प्राणी इस संसार की माया में रागासक्त होकर सोते हुए जीवन बिता रहे हैं, सोते-सोते ही रात बीत गयी, आयु समाप्त हो रही है । यह माया उस वृक्ष के समान है, जिसका न मूल है न शाखा है, न पत्ते हैं, इसकी छाया भी नहीं है कि इसके तले (इसकी छाया में) बैठ कर विश्राम किया जाय । इस माया-वृक्ष को सींचने वाला पंगु हैं, आत्मा है, आत्मा के न हाथ है, न पैर है, वह निराकार है । यह माया ऐसा मृदंग है, जो मढ़ा तक नहीं गया है । जिस तरह बिना चमड़े से मढ़े मृदंग को बजाने पर किसी भी तरह की ध्वनि नहीं निकल सकती, उसी तरह इस माया से आत्मज्ञान नहीं हो सकता । (गोरखनाथ का योगमार्ग पर चलनेवालों से कथन है कि) हे अवधूत, हे योगी, यह माया एक साधारण चींटी है पर यह आत्मरूप पर्वत को ढहा देती है । देखने में तो यह गाय के समान सीधी लगती है, पर आत्मारूपी बाघ को, शक्तिमान् को अपने पंजों से दबोच देती है । यह बात तो ऐसी है कि मानो समुद्र की अतल लहरियों को सुसलै (खरगोश) ने अपने वंश में कर लिया तथा मृग (मन) ने चीते को मार डाला है । हे योगी ! योगमार्ग ऊबड़-खाबड़ है, यह कठोर साधना का पथ है और

इस पर जो सावधान होकर नहीं चलता है, उसका पतन हो जाता है, गुरू के उपदेशामृत के (ज्ञान) प्रकाश में ही इस मार्ग पर चल कर श्रेय की प्राप्ति की जाती है । गोरखनाथ तो समझ-बूझ कर पासा फेंकते हैं, दाँव लगाते हैं, जीती बाजी हार जाना ठीक नहीं है । मैंने गुरू की कृपा से माया पर विजय प्राप्त कर ली है । अब गुरू ही रक्षक है, मेरे पतन की आशंका ही नहीं है ।

(58)

तुंझि परिवारी हो अणघड़ीया देवा ।
घड़ी मूरति कूं सब कोई सेवै, ताहिन जाणै भेवा ।।टेक।।
तू अबिनासी आदू कहीए, मोंहि भरोसा पड़ीया ।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहूँ नहिं घड़ीया ।। 1 ।।
दस औतार औतिरीया तिरिया, वै पणि रामन होई ।
कमाई अपणी, उनहूँ पाई, करता औरै कोई ।। 2 ।।
तूं पूरण ब्रह्म पुरूष प्रिथमी का सूरति मूरति सारा ।
श्रवणां सुण्यां न नैनां देष्यां, तेरा घड़णैं हारा ।। 3 ।।
तूं तौ आप तैं हूवा, तूं देष्यां उजियारा ।
गोरष कहै गुरू कै सबदां तूं ही घड़नैं हारा ।। 4 ।।

हे (अलख निरंजन) स्वेच्छा अथवा निजा शक्ति में स्वरूपस्थ परब्रह्म निराकार परमेश्वर, मैं आप की बलिहारी लेता हूँ । मैं आपके स्वरूप का स्तवन करता हूँ । आप के साकार रूप की उपासना तो सभी लोग करते हैं, पर वह किस तरह आकारित है, किस तरह निजाशक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मशक्ति और कुण्डलिनी शक्ति के समस्त गुणों से अभिव्यक्त है, इसका लोगों को पता नही रहता है । आप आदि पुरूष अविनाशी हैं । इस बात में मुझे पूरा भरोसा है । आपने समस्त जगत् का सृजन किया है, आप को सृजन करने में कोई भी समर्थ नही है । यह सच है कि (शास्त्र के अनुसार) आप ने दस अवतार लिये, पर हे राम, निरंजन, आप उनसे (मायातीत) अतीत हैं । वे अवतरित होकर लीला कर गये और वे आप के ही स्वरूप हैं, पर आप निराकार अलख ब्रह्म हैं, वे साकार ब्रह्म हैं । समस्त जगत् आप के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त है । आप सम्पूर्ण हैं, इसलिये आप का कोई स्रष्टा ही नहीं हो सकता है । न मैंने आप के स्रष्टा का (ज्ञाननेत्र से) दर्शन किया है और न उनके सम्बन्ध में सुना ही है । आप

आप अपनी इच्छा, निजाशक्ति में ही अभिव्यक्त हैं । आप अपने आप प्रकट हैं । मैं (गोरखनाथ) गुरू ज्ञान के प्रकाश में कहता हूँ कि आप ही अपने स्रष्टा अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं ।

(59)

(राग रामगरी)

मन रे राजा राम हौइलै नृदंद, मूलै कमलै साजिलै रविचंद ।।टेक।।
अनहद भौरौ भव तृबेणी के घाट,
पीयलै महारस फाटिलै कपाट ।। । ।।
चंदा करिलै षूटा सूरजि करि लै पाट ।
नित उठि धोबी धोवै तृबेणी के घाट ।। 2 ।।
भरिलै नाड़ी षोड़ी, पुरिलै बंक नालि,
बदंत गोरषनाथ अवधू इम उतरिबौ पार ।। 3 ।।

हे मन । इन्द्रियजन्य विषय-भोगासक्ति से परे होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर, अमनस्क होकर अथवा उन्मनी समाधि में स्थित होकर अपने अलख निरंजन, रामरूप में, निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेना चाहिए । मूलाधार चक्र (कमल) में स्थित द्वादश कलावाले सूर्य को विपरीतकरणी मुद्रा से ऊर्ध्वमुख कर और सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण में स्थित चन्द्रमा को अधोमुख कर उसकी सोलह कला में चार कलावाले अमृत को बचा कर पान करना चाहिए, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना में प्राण का स्थैर्य्य ही त्रिवेणी है और इस त्रिकुटी में, हृदय में उत्थित ऊँकारस्वरूप अनाहतनाद रूप भौंरा गूँज रहा है । आज्ञाचक्र में सहस्रार से चन्द्रमा का अमृत बरस रहा है, झर रहा है, ब्रह्मरन्ध्र दसवें द्वार को खोल कर इस महारस का पान कर स्वरूपानन्द में मग्न हो जाना चाहिए आज्ञाचक्र में, हे मन । स्थित होकर आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान करना चाहिए । सूर्य को पाटा बनाना चाहिए । चन्द्रमा को कपड़ा पीटने का खूँटा (लकड़ी) बना लेना चाहिए और शरीर के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और प्राण (वायु) को धोकर निर्मल बना लेना चाहिए । जिस तरह धोबी पाटे पर कपड़ा रखकर जल में भिगोकर लकड़ी-खूँटे अथवा मुँगरी से पीट-पीट कर उसका मैल निकाल देता है, धो देता है, उसी तरह त्रिकुटी में, त्रिवेणी में तन और प्राण को निर्मल बनाकर ब्रह्मद्वार, दसवें द्वार का भेदन

कर परम शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । प्राणवाहिनी नाड़ियों को प्राणायाम से शुद्ध करना चाहिए । इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग में स्थापित कर शुद्ध कर लेना चाहिए । वंकनाल-सुषुम्ना में प्राण के स्थिर हो जाने से, अमृतत्व की प्राप्ति होती है ! गोरखनाथ का कथन है कि हे मन ! इस तरह जीवन को अमृतत्व प्रदान कर संसार-सागर से पार उतर जाना चाहिए, यही मोक्षपद है ।

(60)

गोरष बालूड़ा बोलै सतगुरू बांणी रे ।
जीवता न परण्यां तेन्हैं अगनि न पांणी ।।टेक।।
षीली दूझै भैंसि बिरौलै सासूड़ीपालनड़े बहुड़ी हिंड़ौलै ।। । ।।
कोयल मोरी आंबौ बास्यौ गगन मछलड़ी बगलौं गरास्यौ ।। 2 ।।
करसन पाकु रषवालू षाधू, चरि गया मृघला पारधी बांधू ।। 3 ।।
सींगी नादै जोगी पूरा, गोरषनाथ परन्यां तिहां चंद न सूरा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोरष बालूड़ा जीवन परण्या नहीं । अगनि ब्रह्म । पांणी रामरस ।।टेक।। षीलौ मन । भैंसि (भींसि) काया । बिरौलै विचार । सासू सुरति । बहू बुधि । कोयल बांणी । आंब आत्मा । गगन ब्रह्म । मछली मनसा । बगुलौ काल । करसण कांम पाकौ । रषबालौ काल । मृघला मनोरथ । पारधी मन । सींगी सुरति । नाद सबद ।)

अपने सद्गुरू का शिष्य (बालक) योगी गोरखनाथ अपने गुरू से प्राप्त सदुप-देशामृत का वर्णन करते हैं कि परमतत्व, अलख-निरंजन परमात्मा परम शिव से मैंने सत्सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, गाँठ जोर ली है । इस गठ जोड़ (विवाह) के लिये भौतिक विवाह की तरह हवन (अग्नि) और पानी (चरण-प्रक्षालन के जल) की आवश्यकता नहीं रहती है । मैंने अग्नि और जल से अतीत होकर अपने स्वामी का वरण किया है । पहले माया असत्स्वरूपिणी और तामसी वृत्तियों की पोषिका रहती है, पर परमात्मा से जीवात्मा का वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने पर वह सद्विवेक के प्रकाश में

सतोगुणी हो जाती है । माया की खूँटी पर बँधी इच्छारूपी भैंस पहले लौकिक आनन्दरूप दूध देती है, पर अब माया का तमोरूप समाप्त हो जाने पर स्वरूपानन्द का अमृत (दूध) देती है, जिसे इच्छारूपी (मनसा) भैंस बिलो रही है, ब्रह्मतत्वरूप मक्खन (नवनीत) निकाल रही है । माया सास की बहू ब्रह्मानुभूति है, जिससे उसके पुत्र (जीवात्मा) ने विवाह किया है, ब्रह्मानुभूति के प्रकट होने पर माया की दशा एक बालक की तरह होती है, निर्बल और वह शक्तिहीन हो जाती है तथा ब्रह्मानुभूति के वश में हो जाती हैं । यही बहू द्वारा (ब्रह्मानुभूति द्वारा) सास (माया) को हिंडोले में झुलाना है । मनसा, इच्छा ही कोयल है, जो पहले माया (आम) के बौरने पर आनन्दमग्न हो जाती है पर परमात्मा से जीवात्मा का परिणय हो जाने पर यह मनसा ही अन्तर्मुखी हो जाने से स्वयं ब्रह्मानुभूति से पुष्पित और पल्लवित हो जाती है और माया अपने निर्मल सात्विक रूप में आनन्द मनाती है । पहले बगुला, अहंकार-चेतना को निगल जाता है और अब ब्रह्मानुभूति प्राप्त होने पर चेतना रूपी मछली गगन, ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो गयी है, वह मायिक, जल-प्रकृति से मुक्त होकर अमृतरस में पहुँच गयी है और अहंकार रूपी बगुले का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है । समाधि ही (करसनपाकु) पकी हुई खेती है, उसमें अहंकार जीवात्मा को प्रवेश करने से रोकता है, रखवाली करता है । अब ब्रह्मानुभूतिमयी समाधि सिद्ध हो गयी है, इस पकी खेती ने अहंकार का भक्षण कर लिया । अहंकार समाधि में विलीन हो गया और पहले कालपारधी ही मनरूपी मृग को अपना शिकार बनाता है, पर मनरूपी मृग के उन्मन हो जाने पर कालरूपी पारधी स्वयं मर गया है, मृत्यु की ही मृत्यु हो गयी है । परब्रह्मानुभूति के पहले योगी सींगी बजा कर नाद का रसास्वादन करता है, पर जीवात्मा का परमात्मा से पाणिग्रहण हो जाने पर वह अनाहतनाद में स्वयं रमण करता है । गोरखनाथ का कथन है कि अलख-निरंजन की ज्योति में अन्तर्लीनता के लिये सूर्य-चन्द्रमा साक्षी नहीं हैं, वे दोनों प्रकाशहीन हैं, परब्रह्म के प्रकाश में उनकी भिन्न गति नहीं है, परमात्मा से जीवात्मा का प्रेम - सम्बन्ध हो गया है ।

(61)

आरती

नाथ निरंजन आरती गाऊँ । गुरदयाल अग्यां जो पाऊँ ।।टेक।।
जहाँ अनन्त सिंधा मिलि आरती गाई । तहां जम की बाच न नैड़ी आई ।। । ।।
जहाँ जोगेसुर हरि कूं ध्यावैं । चंद सूर तहां सीस नवावैं ।। 2 ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरषनाथ आरती गावै ।। 3 ।।
नूर झिलमिलि दीसै तहाँ अनत न आवैं ।। 4 ।।

अलखन-निरंजन ब्रह्म, शाश्वत अखण्ड ज्योति, सनातन परमात्मा की आरती हो रही है, इस आरती का मैं प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ । इस चिन्मय आरती का गान, योगीन्द्र सद्‌गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) की कृपा से ही करने में समर्थ हो सकता हूँ । अनन्त (असंख्य) सिद्ध, योगसिद्ध इस परमपद, परम ज्योति-स्वरूप में अन्तर्लीन होकर, अमृतपद में अथवा स्वरूप में स्थित होकर आदिनाथ निरंजन देव की आरती गा रहे हैं, बड़ी भव्य झाँकी है, यह अविनाशी पद है, इस परम धाम में यम, मृत्यु के स्वामी, काल की गन्ध तक नहीं है, क्योंकि महाकाल परमशिव के पद में यमराज का प्रवेश ही नहीं है, बड़े-बड़े योगेश्वर ध्यान कर रहे हैं । परमशक्तिमान् परमेश्वर के प्रणिधान और चिन्तन में लीन हैं, श्रीहरि के चरणदेश में, परमपद में, प्रकाश के देवता सूर्य-चन्द्र अपने-अपने तेज का समर्पण कर रहे हैं, प्रणत हैं, इस ब्रह्म स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य (पिंगला) और चन्द्र (इड़ा) नाड़ी ब्रह्म मार्ग में, सुषुम्ना में स्थित होकर योगी के वश में हो गये हैं अथवा मूलाधारस्थ सूर्य और सहस्रारस्थ चन्द्रमा का सामंजस्य स्थापित हो गया है । मैं योगेश्वर परम गुरू (सिद्धनाथ) मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से परमात्मा में, अभिन्न स्वरूप में योगस्थ होकर, अपना अनुभव शब्दांकित करता हूँ, अलख-निरंजन की आरती का, चिन्मय सच्चिदानन्द प्रकाश का वर्णन करता हूँ ।

(62)

नाथ निरंजन आरती साजै । गुर के सबदूं झालरि बाजै ।।टेक।।
अनहदनाद गगन मैं गाजै । परम जोति तहाँ आप बिराजै ।। । ।।

दीपक जोति अषंडत बाती । परम जोति जगै दिन-राती ।। 2 ।।
सकल भवन उजियारा होई । देव निरंजन और न कोई ।। 3 ।।
अनत कला जाके पार न पावै । संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ।। 4 ।।
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ । निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ।। 5 ।।
निज तत नांव अमूरति मूरति । सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ।। 6 ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता । आरती करै गोरष औधूता ।। 7 ।।

आदिनाथ, अलख-निरंजन, परब्रह्म परमप्रकाशस्वरूप, शाश्वत ज्योतिर्मय की आरती हो रही है, गोरखनाथ आरती कर रहे हैं, आरती सजाते हैं । ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमेश्वर की आरती की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर (योगिराजेश्वर गोरखनाथ का) शब्दांकन है कि अलख निरंजन की मैं आरती कर रहा हूँ, गूरू का उपदेश ही झाँझ है, अनाहतनाद बज रहा है, (मृदंग निनादित है) तथा निरंजन ज्योतिस्वरूप परब्रह्म विराजमान है । ज्ञाननेत्र ही दीपक है, आज्ञाचक्र में स्थित तृतीय नेत्र, शिवनेत्र में प्राणवाहिनी सुषुम्ना नाड़ी में (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना के संगम), त्रिवेणी में अमृतस्वरूप प्रकाश ज्योतित है, यह अखण्ड रूप से प्रकाशित है, इस ज्योति से अखिल-ब्रह्माण्ड, सचराचर ज्योतित है और एकमात्र अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर ही अपनी पूर्ण ज्योति में सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । यह ज्योति रात-दिन प्रकाशित है, पलमात्र के लिये भी इसकी गति का अवरोध नहीं होता है । परब्रह्म परमेश्वर की अनन्त कलायें हैं, शक्तियाँ हैं, उनका पार नहीं पाया जा सकता है । इस अखण्ड आरती में अनवरत शंख, मृदंग, बाँसुरी की मीठी ध्वनि, अमृतध्वनि प्रवाहित होती रहती है । अलख-निरंजन को अर्घ्य प्रदान करने के लिए मेरा शरीर ही पवित्र कलश है, जिसमें सहस्रार से द्रवित (परम निर्मल, जल, स्वाति नक्षत्र का अमृत जल) है, मैं इस अमृत को उसके चरण पर प्रणतिपूर्वक समर्पित करता हूँ अथवा आत्मज्ञानामृत से उसका चरण-प्रक्षालन करता हूँ । मैं उस परब्रह्म को वैराग्य और सुरतिरूपी पुष्पांजलि अर्पित करता हूँ । वह निराकार है, समस्त जगत् में व्याप्त है, पर रूप-रंग से परे अलख-निरंजन परमेश्वर है, वह निज तत्व हैं, निजाशक्ति में अभिव्यक्त है । आदिनाथ का पौत्र शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ के गुरूज्ञान में अनुग्रहीत गोरखनाथ अलख-निरंजन की आरती करता है ।

(इति)

ॐ अबिगत उतपतते ॐ। ॐ उतपतते आकासं। आकासंउतपतते बाई। बाई उतपतते तेज। तेज उतपतते तुया। तुया उतपतते मही। मही रूप देवी का रंग। जल रूप ब्रह्मा का वरण। तेज रूप विश्न की माया। पवन रूप ईश्वर की काया। आकास रूप नाद की छाया। नादरूप अबिगत उपाया। सुंनि निरंजन भूचर देव। भूचर का नही पाया भेव। अगम अगोचर। अनंत तरवर। अनन्त साषा। ससंवेद परम भेद। भेदांनि भेद आत्मा घ्यांन ब्रह्म ग्यांन। षेचरी मुंद्रा। भूचरी सिधि। चाचरी निधि। अगोचरी बुधि। उनमनी अवस्था। अनभै करामाति। अतीत देवता। अबिगत पूजा। अनील आश्रम आध्यात्म विद्या। गगन आसन अमृत प्याला। मनसा माई। पंचभू चेला। मन रावल, पवन भोगी। दसवैं द्वारि प्राणंनाथ जोगी। सहजि आवंणां। अवधू संजमें जाणां। सुषमनां नदी। निहिकेवल जल। तृबेणी सनांन। तृकाल संझ्या। अजपा गावत्री। अनूंपम मंत्र।

निरंजन माला, निराकार ज्वाला। कवल गरजै सबद उजियाला।
छसै सहंस इकवीस मेला। नष सष पवन ले बंधिबा मेलां।
नाद अनाहद निहसबद बांणी। जीव थैं सीव होइबा प्रांणी।
देही बदेही अविचल थीरं। रंध्र उलटि फिरि होइबा षीरं॥
दिष्टि बिदिष्ट जोइबा नैनं। पवन निरंजन बोलिबा बैनं।
सबद निहसबद तब होइबा थूलं। आदि का आदि सो होइबा मूलं॥
नाद ब्यंद गांठिबा पवन अकास। पड़ै घट न होइबा नास।
धरणि गगन परिमाध न कोई। जंत्र चलै तहं काल न होई॥
अषंड मढ़ी तहां जोतिबा ध्यानं, जुग जुग तालीकथिबा ग्यांनं।
मूलच्रक तहाँ प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिरह्वै कंघू।
मूलबन्ध बज्र कछोटा पकड़िबा थीरं। सत उडियांणी बंधिबा बीरं॥
जत जगोटा आसणपूरं, अमृत धारा कमंडल होइबा सूरं।
कुंभ पात्रे पीयबा नीरं। चेतनां बिभूति अंगि सरीरं॥
अजर कथा नहिं बाद बिबादं। अनाहद सींगी बजायबा नादं।
संतोष तिलक तहां पद नृबाणं। ब्रह्म कवल टोपी पहरिबा त्राणं॥
मन बैराग मुद्रा जोई रूपं। बदंत गोरष ए तत अनूपं।

दया दंड तहां तृकुटी ध्यानं । छिमा लाठी टेकिबा मांनं ।।
चंद सूर भाटी उजेबा धारं । झुरै गगन तहां होइ मतिबारं ।
सो जोग्यंद्र जोग जुगता अबिचलं सारं । छछंद मुक्ता भै भ्रम पारं ।।
दोइ पछि ब्रह्म बिधवा सूलं । गुर बचन अनाहद मानिबा मूलं ।
अनंत सिधा तहाँ सारमसारं । निस्चल थीरं तब होई निरालं ।।
अजाचीक भिष्या आइबि थानं । गुरू मछींद्रनाथ नी सिछ्या पहरिबा कानं ।
अकलप डीबी झोली निरासं । सजीवन मात्रा बीरजनांसं ।।
एकांति रहीबा अवधू बेधिबा थूलं । नहि होवै आवागमन का मूलं ।
बारह कला देवी सोलह कला देवं । सुषुमना नाड़ी बंधिबा भेवं ।।
नौ से जोगणी चालिबा साथ । बुरिज बहतरि गाइबा नाथं ।
नव षंड प्रिथमी मांगिबा भिछ्या । त्रिलोक मथैन होइबी विप्यष्या ।।
चवदह ब्रह्मंड तहां जोइबा द्वारं । षट दरसन ए पंथ लै सारं ।
दार बहनी ज्यूं होइबा भेवं । असषं दल पंषुडी गगन करि सेवं ।।
बदंत गोरष अबिचल जापं । लिपै नहीं तहां पुंन न पापं ।
सुनि ध्यांन सोलह कला सपूरण माला । आपण स्यंभू श्रीगोरषबाला ।।

(सारांश)

अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर से शब्द-ब्रह्म ऊंकार अभिव्यक्त है । ऊँसे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज (अग्नि), तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति है । पृथ्वी का रूप देवी के स्वर्णिम (पीताभ) वर्ण का है । जल का रूप ब्रह्मा के वर्ण के समान (कुन्द धवल) श्वेत है । तेज (अग्नि) का रंग विष्णु की माया (लक्ष्मी) के वर्ण के समान लाल (रक्तवर्ण) है । पवन का रंग ईश्वर की काया के समान (धूम्रवर्ण) है और आकाश काला अथवा श्वेत हैं, शब्द की छाया है । अलख अनादि ब्रह्म से नाद उत्पन्न है । शून्य निरंजन ही देव है । यह अगम, अगोचर और अनन्त है । यह स्वानुभवगम्य, स्वसंवेद्य है, वेद इसका वर्णन नहीं कर पाते हैं । इस एक के अनेक भेद हैं, स्वरूपतः यह सहज शून्य अनादि शाश्वत चैतन्यतत्व है । आत्मा का ध्यान ही ब्रह्मज्ञान है । खेचरी आदि-मुद्राओं के अभ्यास से उन्मनी समाधि में अतीत-देवता अलख-निरंजन परब्रह्म का अनुभव होता है । उसकी

प्राप्ति ही उसकी (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) पूजा है । प्राणवायु ही आश्रम है, जिसमें जीवात्मारूपी योगी निवास करता है । अध्यात्मविद्या है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन ही आसन है, सहस्रार से द्रवित अमृत से भरा प्याला पीकर जीवात्मा अमर हो जाता है । इच्छा ही माया है । पाँचों भूत चेला हैं । मन राजा है, रावल योगी है और प्राण ही भोगी है । ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा योगी शिव का साक्षात्कार करता है । सुषुम्ना नदी है, त्रिकुटी में ही इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के संगम में स्नान है, अनुपम ऊँमंत्र अथवा हंसगायत्री का जप चलता रहता है । निरंजन का ध्यान ही माला है, ब्रह्मरन्ध्र में निराकार, शाश्वत चैतन्यज्योति सदा प्रकाशित है । सहस्रदल कमल में नाद का गर्जन होता है । बिजली चकमती है । इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास शरीर में व्याप्त रहते हैं, अनाहत नाद होता रहता है । जीवात्मा शिवस्वरूप में स्थित हो जाता है । शरीर में प्रवाहित रुधिर वीर्यरस के रूप में सहस्रार में प्रवेश कर अमृत हो जाता है । नाद-बिन्दु का मेल होता है, प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है । मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए, वज्र कौपीन धारण कर कुम्भक प्राणायाम की विधि से शरीर के भीतर प्राण को स्थिर करना चाहिए तथा उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए । दया का दंड ग्रहण कर वैराग्यमय जीवन में स्थित होकर त्रिकुटी में अलख-निरंजन परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए । माया और ब्रह्म में द्वैतभाव का निरसन कर शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप का आश्रय ग्रहण करना चाहिए । द्वैताद्वैतविवर्जित तत्व का चिन्तन करना चाहिए । गुरू के उपदेशामृत को ही अनाहतनाद समझना चाहिए । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की शिक्षा के अनुसार योगज्ञान के प्रकाश में जीवन सार्थक करना चाहिए । एकान्त में निवास करना चाहिए । हे अवधूत ! आवागमन स मुक्त होने का यही उपाय है कि चित्त वृत्ति परमात्मा के स्वरूप में लीन रहे । बारह कलावाले सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सोलह कलावाले सहस्रारस्थ चन्द्रमा को अधोमुख कर अमृत पीते हुए अजपाजाप में स्थिर रह कर शिवस्वरूप हो जाना चाहिए ।

इति श्रीगोरष सिष्या पढ़ंते गुणंते, कथंते, करंते, पापे न लिपंते, पुन्ने न हारंते, ऊंनमो सिवाइ, ऊँ नमो सिवाइ, गुरू मंछीद्रनाथ पादुका नमस्त्तते । एवं सिष्या दरसण जोग ग्रंथ सास्त्र संपूरण समाप्तः ।

प्रथमे प्रणऊँ गुर के पाया । जिन मोहि आत्मब्रह्म लषाया ।
सतगुरू सबद कह्या तैं बूझ्या । तृहूँ लोक दीपक मनि सूझ्या ।। 1 ।

सबसे पहले मैं अपने गुरूदेव (योगिराजेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ) के चरण (कमल) में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने (कृपापूर्वक) मुझे अपने ही शरीर में विद्यमान आत्मब्रह्म अलख-निरंजन, परमशिव का (ज्ञाननेत्र से) साक्षात्कार अथवा दर्शन कराया । सद्‌गुरू के शब्द (उपदेशामृत) से मुझे (ज्ञान) दीपमणि की प्राप्ति हो गयी और तीनों लोक मेरे ज्ञाननेत्र में प्रकाशित हो गये ।

पाप पुंन करम का बासा । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।
जोग जुक्त जब पाओ ग्यांना । काया षोंजौ पद नृबाना ।। 2 ।।
सप्तदीप नवखंड ब्रह्मण्डा । धरती आकास देवा रवि चंदा ।
तजिबा तिहुँ लोक निवासा । तहाँ निरंजन जोति प्रकासा ।। 3 ।।

पाप और पुण्य, दोनों तरह के कर्म बन्धनकारक हैं, मोक्ष, मुक्ति अथवा स्वरूप-स्थिति में निरन्तर चित्त को लय करने से कर्म बन्धनकारक नहीं होते । परब्रह्म परमेश्वर हरि का ही चिन्तन करना चाहिए । मुक्ति बाह्यवृत्तियों में चित्त को लगाये रहने से नहीं मिलती है । अपने शरीर में अखिलब्रह्माण्डनायक जगदीश्वर अलख-निरंजन विद्यमान है । उसकी खोज भीतर ही करनी चाहिए, निर्वाणपद की प्राप्ति अपने शरीर में ही योग-साधना के द्वारा करनी चाहिए । सातों द्वीप और नव खण्ड, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारे शरीर में ही विद्यमान है । अलख-निरंजन परमेश्वर, सूर्य और चन्द्र हमारे शरीर में ही हैं । बाह्यवृत्तियों को समेट कर शरीर के भीतर ही इनमें व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए ।

दिवस न रात बरषे न मासा । गरजै मेघ गगन कबिलासा ।
अगम सुगम गढ़ रच्या बिनांणी । अगनि पवन खेह जल सांणी ।। 4 ।।
तीस पौलि तेरह प्रवांणी । तीनि गुप्त दस प्रकट जांणी ।
नौ नाटिका कोटड़ी बहतरि । चोर पचास पचीस पंच धरि ।। 5 ।।

चीरा लगा तीनि सै साठी । नौ सै षाई नाटिक गांठी ।
नदी अठारह गंडिक बहई । मगर मच्छ जल पैरत रहई ।। 6 ।।
अट्ठठ कोटि बनासपती माला । सहज कमलदल पदंमनी नालां ।
भेदि षट चक्र बसै नागंणी । कोटणी सत मोहि फणी ।। 7 ।।
सबद एक जै प्रकट कहूँ सतगुर होई लषावै ।
गृहज्य नाम अमीरस मीठा जो षोजै सो पावै ।। 8 ।।

परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर दिक्काल से परे परमपद में स्वस्थ हैं । इसमें दिन, रात, वर्ष और मास नहीं है, यह निराकार और अकाल है । ब्रह्मरन्ध्र शून्यगगन ही परमशिव का निवास-स्थान है, निरन्तर मेघ का गर्जन, अनाहतनाद (निष्पत्ति अवस्था में) होता रहता है । अग्नि, पवन, जल, पृथ्वी (और आकाश) से विज्ञानी द्वारा ज्ञानस्वरूप परब्रह्म का निवास-स्थान, यह सामान्यतः अगम्य किन्तु योग साधना से सुगम कायागढ़ रचा गया है । उसके (तीस-तिसके) तेरह प्रामाणिक फाटक अथवा द्वार हैं, जिनमें दस प्रकट हैं और तीन गुप्त हैं । गुदा-उपस्थ, मुख, दो आँख, दो कर्णरन्ध्र और दो नासारन्ध्र, इन नवों द्वारों के सहित दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र प्रगट है । ब्रह्मरन्ध्र के परे तीन परम गुप्त द्वार हैं, जिनको योगियों ने शब्दों के द्वारा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा । ब्रह्मरन्ध्र निर्वाणचक्र कहा जाता है, इसके ऊपर ग्यारहवाँ द्वार सहस्रार अथवा आकाश (कैलाश है), जहाँ निरन्तर चन्द्रामृत द्रवित होता रहता है, यही पूर्णगिरि पीठ है, जिसमें परमशून्य अलखनिरंजन का ध्यान कर योगी सर्वेच्छा की सिद्धि प्राप्त करता है । यह निरालम्ब अवस्था है, देहात्मबोध समाप्त होकर शून्य का भेदन करने पर महाशून्य का भेदन होता है, इसके बाद अतिशून्य का भेदन होता है । यह साधना की चरमसिद्धि है और अन्तिम तेरहवें द्वार का यही भेदन है, जिससे पूर्ण स्वरूपबोध होता है । हमारे शरीर में प्राण जीवत्व-शक्ति-वाहिनी नौ नाड़ियाँ और बहत्तर कोठे हैं । ये नौ नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, और शंखिनी हैं, ये सब दसवीं प्रधान केन्द्रीय नाड़ी सुषुम्ना में मिलती हैं, इसलिए सुषुम्ना के अतिरिक्त ये नौ नाड़ियाँ हमारे कायागढ़ को स्वच्छ, निर्मल और सुदृढ़ रखती हैं । हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें बहत्तर प्रधान हैं । ये ही बहत्तर नाड़ियाँ शरीर के बहत्तर कोठे हैं । इस

कायागढ़ में पचास, पचीस और पाँच मुख्य चोर हैं, षट्चक्रों के पचासदल, पचीस प्रकृति और पाँच तत्वों-क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु, इन चोरों को वश में करने से ही (इनके वश में न होने से ही) शरीरगढ़ स्थित रहता है, आशय यह है कि षट्चक्रों का भेदन करना चाहिए, पचीस प्रकृतियों को वश में करना चाहिए । इस कायागढ़ का निर्माण तीन सौ साठ हड्डियों से हुआ है, इन्हीं पर यह गढ़ खड़ा है । इस शरीर में नौ नाड़ी ही प्रधान खाई हैं, जिनसे गढ़ सुरक्षित है । ऐसे तो अठारह गण्डा (चार की संख्या को गण्डा कहा जाता है), बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं, पर मुख्य बहत्तर हैं । ये बहत्तर नाड़ियाँ इस शरीररूपी गढ़ में बहने वाली नदियाँ हैं, जिनमें मगर-मच्छ, अज्ञान और अहंकार आदि प्राण में, जीवन में निरन्तर प्रभावी रहते हैं । इन नाड़ियों से उठने वाले साढ़े तीन करोड़ रोम ही वनस्पतिमालायें हैं, ये नाड़ियाँ एक-दूसरे से ग्रथित होकर कोठरी का काम देती हैं । ये कोठरी अथवा ग्रंथियाँ षट्चक्र कही गयी हैं । ये नाल दलयुक्त कमल हैं, कुण्डलिनी जाग्रत् होने पर इन चक्रों का भेदन करती हुई, इनसे परे दसवें द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर सहस्रार में स्थित परमशिव का साक्षात्कार कर उससे अभिन्न हो जाती है । यह कुण्डलिनी अपने मोहरूप फणों से सत्यस्वरूप-परब्रह्म का निर्मल स्वरूप सुरक्षित रखती है । इस परमात्म रहस्य का अनुभव सद्गुरू के उपदेशामृत से ही हो पाता है । अमृतत्व अत्यन्त गुह्य पदार्थ है, इस मधुर अमृतरसका आस्वादन वही कर पाता है, जो इसकी योगमार्ग में आरूढ़ होकर, सत्यनिष्ठा, श्रद्धा और तत्परता से खोज करता है । यह परमामृत, परमात्मत्वरूपी अमृत महायोगज्ञान के प्रकाश में गुरू का अनुग्रह प्राप्त करने पर ही सुगम हो पाता है ।

गंगा जमुना त्रबेणी संधी । अजपा जपौ गावत्री बन्धी ।
पदयां नीर उरध अस्थांनां । हिरदा पंकज मैं रहे समांना ।। 9 ।।
नाद बिंद गांठि प्रबांनां । कवणघटि जोति कवण अस्थांना ।
कहां निरंजन बासा करही । कहां काली नागनी मीड़क धरहीं ।। 10 ।।
कहां जलधर पवनां मेला । उद्र कहाँ बिलइया घेरा ।
सीगी नाद कहाँ जोगी पूरा । जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा ।। 11 ।।
पूंनम चंदा कैसैं, छीनां । रबि ससि फेरि पवन घरि कीन्हां ।
सुपिनैं इंद्री कांम न गहई । ता कारणि जोगेस्वर परलै ढहई ।। 12 ।।

सप्त गाँठि सरीर की नाड़ी, अरध उरध मैं लाइलै ताली ।
बिचबिच लागी नौ नौ काली । अष्ट कंवल बत्तीस पाषुंडी ।। ।3 ।।
नाद रहूया सरबत्र पूरि । गंगनमण्डल मैं षोजौ अवधू वस्तु अगोचर मूर ।
नगर कोटि की बहु विधि गली । सुन्दिर एक राजंदरि खड़ी ।। ।4 ।।
पंच महारिषि तहाँ कुटवाल । तिन की तृया महा झूझारि ।
इनहि मारे जे लागै पंथा । सुन्दिर जीतै लौक सौं कंथा ।। ।5 ।।
इड़ा प्यंगुला सुषमनां नाड़ी । छूटै भ्रम मिलै बनवारी ।
पंच तत विष अंमृत बसई । गुरू बचने अमृतभया अंचई ।। ।6 ।।

इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का आज्ञाचक्र में सुषुम्नानाड़ी से संगम होता है, इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है और सुषुम्ना सरस्वती है । अजपाजाप द्वारा हंस गायत्री मंत्र की सिद्धि कर इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना में स्थापित करना ही योग-साधक के लिये त्रिवेणी-स्नान कहा जाता है । (पदया सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मनाड़ी अथवा ब्रह्मपथ या शून्यपदवी से) ऊर्ध्वगामी करते हुए नीर (वीर्य) को ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत-नाद में एकीभूत करना चाहिए, नाद-बिन्दु के इस सामरस्य से साधक को चित्त की वृत्ति समाहित अथवा संयमित कर हृदयकमल (अनाहतचक्र) में अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिए । इससे शरीर में दिव्यता बढ़ती है और जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार में सफल होता है । नादबिन्दु का (ब्रह्मरन्ध्र में) ऐक्य स्थापित करना चाहिए । किस वट में परब्रह्म की ज्योति हैं, कहाँ निरंजन (परमशिव) का निवास है, कहाँ काली सर्पिणी माया जीवात्मारूपी मेढक को पकड़ कर खाया करती है, कहाँ अमृत बरसनेवाले मेघ का पवन से मेल, सामंजस्य स्थापित होता है, कहाँ जीवरूपी चूहे (उद्र) को कायारूपिणी बिल्ली घेरती है, जोगी कहाँ सींगीनाद (अनाहतनाद) बजाता है, कहाँ योगसाधकवीरात्मा संग्राम (योगसाधना) सिद्धि अथवा विजय प्राप्त करता है, चन्द्रमा, जिससे सहस्रार में अमृतस्राव होता है, किस तरह क्षीण होता है, सूर्य चन्द्रमा को लौटा कर पवन के घर पर अधिकार स्थापित कर लेता है, स्वप्न में इन्द्रियों को विषयवासना (कामना) से ग्रस्त होने नहीं देना चाहिए । इन्हीं सब साधनाओं के परिचय के लिये तथा योगज्ञान में पारंगत होने के लिये योगेश्वर मन को अमनस्क अथवा उन्मनी अवस्था में अन्तलीन करते हैं । शरीर

के मूलकन्द से प्रवाहित मेरूदण्डस्थित सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्ममार्ग में सात गाँठ-चक्र (कमल) स्थित हैं, वे मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र तथा निर्वाण चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) और आकाशचक्र सहस्रार हैं । मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए, इस तरह (अरध) मूलकन्द से (उरध) ब्रह्मरन्ध्र तक अपान और प्राण को समरस कर उलट देना चाहिए । शरीर में नव द्वार हैं, उन्हें मुद्रित कर आठों कमलों (चक्रों) को भेदन कर परमशिव से साक्षात्कार करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार से परमशून्य स्थान आठवाँ कमल कैवल्यपद है, इन आठों कमलों के बत्सीस (लक्षण) पंखुड़ियाँ हैं । हे अवधूत ! सारे शरीर में, प्रत्येक सन्धि में प्राण प्रवाहित है और अनाहतनाद हो रहा है । आकाशमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में जीवनधन परमपदार्थ परमात्मा का ध्यान कर उसकी स्वरूपानुभूति करनी चाहिए । इस शरीररूपी नगर में अनेक गलियाँ हैं, यह नगर प्राचीरों से सुरक्षित हैं । इस नगर के मुख्य द्वार को रोककर कुण्डलिनी स्थित है, वह भीतर अलख-निरंजन का ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करने में बाधा उपस्थित करती है । इस नगर में पाँच (कर्मेन्द्रियाँ) कोतवाल हैं, वे मन की सहायता से जीवात्मा को भौतिक विषयभोगों में बाँधे रहते हैं और परमशिव तक पहुँचने में बाधक बनते हैं । इन कोतवालों की शक्ति (मनसा) बड़ी बलवती है । इन पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में करने पर उसकी शक्ति भी साधक के वश में हो जाती है, जो साधक पाँचों कर्मेन्द्रियों को जीत लेता है, उसके वश में सारा जगत् और शरीर हो जाता है, (शरीर को योगियों की भाषा में कंथा अथवा गुदड़ी कहा गया है) माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । इड़ा, पिंगला नाड़ियों को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना से मिलाकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए । इससे सारे भ्रम छूट जाते हैं और परम पद की सिद्धि होती है । पंचतत्व के निर्मित शरीर में जो अमृत विषरूप में मायाबन्धन का कारण बनता है, जीवात्मा को विषयभोग में बाँधता है, वहीं गुरू के उपदेशरूप में जीवात्मा के लिये अमृत हो जाता है । अपरिपक्व शरीर में अमृत विष का कार्य करता है, पर परिपक्व शरीर में वह गुरू के उपदेश से अमृत हो जाता है ।

(इति श्रीगोरषनाथ विरंचते प्रांण संकली सरीर विचारण, एवं प्राण संकली जन्य विचारंत, पापे न लिंपन्ते पुंने न हरंते मृतलोके भये अस्थित अमर लोकपु गछिते ।। ऊँ नमो सिवाई, गुरू मछींद्रनाथ पादुका नमस्तते इती प्रांण संकली ग्रंथ सास्त्र संपूरण समापतः ।

बतीस लछन

ग्यांन पारछ्या निरलोभी, निहचल, निरवासिक, निहिसबद ।
विचार पारछ्या निरमोही, निरबंध, निसंक, निरबांन ।
बमेक पारछ्या सरबंगी, सावधान, सति, सारग्राही ।
संतोष पारछ्या अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर ।
निरबल पारछ्या निहितरंग, निहपरपंच, निरदुंदी, निरलोप ।
सहज पारछ्या सुमती सुहृदी, सीतल, सुषदाई ।
सील पारछ्या सुचि, संजम, सति, श्रौता ।
सुंनि पारछ्या ल्यौ, लषि, ध्यांन, समाधि ।
एती अष्टांग जोग पारछ्या, भगति का लछिन ।
सिधां पाई साधिका पाई जे जन उतरे पारं ।

(इति)

सुणौ हो नरवै सुधि-बुधि का विचार ।
पंच तत ले उतपनां सकल संसार ।।
पहलै आरम्भ घट परचा करौ निसपती ।
नरवै बोध कथंत श्रीगोरष जती ।। । ।।
पहलै आरम्भ, छाड़ौ काम क्रोध अहंकार । मन माया विषै विकार ।
हंसा पकड़ि घात जिनि करो । तृस्नां तजौ लोभ परहरौ ।। 2 ।।
छाड़ौ दंद रहौ निरदंद । तजौ अल्यंगन रहौ अबंध ।
सहज जुगति लै आसण करौ । तन मन पवनां दिढ़ करि धरौ ।। 3 ।।
संजम चित ओ जुगत अहार । न्यंद्रा तजै जीवन का काल ।
छाड़ौ तंत मंत बैदंत । जंत्र गुटिका धात पाषंड ।। 4 ।।
जड़ी बूटी का नांव जिनि लेहु । राजदुवार पाव जिनि देहु ।
थंमन मोहन बसि करन छाड़ौ सकल अवचाट ।
सूणौ हौ जोगैसरौ जोगारम्भ की बाट ।। 5 ।।
और दसा परहरौ छतीस । सकल विधि ध्यावो जगदीस ।
बहु विधि नाटारम्भ निवारि । काम क्रोध अहंकारहिं जारि ।। 6 ।।

हे नृपति ! (नरवै) राजा, योगसाधना के सम्बन्ध में विचार (उपदेश) सुनो और इसको सदा अपने ध्यान में रखो, बुद्धि में विचार करो ! यह संसार क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन, पाँच तत्वों से उत्पन्न है । यह योग चार प्रकार का है,-आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति । मैं (गोरखनाथ) इस नृपतिबोध (नरवैंबोध) का वर्णन करता हूँ । योगारम्भ की अवस्था में योगसाधक को सबसे पहले काम, क्रोध और अहंकार का त्याग करना चाहिए । मायिक विषय-विकार में आसक्त भोगमुखी मन को योगमुखी बनाना चाहिए । जीवमात्र के प्रति अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिए, जीव को पकड़ कर उसको न मारना चाहिए, न उसे दुःख पहुँचाना चाहिए, साधना की प्रगति में तृष्णा और लोभ बहुत बाधक हैं । इन दोनों को त्याग देना चाहिए । सुख-दुःख, शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूलआदि सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर निर्द्वन्द्व हो जाना चाहिए । स्त्री के रूपजाल में पड़कर कामवासना की तृप्ति के लिये उसके आलिंगन का त्याग कर सदा स्वरूपानन्द में ही रमण करना चाहिए । सहज युक्ति से,

शरीर को बिना क़ष्ट दिये आसनों का अभ्यास करना चाहिए, प्राण की साधना कर तन, मन और प्राण को स्थिर और जीवनोपयोगी बनाना चाहिए । यम-नियमों का पालन करते हुए युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए । नींद तमोगुणी है, ज़ीवन का काल है, मृत्यु है, इसके वश में होकर आलस्य-प्रमाद में जीवन का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए, तंत्र, मंत्र (झाड़-फूँक, टोटका) और हानिकर दवाओं के सेवन से दूर रहना चाहिए । यंत्र आदि धारण करने अथवा गुटिका मुख में रखकर आकास आदि में उड़ते हुए अदृश्य होने से तथा अनेक धातु (वैद्यक भस्म अथवा तामा, लोहा आदि की अंगूठियों) के सेवन आदि से किसी भी तरह के यश और लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए । राजा के दरवाजे पर जीविका-निर्वाह के लिए भिक्षा- प्राप्ति की आशा से कभी नहीं जाना चाहिए । स्तम्भन, मोहन, मारण, वशीकरण और उच्चाटन आदि की विधियों से दूसरों को प्रभावित कर कार्यसिद्धि की भावना का परित्याग करना चाहिए । हे योगेश्वरों ! योगारम्भ का मार्ग यह है कि समस्त पराश्रयों का त्याग कर परब्रह्म परमात्मा जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिए । हे राजा ! (छत्तीस, क्षितीश अथवा पृथ्वीपति) बाहरी दिखाओं और साधना सम्बन्धी बाह्य वेश-वूषा और कृत्रिमताओं को दूर करना चाहिए, काम, क्रोध और अहंकार-ये तीनों साधनमार्ग के महान शत्रु हैं, इनको जीत कर परमात्मा का ध्यान करना ही योगसाधना है ।

नैणं महारंस फिरौ जिनिदेस । जटा भार बंधौ जिनि केस ।
रूष बिरष बाड़ी जिनि करौ । कूवा निवांण षोदि जिनि मरौ ।। 7 ।
टूटै पवनां छीजै काया । आसण दिढ़ करि बैसौ राया ।
तीरथ वर्त कदै जिनि करौ । गिर परबतां चढ़ि प्रान मति हरौ ।। 8 ।
पूजा पाति जपौ जिनि जाप जोग माँहिं विटंबौ आप ।
छाड़ौ बैद बणज-ब्यौपार । पढ़िबा गुणिबा लोकाचार ।। 9 ।।
बहु चेला का संग निवारि । उपाधि मसांण बाद बिष टारि ।
येता कहिये प्रतक्षि काल । एकाएकी रहौ भुवाल ।। 10 ।।
सभा देषि भांड़ौ मति ग्यांन । गूंगा गहिला होइ रहौ अजांण ।
छाड़ौ राव रंक की आस । भिछ्या भोजन परम उदास ।। ।। ।।

महारस-अमृत अपने ही पास (नैण-निकट है अथवा) नैण-नेत्र में है। परब्रह्म अपने ही भीतर हैं, देश-देशान्तर में घूमने से कोई लाभ नहीं है, सिर पर केश बढ़ा कर जटा रखने से कोई लाभ नहीं है, यदि परमतत्व का ज्ञानामृत नहीं प्राप्त होता है। वृक्ष की छाया में कुटी बनाकर न रहो। ये सभी व्यर्थ हैं, यदि अपने आत्मस्वरूप का बोध अथवा अलखनिरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया। दान-पुण्य, गहरे कूप आदि खनाना भी परमात्मज्ञान की अनुभूति के अभाव में, शून्यता में व्यर्थ है। इधर-उधर भ्रमण करने से तथा व्यर्थ श्रम करने से प्राण शरीर में स्थिर नहीं रह पाता है, काया क्षीण हो जाती है। हे राजा ! एक आसन में दृढ़ होकर बैठ जाना चाहिए। परमात्मतत्व की प्राप्ति के लिए तीर्थव्रत करना या पर्वतों पर चढ़कर प्राण देना व्यर्थ है। पूजा-पाठ तथा तरह-तरह के जाप आदि करके योग मार्ग की विडम्बना न करो। यह सब वाह्याचार हैं। वाह्याचार से सहज तत्व बोध नहीं होता। मन तो उन्मन, योग से ही हो पाता है। शास्त्र आदि के पठन-पाठन केवल लोकाचार मात्र हैं, ये तो विधि-निषेधात्मक आचार-विचार व्यापार मात्र है। योगसाधना में अनेक शिष्यों का समुदाय बनाना भी हानिकारक है, उपाधि और वाद तो साक्षात् मरण (मसान-श्मशान भाव) और विष हैं, इनसे दूर रहना चाहिए। हे राजा ! इन सभी व्यापारों, कृत्रिम पूजा-पाठ, व्यवहार, लोकाचार आदि से दूर रहकर एकान्त में, असंग स्थिति में निवास कर योग की साधना में तत्पर रहना चाहिए। विद्वानों की सभा में अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, व्यर्थ तर्क और बकवाद से साधना में विघ्न पड़ता है, वाणी से मौन धारण करना चाहिए और अपने-आप को ऐसा प्रकट करना चाहिए कि तद्विषयक किसी भी तरह की जानकारी ही नहीं है। राजा-रंक, सब की समान गति है, किसी का भी आश्रय ग्रहण किये बिना भिक्षाटन करते हुए योगसाधना का पक्ष लेना चाहिए। समस्त द्वन्द्वों में अनासक्त रहकर उदासीनवृत्ति का परिचय देना चाहिए।

सींगी नाद पयांना देहु। देव कला के लछिन लेहु।
बगज्यूध्यान माडि जिनि रहौ। स्वान जती की निंद्रा गहौ।। ।2।।
रसरसाइनगोटिका निवारि। रिधि परिहरौ सिधि लेहु बिचारि।।
परहरौ सुरापांन अरूभंग। तातैं उपजै नाना रंग।। ।3 ।।

नारीसारी कींगुरी । तीन्यूं सतगुर परहरी ।
आरंभ घट परचै निसपती । नरवै बोध कथंत श्री गोरषजती ।। ।4।

सींगीनाद की क्या सार्थकता है, यदि शरीर के भीतर दिव्यशक्ति, दिव्यज्योति, परमात्मशक्ति का अनुभव नही हो पाया । सींगीनाद के बजाने से प्राण टूटता है, अनाहत-नादानुसन्धान करना चाहिए । योगी को बकध्यानी नहीं बनना चाहिए, हे राजा । श्वान और यती की तरह निद्रा के सेवन के समान ही साधन-भजन में प्रत्येक क्षण सावधान रहना चाहिए । रासायनिक प्रयोग द्वारा लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करने की विद्या तथा मुख में यंत्रित और अभिमंत्रित गुटिका रखकर अदृश्य हो जाने की कला आदि से दूर रहना चाहिए, ये प्रपंच हैं, ऋद्धि-सिद्धि के फेर में नहीं उलझना चाहिए, ऋद्धियों का त्याग कर देना चाहिए और सिद्धियों से भी अन्तस्साधना में बाधा पड़ती है, इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है । इस तरह कनक-कामिनी का त्याग कर देना चाहिए । स्त्री के संग का त्याग करना चाहिए, सारिका (सारी) को नाम पढ़ा कर बाहर से साधन-प्रवृत्ति प्रकट कर भीतर स्वरूपज्ञान से दूर रहने की भावना का त्याग करना चाहिए, सारंगी (कींगरी) बजा कर मनोरंजन करने से कोई लाभ नहीं है, नादानुसन्धान से मन को उन्मन करना चाहिए । हमारे सद्गुरू देव ने इन सभी बाह्याचारों के त्याग का उपदेश दिया है और योग की चार अवस्थाओं, आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति के अनुसार साधना में प्रवृत्त रहने पर ही बल दिया है ।

इति श्रीगोरषनाथ विरचंते, नरवैबोध ग्रंथ, पठंते गुणंतेकथंते, पापे न लिप्यंते पुण्ये न हरंते, ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई गुरू मछीन्द्रनाथ पादुका नमस्तते इति श्री नरवै बोध-ग्रंथ जोगसास्त्रपूरण समापत ।

व्रत

एक बरत गुरू मुषि लहै भेवा । दूजा ब्रत संतोष सेवा ।
तीजा ब्रत दया चित रहै । चौथा ब्रत ब्रह्म को लहै ।। । ।।
एक ब्रत जो इंद्री गहै । दूजा ब्रत राम मुष कहै ।
तीजा ब्रत मिथ्या नहि भाषै । चौथा ब्रत दया मनि राषै ।। 2 ।।

सांचौं ब्रत कहे ये चारी । जिस भाव सो लेहु बिचारी ।
और सकल जग का ब्यौहारा । तासौ कदे.न पावै पारा ।। 3 ।।
सील संतोष सुमिरण ब्रत करै । ताकै भुषी कौंण कहि मरै ।
मन इन्द्रियन को अस्थिर राषै । राम रसाइन रसना चाषै ।। 4 ।।
इन ब्रत समि ब्रत नहीं कोई । बेद अरू नाद कहै मति दोई ।
ताथै ए ब्रत हिरदय धारौ । गुरू साधौ की साष बिचारौ ।। 5 ।।
सील ब्रत संतोष ब्रत छिमा दया व्रत दान ।
ये पांचों ब्रत जो गहै, सोइ साध सुजांन ।।
इन ब्रतां का जांणै भेव । आपै करता आपै देव ।
मन पवनां लै उनमन रहै । ऐते ब्रत गोरंषनाथ जी कहै ।। 7 ।।

इति

आत्मबोध

ऊँ आसण करि पदम आसण बंधि । पिछलै आसण पवनां संधि ।
मन मुछावै लावै ताली । गगन सिषर में होइ उजाली ।। । ।।
प्रथम बैसि बाई दर बंधि । पवनां षैलै चौसठ संधि ।
नव दरवाजा देवै ताली । दसवां मधें होइ उजाली ।। 2 ।।
ऐसा भुवंगम जोगी करै । धरती सोषै अंबर भरै ।
गगने सुर पवनें सुरतांणि । धरती की पांणी अंबरि आंणि ।। 3 ।।
ता जोगी की जुगति पिंछाणि । मन पवन ले उनमनि आंणि ।
मन पवन ले उनमनि रहै । तौ काया गरजै गोरष कहै ।। 4 ।।
चढ़ै महारस अमरा भरै । ऐसा आरम्भ जोगी करै ।
उलटी सक्ति चढ़ै ब्रह्मण्ड । नष सष पवनां षेलैं नव षंड ।। 5 ।।

ऊँकार स्वरूप का ध्यान करते हुए पहले पद्मासन में स्थित हो जाना चाहिए । इसके बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से मन की चंचलता मिट जाती है, और गगनशिखर में अलख निरंजन की ज्योति प्रकाशित हो उठती है । जिस तरह घाटियों में वायु का वेग बढ़ जाता है,

उसी तरह आसन लगाकर प्राणायाम करने से शरीर की विभिन्न नाड़ियों में वायु प्रवाहित होने लगती है, शरीर की गाँठों और जोड़ों, चौसठ सन्धियों में प्राण का यथाविधि संचार होता है, इस तरह शरीर में प्राण को स्थिर कर मन को उन्मन करते हुए साधक के शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित (बन्द) करना चाहिए। ऐसा करने से दसवें दरवाजे, ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश हो जाता है और साधक अलखनिरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है। अपान और प्राणवायु का मेलन कर सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करने पर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-शक्ति (भुजंगम), का प्रबोध होता है, इस तरह योगी (भुवंगम) कुण्डलिनी को जगाता है, धरती (मूलाधार) का रस (वीर्य) ऊर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में बिन्दु और नाद का मिलन करता है, अम्बर (ब्रह्मरन्ध्र) महारस-वीर्यरूपी अमृत से परिपूर्ण हो उठता है। गगन की ओर पवन का खिंचाव (ताँणि-तान) होता है, मन-पवन उन्मन हो जाते हैं, इस तरह योगी मन-पवन की साधना कर धरती (मूलाधार में) स्थित पानी (वीर्य) को आकाश में ऊर्ध्वगामी करता है। मन और पवन से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर अनाहत नाद का गर्जन होता है। महारस (वीर्य) अधोगामी न होकर, आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर ऊँचे स्थान पर चढ़ता है। इस तरह योगसाधना का योगी आरम्भ करता है, धरती में स्थित मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग उठती है, वह ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र) में परमशिव के निवास-स्थान में प्रवेश कर, उससे मिलकर समरस अथवा एक हो जाती है, सारे शरीर के नवों खण्डों में पवन का संचार हो उठता है।

उलटै चन्द्र राह कौं ग्रहै। सूरज उलटि केत संग्रहै।
ससि द्वार सूरज थिर रहै। तत्व भांण जोगेस्वर कहै ।। 6 ।।
अरधै जाता उरधै गहै। द्वादस पवनां उनमन रहै।
अहनिसि बाई धुंनि मैं बाजै। पछिम द्वारै पवनां गाजै ।। 7 ।।
अभि अंतरि ब्रह्म अगनि परजाले। पंच चोर लै ग्यांन संभालैं।
जोगी अपणौ घरि दिवाला दीपै। ता जोगी की काया काल न छीपै ।। 8 ।।
हलि हलिं पवनां काया गरजै। सूरा होइ अभिअंतरि झूझै।
ग्यांनषडग ले झूझिबाद्वारं। अजीतजीतिबा पंच गहि सारं ।। 9 ।।
अष्ट परबत असाध साधिबा। नव दरवाजा दिढ़ करि बांधिबा।
दसवैं दरवाजै कूची सार। मैमंत हस्ती बाँधिबा बार ।। 10 ।।

भीतरि राजा झूझण हार । चहुँ दिसि जाता राष्या मार ।
राजा झूझै विषमैं धाइ । मन पवन ले रहै समाइ ।। ।। ।।

कुण्डलिनी-शक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है । सूर्य और चन्द्र उलट कर राहु-केतु को ग्रस लेते हैं, आशय यह है कि सूर्य ऊर्ध्वमुख होने पर (विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा) प्रभावहीन हो जाता है, इसी तरह चन्द्रमा अधोमुख हो उठता है, योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को स्वयं पी लेता है । चन्द्रमा और सूर्य का मेल हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र में तत्वप्रकाशित हो उठता है, इस तरह योगसिद्ध पुरूष, योगेश्वर अपना अनुभव व्यक्त करता है । नीचे की ओर प्रवाहित अपानवायु का ऊर्ध्वाकर्षण करते हुए प्राण में उसे एकीभूत कर अथवा मिलाकर सुषुम्ना में स्थापित कर देना चाहिए, इस तरह द्वादशांगुल प्राणवायु को आयामित अथवा नियंत्रित कर योगसाधक को उन्मनी अवस्था में स्थित रहकर स्वरूप अथवा परमशिव का चिन्तन करना चाहिए । सुषुम्ना में वायु के स्थैर्य से अनाहतनाद होने लग जाता है, इस तरह प्राणायाम की साधना कर साधक को शरीर के भीतर ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। ब्रह्मअग्नि की साधना आज्ञाचक्र में ब्रह्मनाल, सुषुम्ना में की जाती है, यही से शक्ति, कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश करती है । पंच ज्ञानेन्द्रियों को पांचभौतिक विषयों में आसक्त न होने देकर उन्हें परमात्म चिन्तन का साधना बनाना चाहिए । योगी को अपने शरीर के भीतर अलख-निरंजन की ज्योति प्रकाशित करनी चाहिए, जो योगी इस तरह परब्रह्म में तल्लीन हो जाता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है, काल उसका बाल बाँका नहीं कर सकता है । प्राण शरीर की प्रत्येक सन्धि में प्रवेश कर गरजता है, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, इस नाद से प्रोत्साहित होकर वीरात्मा योगी अपने भीतर ही भयानक संघर्ष कर विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है, युद्ध ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा करना चाहिए, दुर्निग्रह मन को जीत लेना चाहिए और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार कर लेना चाहिए । शरीर में आठ पर्वत स्थित हैं, इनकी चढ़ाई बड़ी दुर्गम हैं । शरीर के नव द्वार हैं । शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित कर अन्तः साधना के द्वारा अलखनिरंजन का दसवें द्वार में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करना चाहिए, मदमत्त हाथी के समान मन ब्रह्मरन्ध्र अथवा दसवें द्वार पर बाँध लेना चाहिए, उन्मन करना

चाहिए । हमारे भीतर ही आत्मारूपी राजा निरन्तर योगसंग्राम में तत्पर है, उसने मन को वश में कर लिया है, वह विषयेन्द्रियों के अनेक आक्रमण का निवारण करते हुये घाव-पर-घाव सहता रहता है, वह मन और पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित योगसंग्राम में विजयी होता है । कर

मन पवन की विषमी संधि । चंद सूर द्वै समि करि बधि ।
नवसै नवासी सायर सोषै । जोगी सोषै सदा भरि पोषै ।। ।2 ।।
बिन पुस्तक बंचिबा पुरांण । सुरसती उचरै ब्रह्मगियांन ।
अझर सोषै बजर करै । सरब दोष काया ले हरै ।। ।3 ।।
षैरै षोजै लावै बंध । तौ अजरावर थिर ह्वै कंध ।
सोषै पोषै जालैं बालैं । अहनिसि ब्रह्मअगनि पर जालै ।। ।4 ।।
अहनिसि अगनि पाप कूंषाझ । संधै संधै पवन लुकाइ ।
मन ह्वै धीर थीर बहै पवनं । सिवपुरी जीता राषै कवनं ।। ।5 ।।
ब्रह्मसागर सोषै बंध ज्यंद । षीर सागर सोषै अजरांवर कंद ।
बजर कछोटा आसण करै । रोगव्याधि षुध्या सब हरै ।। ।6 ।।

अपान और प्राण का सुषुम्ना में संयोग कठिन होता है । इड़ा और पिंगल से प्रवाहित प्राण को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर करने अथवा प्राण-अपान को समरस करके सूर्य और चन्द्र को समरस कर दो । योगी नव सौ नवासी (असंख्य) नाड़ियों में प्राण को उत्थित करते हुए वीर्य-महारससागर को सोख लेता है, ऊर्ध्वगामी कर ब्रह्मरन्ध्र में नाद-बिन्दु का सामरस्य स्थापित कर देता है, योगी खाली नाड़ियों को वीर्य से भर देता है, इस तरह निरन्तर वीर्य को ऊर्ध्व करने की क्रिया होती रहती है । योगी के हृदय में साक्षात् सरस्वती निवास कर ब्रह्मज्ञान का उच्चारण करती है और वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है । योगी को यौगिक क्रियाओं से अपनी काया निर्मल और निर्दोष बना लेना चाहिए, इससे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अथवा अनुभूति में बड़ी सुविधा होती है । क्षरित होने वाले वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर, अझर (न झरने वाला) कर उसे शरीर में सोख लेना चाहिए, वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा योगी को शरीर का शोधन करना चाहिये और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत के पान में सफल होना चाहिए । वीर्य को कभी अधोगामी होकर क्षरित नहीं होने देना चाहिए । मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर आदि बन्धों के द्वारा इसे

ऊर्ध्वमुख कर रससिद्ध करना चाहिए, वीर्य महारस है, यही परिपक्व होकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, इस वीर्य को शरीर में सोख लेना चाहिए, जीर्ण कर लेना चाहिए, पचा लेना चाहिये, इससे ज्ञानदीप्ति प्रकाशित हो जाती है, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित हो जाती है, योगी को इस ब्रह्माग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखना चाहिये। ब्रह्मकुण्ड में प्रज्वलित ब्रह्माग्नि से ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव अपने पूर्ण प्रकाश में अभिव्यक्त हो उठता है। यह ब्रह्माग्नि पाप का नाश करती है। इस ब्रह्माग्नि के शरीर में प्रज्वलित होने पर प्राण भी क्षीण नहीं होता, प्राणवायु शरीर की समस्त सन्धियों में यथास्थान स्थिर हो जाती है। नाड़ियाँ मलरहित हो जाती हैं और मन स्थिर अथवा उन्मन हो जाता है, उसकी चंचलता मिट जाती है, जीवात्मा शिवपुरी में प्रवेश कर अलख-निरंजन परब्रह्म शिव का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है। ब्रह्मसागर वीर्य को सोख लेने से, ऊर्ध्वगामी करने से प्राण शरीर में स्थिर होता है, इससे योगी को वीर्य को ऊर्ध्वगामी करना चाहिये, सहस्रार में द्रवित चन्द्रामृत-क्षीर-सागर का पान करने से शरीर अजर और अमर हो जाता है, इसलिये योगी को अमृत का पान करना चाहिये। योगी को वज्रकोपीन धारण करना चाहिए, और वज्रासन में स्थित रहने का अभ्यास करना चाहिए, इससे व्याधि और रोग नष्ट हो जाते हैं, भूख नहीं सताती हैं। (दोनों जाँघों को वज्र के समान दृढ़ कर दोनों पैरों को गुदा के पार्श्व-भाग में जमाकर बैठना ही वज्रासन है-घेरण्डसंहिता 2।।।)

जड़ी बूटी भूलै मति कोइ। पहली रांड बैद की होइ।
जड़ी बूटी अमर ज करै। तो बैद धनन्तर काहे मरै ।। 17 ।।
सोने रूपै सीझै काज। तो कत राजा छाड़ै राज।
पसुवा होइ जपै नहिं जाप। सो पसुवा मोषि क्यूं आप ।। 18 ।।
रिधि सकेलै रौलांणी धरै। गुरू न षोजै मुरिष मरै।
रोलाणी आगै बैसै फूलि। गुरू की बाचा गया जे भूलि ।। 19 ।।
अकल पुरिस कै सकल नियाव। मीठा बोलै झूठा भाव।
सत बोलै सोई सतबादी। झूठ बोलैं सो महापापी ।। 20 ।।
देषत भौंदू विषिया षाई। झूठा बोलैं मरि-मरि जाई।
जैंसा करैं सो तैंसा पाय। यकोतर से पुरिषा नरकिलैं जाय ।। 21 ।।

एक पुरिष बहुं भाँति नारी । सरब निरन्तर आत्मां सारी ।
सरब निरंतर भरि पूरि रहिया । आत्मांबोध सपूरण कहिया ।
पाप न पुन्ने लिपे न काया । आत्मांबोध कथंत श्रीगोरष राया ।। 22 ।।

योगासाधक को जड़ी-बूटी के सेवन के फेर में नही पड़ना चाहिए, इससे शरीर अजर-अमर नहीं हो सकता । यदि जड़ी-बूटी के सेवन से ही कोई अमर हो जाता तो वैंद्य की स्त्री विधवा नही होती, वैद्य धन्वन्तरि की मृत्यु नही होती योग की सिद्धि के लिये स्वर्ण और चाँदी का संग्रह भी व्यर्थ है, यदि इन दोनों से सिद्धि मिल जाती तो राजा (महाराज भर्तृहरि और महाराज गोपीचन्द्र) राजकार्य का त्याग कर वैराग्य के पथ में अग्रसर होकर योगमार्ग में नही प्रवृत्त होते । अज्ञानी मनुष्य तो पशु है, जो जड़ी-बूटी और सोने-चाँदी में विश्वास कर अजपाजप द्वारा हंसगायत्री मंत्र को सिद्ध नही कर पाता और मोक्ष-प्राप्ति अथवा आत्मस्वरूप बोध तथा परमात्म साक्षात्कार से सर्वथा दूर हो जाता है । बिना गुरू की प्राप्ति के आत्मबोध नही प्राप्त हो सकता । सोना-चाँदी का संग्रह कर, घर बसाकर रावलिन योगिनी के संग में निवास करना भ्रममात्र हैं, जो प्राणी अपने शरीर में ब्रह्मरन्ध्र में निष्कल-निराकार परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह समस्त प्राणी में अलख-निरंजन परमात्मा की विद्यमानता का अनुभव करता है, उसके जीवन में राग-द्वेष, द्वन्द्वादि के लिए स्थान नही रहता, उसका सब काम सद्व्यवहार ही होता है । वह सत्य बोलता है, मीठा बोलता है, वह सत्यवादी है, झूठ बोलनेवाला पापी होता है । असत्यभाषी भोंदू हैं, अज्ञानी है, असत्य बोलकर मृत्यु का ग्रास बनता है, सत्यवादी अमृत में निवास करता है । यह सनातन सत्य है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है, इसलिए असत्य-भाषण से सभी पितर नरक में पतित हो जाते हैं, सारे प्राणी ही नारीरूप में एक पति परमेश्वर के उपासक हैं, सभी का स्वामी परमेश्वर है । आत्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है, पूर्ण है, सचराचर परमात्मा में स्वस्थ है, यही आत्मबोध है, इससे काया पा-पुण्य में लिप्त नही होती, प्राणी आत्मरूप होता हैं ।

इति श्रीगोरष आतमबोध, पठंते करंते गुणंते कथंते । पापे न लिपंते पुंने न हरंते । ऊँ नमो सिवाई । ऊँ नमो सिवाई, गुरूमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते । इति श्रीआतमांबोध ग्रंथ जोगशास्त्र संपूरण समापतः ।

आदिनाथदि पारब्रह्म ऊँ सिव सकती । नाद-बिन्द लेकाया उतपती ।
नाद-बिंद रूपी बोलिए ऊँकार ।
बिंदरूपी बोलिए काया । प्रथम आदि उतपती माया ।। । ।।
उदै भईला सूर अस्त भईला चंदा । दुहु बिच कल्पना काल का फंदा. ।
उदै ग्रह अस्त एक करि बासा । तब जानबा जोगींद्र जीवन आसा ।
बारह कला रबि सोलह कला ससी । चारि कला गुरूदेव निरंतर बसी ।। 2 ।।
हीण पद सुराया लागा डंसा । तन का तेज ले उड़िया हंसा ।
हंस का तेज लैथिर रहै काया । काल का भेद कहौ गुरराया ।। 3 ।।
द्वैपष छेदि एक ह्वै रहणां । चंद सूर दोउ सम करि गहणां ।
ऊँच भै उपरै मध्य निरंतरै ता तलि भाठि जराई ।। 4 ।।

सींजि अमीरस कंचन हुआ । यहि बिधि पिंजरै बानवै सुआ ।
उपजंत दीसंत निपजंत नाहीं । आबरण नास्ति संसार माहीं ।। 5 ।।
बूझि लै सतगुर बुद्धि भेद सिद्ध संकेत । परचा जाणि लगावो हेत ।
उरस धूरम जोती झाला । नौ कोटि षिड़की पूर ले वाला ।। 6 ।।
ताला न टूटै षिड़की न भाजै । पिंड षडै तौ सतगुर लाजै ।
भरे सागर धुनि धूसर कूंची । तहाँ सकल विघ्न है सोई सूची ।। 7 ।।
इहि बिधि जोगी अतीत होई । अमर पद ध्यावत बिरला कोई ।
सहज मरे अष्ट पग धरणां । ग्यान खड्ग ले काल संहरणां ।। 8 ।।
अमर कोट काया एक ब्रह्म मध्ये । जीतले जमपुरी राषि ले कंधे ।
आतमा झूझ जती गोरषनाथकिया । संसार बिणास्या आपण जिया ।। 9 ।।

आदिनाथ परमेश्वर ही ऊँकारस्वरूप है । 'ना' का आशय है अनादि और 'थ' का आशय है भुवनत्रय । अनादि ब्रह्म में भुवनत्रय का स्थापित होना ही ओंकार स्वरूप अलखनिरंजन परब्रह्म का आदिनाथरूप है । नाद-बिन्दु से काया की उत्पत्ति होती है । (नाथ का अंश नाद है, नाद का अंश प्राण है, शक्ति का अंश बिन्दु है और बिन्दु का अंश शरीर है । शक्ति-अंश-बिन्दु के प्रसर से सृष्टि होती है, शिवांश-बिन्दु का प्रसरण नहीं है । बिन्दु के आदि स्पन्द से सृष्टि के विकास अथवा निर्माण की क्रिया

होती है ।) ओंकार नाद-बिन्दु-स्वरूप हैं । नाद-बिन्दु का लय ही ऊँकाररूप है । सगुण ब्रह्म में इच्छा ही नाद है । इच्छा के साथ क्रिया बिन्दु है, ऊँकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति का कारण नाद-बिन्दु की यही अन्तरलीनता है । अतः ऊँकार-नाद बिन्दुरूप है । मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मूलाधार बिन्दु से है । इस तरह पहले माया (मण्डल) की उत्पत्ति होती है शरीर की उत्पत्ति के साथ ही नाभिस्थान में सूर्य (अग्नि) की उत्पत्ति होती है और सहस्रारस्थ अमृतस्वरूप चन्द्रमा क्षीण होने लगता है । इस तरह उदय और अस्त के मध्य में शरीर की मृत्यु अथवा काल की स्थिति होती है । सूर्य बारह कला का है, चन्द्रमा सोलह कला का है । चार शेष कला ही शरीर को अमृत प्रदान करती है । हे गुरूदेव । हे योगीन्द्र ।। चन्द्रमा के शेष चार कलारूपी अमृत के पान से ही जीवन के स्थिर रहने की आशा की जाती है । हीनपद में स्थित रहने से शरीर क्षीण हो जाता है और प्राण (हंस) शरीर के बाहर हो जाता है, प्राण से ही शरीर स्थित रहता है, इसलिए प्राण की साधना करनी चाहिए । द्विविधा (माया) द्वैत-अद्वैत के विचार में न पड़कर अपने परमात्मस्वरूप, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मतत्व का चिन्तन करते हुए अमृत का पान कर अमरकायत्व प्राप्त करना चाहिए ।

अमृत-रस को सिद्ध करने का उपाय यह है कि शरीर के भीतर स्थित अनेक चक्ररूपी भट्टियों को प्राणवायु के स्थैर्य से, अपान और प्राण के सामरस्य से प्रज्वलित किया जाय । मूलाधारबन्ध लगा कर अपान वायु को (चन्द्र को) प्राण (सूर्य) से मिला कर उसे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित किया जाय, इस तरह प्राण ऊपर उत्क्रमित होकर अग्निमण्डल में प्रवेश करता है । कुण्डलिनीशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर उठती है, वीर्य (रस) और मन भी ऊर्ध्वगामी होते हैं । अपान मूलबन्ध के अभ्यास से ऊपर उठ कर नाभि के नीचे त्रिकोण जठराग्नि में प्रवेश करता है । इस तरह अपान और अग्नि, दोनों प्राण में मिल जाते हैं । चक्रों की भट्टी प्रज्वलित हो उठती है । प्राण की साधना के द्वारा कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करते हुये शरीर के रस (वीर्य) को मन के साथ उर्ध्वगामी कर सहस्रार में संचित करना चाहिए और जालन्धर बन्ध सिद्ध कर स्वय अमृत का पान करना चाहिए । इस अमृतरस की सिद्धि से ही शरीर कंचन बन जाता है, अमरत्व प्राप्त करता है और इस

पिंजरे में (शरीर में) प्राणहंस (शुक्र) ठहर जाता है । यह जीवन्मुक्त हो जाता है, न पैदा होता है, न उत्पन्न होता है, माया का आवरण सदा के लिये समाप्त हो जाता है और जीवात्मा परमशिव का स्वरूप हो जाता है । सद्‌गुरूदेव । यही सिद्ध का संकेत है । परमात्मा के साक्षात्कार (परिचय) का यही तरीका है । इससे मन (ऊरम) और पवन (धूरम) ज्योतित हो उठते हैं, चिन्मय प्रकाश से सारा शरीर पूर्ण हो उठता है । नवों द्वारों को बन्द कर लेने से उन्मनी समाधि में अलख निरंजन परमात्मा की ज्योति का सम्पूर्ण दर्शन होता है, शरीर में अमृत भर उठता है, नवों दरवाजों का ताला नहीं टूटता है, समाधि लगी रहती है, इतना होने पर भी यदि पिण्डपात हो जाय, शरीर की मृत्यु हो जाय तो इससे सिद्ध होता है कि सद्‌गुरूज्ञान का आदर नहीं किया गया है, आशय यह है कि शरीर मृत्यु का ग्रास बनता ही नहीं है । सहस्रार में अमृतसागर में अनाहतनाद की तरंगें उठती हैं । चारों ओर पवित्रता-ही-पवित्रता अथवा निर्मलता और निरंजनता का ही दर्शन होता है, उन्मनी समाधि में स्थित योगी कैवल्यपद में अतीत, स्वरूपस्थ हो जाता है । कैवल्यपद अथवा अमर पद का ध्यान कोई बिरला ही कर पाता है । अष्ट पद (पग) धूर्म ब्रह्माण्ड (ललाट), आकाश ब्रह्माण्ड (मस्तक सन्धि), शून्यब्रह्माण्ड (सहस्रदल कमल), परमशून्य ब्रह्माण्ड (तालु), अकल्पित ब्रह्माण्ड (तालुऊर्ध्व), निरंजन ब्रह्माण्ड (भ्रमरगुहा), निराकार ब्रह्माण्ड (शिखामण्डल) तथा निराधार ब्रह्माण्ड या अष्टचक्र, आधारचक्र, दृष्टिचक्र, मणिपूर, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, अग्निचक्र, ज्ञानचक्र, सूक्ष्मचक्र में सहज परब्रह्म व्याप्त है । परमात्मज्ञानरूपी खगं से काल को जीत लेना चाहिए, मृत्यु को मार डालना चाहिए, मृत्यु का संहार ही जीवन में महाकाल परमशिव का, अमृतब्रह्म का साक्षात्कार है । ब्रह्म में अमरकायत्व ही कायागढ़ की विजय है । मृत्यु को जीत कर शरीर को अमर कर लेना चाहिए, गोरखनाथ का कथन है कि यही आत्मयुद्ध है, संसार (असत्) का अन्त कर शाश्वत जीवन में मैं स्थित हो गया ।

झूंझति सूरा बुझंति पूरा अमरपद ध्यावंत गुरू ग्यान बंका ।
दल को मारि जंजाल को जीतिले, निर्भय होइ मेटिले मन की संका ।।
अझूझि झूझि लै पैसदरिया । मूल बिन वृष अमीरस भरिया ।। ।0 ।।
तन मन लै करि शिव पुर मेला । ग्यांन गुरू जोगी संसार चेला ।
मन राइ चंचल थांन थिति नाहीं । बांधि लै पंच भूत आत्मां माही ।

अलष अकथ चछुबिन सूझिया । सिद्ध का मारग साधके बूझिंया ।। ।। ।।
परख बिन गुर करै जुगते बिन बाहे मरै। बिचार उपरांते कछु ग्यांन नाही।
भ्रमि भूले ते बहि चलै पंडिता । उतरे पार ते फिरे समाही ।। ।2 ।।
सबद की पारेखा निहसबद हुवा । ग्यांन का पारिखा जीवता मुवा ।
रहते करणी मुखैं प्रकास । नासिका जाणंति पहुप की बास ।। ।3 ।।
उलटि यंत्र धरै सिषर आसण करै, कोटि सर छूटतां घाव नाही ।
सिलहट मध्ये कांवरू जीत लै, निर्मल धुनि गगन माही ।। ।4 ।।
मन की भ्रमना तब छूटंत होइ जोगीन्द्र, जब बिचारंत निहसब्द की बांणी ।
नैण के दांता सार धरि पीसिबा, तब जोग पद दुर्लभ सत्य करि जाणी ।। ।5 ।।
उलटि गंगा चलै धरणि ऊपर मिलै नीर में पैसि करि अग्नि जालै ।
घटहि मैं पै सिंकर कूप पानी भरै, तब पाइ परि पुरूषा आप उजालै ।
ग्यांन के प्रगटे श्रीस्यंभूनाथ पाया । अकल अकथ जती गोरषनाथ ध्याया ।। ।6 ।।
संसार में भ्रम्या सरब भ्रम सोई । निज पद पीवतां बिनस्या न कोई ।
बजरंग कोटडी पर दल पूरा। पच मुवा सब जग पहुँचा स सूरा ।। ।7 ।।
मन सौ जूझणा खांड़ा न लागै । सुन्य गढ़ रमि रहे तौ दीप धुनि जागै ।
धरणी न सोषै अगनी न षाई । बेलि का रस लै भौंरा न जाई ।। ।8 ।।
कथणी कथी हो पंडिता रहणी न पाई। आचार के बंधै मनसा गमाई ।
कथंत श्रीस्यम्भु नाथ सुणौ नर लोई। भ्रम में भूल्या सो बहुरा न कोई ।। ।9 ।।

असत् सम्बन्ध की स्वीकृति और अविद्यारूपिणी माया के बन्धन में जकड़ा जीवात्मा सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वह निरंतर संघर्ष करता है, इस तरह वह आत्मयुद्ध में उतर कर अमरपद, परमात्मयपद का कैवल्यपद का ध्यान करता है । ऐसा आत्मवीर गुरूज्ञान (गुरू से प्राप्त उपदेशामृत) का चिन्तन करता रहता है । चारों ओर इन्द्रियजन्य विषयभोगों में रागासक्त करने वाली शत्रु-सेना खड़ी हैं, मनोबल के सहारे सारी शंकाओं को मिटा कर इस युद्ध को जीतकर जीवन को निर्भय कर लेना चाहिए । बिना युद्ध किये ही युद्ध करना आत्मयुद्ध है, यह आत्मसाधना है । शून्यपद में स्थित सहस्रारूपी वृक्ष चन्द्रामृतद्रव से परिपूर्ण है, यह निराधार; सर्वाधार अलख निरंजन परमात्मा परमशिव इसमें नित्य स्वरूप में विराजमान हैं । इस सहस्रार में जीवात्मा का परमात्मा से अभिन्नत्व ही योगसिद्धि है । ब्रह्मरन्ध्र, शिवपुर में तन, मन को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए । प्राण-साधन के द्वारा मन को

उन्मन कर उन्मनी समाधि में स्थित रह कर चन्द्रामृत का पान कर सिद्धदेह की प्राप्ति कर लेनी चाहिए, यही जीवन्मुक्ति है । गुरूयोगी ही महायोग ज्ञानी है, महायोगज्ञानी का सारा संसार शिष्यत्व ग्रहण कर लेता है । मन चंचल है, स्वतंत्र और कही एक जगह स्थिर नहीं रह पाता, इसको उन्मन अथवा अमनस्क कर क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को यौगिक धारणाओं से अथवा पांचभौतिक शरीर को अमृतरस के पान से आत्मा के निवास का अविनश्वर स्थान बना लेना चाहिए । इस तरह (योग) सिद्धि के मार्ग पर साधक को चलना चाहिए, यह योगज्ञान-मार्ग है, अनुभवगम्य है, वाणी से इसका वर्णन नहीं हो सकता है, न चक्षु से यह दीखता ही है, इसका बोध तो आज्ञाचक्र में स्थित ज्ञानचक्षु, (शिवनेत्र अथवा तृतीय नेत्र) से ही होता है । ब्रह्मरन्ध्र अथवा शिवपुरी में प्रवेश के लिए पवन और मन को उत्क्रमित करने के साथ ही साथ विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास कर चन्द्रमा से द्रवित अमृत का पान करने से जीवन में विजय प्राप्त हो जाती है । अच्छी तरह परख कर ही गुरू बनाना चाहिये, यदि युक्ति, साधन की प्रक्रिया का अभाव है तो साधक नष्ट हो जाता है । आत्मविचार से श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है । हे सिद्धानों । भ्रम में नही रहना चाहिये । संसार-सागर से पार उतर जाना चाहिये । नादब्रह्म का साधन कर सहज शून्यस्थ अलख निरंजन का साक्षात्कार करना चाहिये । आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है । रहनी से ही करनी का पता चलता है, नासिका ही पुष्प-गन्ध ग्रहण करती है । यन्त्र को उलटा कर दिया जाता है, और शीर्षासन किया जाता है, इसका आशय यह है कि हमारे मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है, मूलबन्ध और अपान के उत्क्रमण द्वारा उसे जगाया जाता है कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर ऊपर उठती जाती है । हमारे नाभि-स्थान में द्वादश कलावाला सूर्य (अग्नि) रहता है, वह सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के द्रव को सोख लेता है और शरीर अमृत से वंचित रहता है, विपरीतकरणी मुद्रा से सूर्य का मुख ऊपर हो जाता है और चन्द्रमा का नीचे हो जाता है, अमृत का शोषण रूक जाता है, अग्नि के ऊर्ध्वमुख हो जाने से अधोमुख चन्द्रामृत बच जाता है और इसका पान करने से अमरकायत्व का लाभ होता है । इस तरह यन्त्र उलट देने से और शीर्षासन में स्थित हो जाने से जीवात्मा मन और इन्द्रियों के आघात से प्रभावित नही होता, अनेक विषयबाण छूटते रहते हैं पर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

ब्रह्मरन्ध्र (सिलहट) में कुण्डलिनी महाशक्ति मूलाधार में स्थित कामरूप-पीठेश्वरी का शिव से साक्षात्कार, मिलन करा देना चाहिए । यही सिलहट में काँवरूँ को जीतना है । निर्मल अनाहतनाद ब्रह्मरन्ध्र में ध्वनित हो रहा है, मन की चंचलता इस ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि, शून्य सहज समाधि में अथवा निर्विकल्प एवं निर्बीज समाधि में समाप्त हो जाती है । सहजशून्यस्थ शब्दब्रह्म-ऊँकार स्वरूप परम शिव का साक्षात्कार करते ही योगीन्द्रपद की प्राप्ति हो जाती है । सूक्ष्माति-सूक्ष्म का दर्शन होता है और दुर्लभ योगपद प्राप्त होता है । गंगा उल्टी बहने लगती है, प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, और धरती कुण्डलिनी आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में मिल जाती है । अमृत में प्रवेश से अग्नि-ज्योति प्रज्वलित अथवा प्रकाशित हो उठती है, (घट) शरीर में ही कूप (ब्रह्मरन्ध्र में संचित अमृत) प्रवेश करता है, और सम्पूर्ण शरीर के भीतर निरंजन परब्रह्म की ज्योति अभिव्यक्त हो उठती है । परमात्मज्ञान अथवा योगज्ञान प्रकाशित हो जाने पर परब्रह्म आदिनाथ शिव की प्राप्ति होती है, यह निष्कल और अचिन्त्य अकथ ब्रह्म है । योगी गोरखनाथ ने इसको ध्यान में प्राप्त किया, अथवा इसका ध्यान किया । संसार के मायामोह के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । स्वरूप में स्थित होने पर जीवात्मा विनष्ट नहीं होता है । योगाग्नि में सिद्ध देह को प्राप्त कर वज्रांगरूपी कोठड़ी में विषयगामी पंच इन्द्रियों के शक्तिहीन हो जाने पर, मर जाने पर वीरात्मा अपने पद में पहुँच जाता है, स्वरूप-बोध प्राप्त कर लेता है । मन से ही कायागढ़ में युद्ध (साधना) करना चाहिये, तलवार की इसमें आवश्यकता नहीं है । मन के उन्मन हो जाने पर अनाहत नाद का श्रवण होता है तथा ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजनरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है । शरीर में अमृतरस प्रवाहित हो उठता है, मूलाधार (धरती) में स्थित सूर्य इसे नहीं सोखता है, पंचेन्द्रियरूपी भौंरा इसे बाहर नहीं ले जाता है। हे विद्वानों ! केवल (शास्त्रज्ञान के) कथन मात्र से ही ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती । आचार, व्रत आदि का पालन करने पर भी यदि स्वरूपबोध नहीं होता तो यह निरर्थक है । शिवस्वरूप गोरखनाथ का कथन है कि जो माय में भ्रमित रहता है वह सद्ज्ञान नहीं पाता है ।

भूल्या सो भूल्या बहुरि चेतना। संसार के लोहै आपा न रेतना ।
भेष तजि भ्रम तजि राषि सत्य सोई । तत बिचारता देवता होई ।। 20 ।।

आपा सोधौ ब्रह्म निरोधौ सहज पलटौ जोती ।
काया के भीतर मणि माणिक निपजै, तहाँ धुनि-धुनि बरषै मोती ।। 2। ।।
अरध उरध संपुष्टि करीजै। संषणि नाल अमीरस पीजै।
अषंड मंडल तंह नाद मेरीलै। हरिं आसण तह भगति करीलै।। 22 ।।
अलेष मन्दिर तंह सिव सक्ति निवासा। सहज सुन्न भया प्रकासा ।
तहाँ चंद बिना चाँदण अगिन बिन उजाला। एतन भेदंतबृद्ध से बाला ।। 23।।
करतार तजिहूँ साकत हूँ न जाई । मन मृग राषिले बाड़ी न पाई ।
आकास बाड़ी पाताल कूंआ। भरि-भरि सीचता जो सिद्ध हुआ ।। 24 ।।
अवधू अमर कोट काया अलेष दरवाजा ।
ग्यांन गढ़ आसण प्राण भयो राजा ।। 25 ।।
अवधू फेरि ले तौ तत सार बुद्धि साँच ।
नहीं तौ लोहा गढ़िले तौ कंचन नहीं तौ काँच ।। 26 ।।
अवधू सिद्धा पाया साधक पाया ते उतरिया पारं ।
कथंत जती गोरषनाथ जेते न जानंत विचारं, ते जलि भये अंगारं ।। 23 ।।

हे अवधूत । मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बहुत दुर्लभ कही गयी है, इसमें जन्म लेकर जो परमात्मा का स्वरूपानुभव नही कर लेताहै, उसका जीवन व्यर्थ चला जाता हैं और जीवन के इस तरह व्यर्थ और निस्सार चले जाने का एक मात्र कारण है अज्ञान, इस अज्ञान में ही अनेक भूले होती रहती हैं । जो भूल हो गयी, वह हो गयी, ज्ञान-प्रकाश में सावधान हो जाना चाहिए, जाग जाना चाहिए, चेतना चाहिये । संशय नही करना चाहिये, संशय (लोहे की रेती) से आत्मा को नष्ट नहीं करना चाहिए । केवल (योगी का) भेष धारण कर लेने से भ्रम का नाश नही होता है, भेष और भ्रम से सद्ज्ञान मिलने में असुविधा होती है । आत्म-तत्व का विचार करते-करते परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । अपने आत्मा के मायिक आवरण और विकारों का शोधन करना चाहिए, शुद्ध आत्मस्वरूप पर विचार कर शरीर में ब्रह्म का अनुभव करना चाहिए, परमात्मा हमारे भीतर विराजमान है, मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए । काया के भीतर मणि-माणिक्य भरे पड़े हैं, उसमें अनेक (ज्ञान) रत्न उत्पन्न होते हैं, उसमें सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृतकण, मुक्तामणि आदि ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) से झरते रहते हैं । शंखिनी-नाल से अमृत रस पीना चाहिए । अपान और प्राण को

उत्क्रमित कर सुषुम्ना नाड़ी से उनको (प्राण के रूप में) ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए अथवा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सहस्रारस्थ चन्द्र को अधोमुख कर तालु में द्रवित अमृत का स्वयं पान करना चाहिए । शून्य आकाश-मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहतनाद में आत्मलय कर परब्रह्म परमेश्वर का करना चाहिए, उसकी भक्ति के रस में समाधिस्थ हो जाना चाहिए । वह शून्य गगन ब्रह्मरन्ध्र अरूप और अलेख है, निराधार है, उसमें शक्ति-शिव का निवास है, अलख-निरंजन की सहज ज्योति प्रकट है । वहाँ बिना चन्द्रमा के चाँदनी (सच्चिदानन्दमयी), ब्रह्मज्योति है, बिना अग्नि के प्रकाश है । इस आकाश-मण्डल का भेदन कर उसमें प्रवेश कर (चन्द्रमामृत का पान करने से) वृद्ध बालक हो जाता है । उसे अमरकायत्व के रूप में चिरतारूण्य की प्राप्ति हो जाती है । मनरूपी मृग को आकाशरूपी उपवन से बाहर नहीं जाने देना चाहिए अथवा मन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर लेना चाहिए । सिद्ध पाताल के कुएँ के जल से वीर्य-(रस) से आकाशरूपी उपवन को सींचते हुए योग-सिद्धि प्राप्त करते हैं । हे अवधूत । इस तरह अमरत्व में स्थित कायागढ़ में योगी निवास करता है, वह नवों द्वारों को बन्द कर दसवें द्वार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर लेता है । ज्ञानगढ़ में आसन लगाकर प्राण ही राजा बन जाता है, (गुरू) ज्ञानगढ़ में अमृत शरीर में प्राण का राज्य है । प्राण इस शरीर से बाहर नहीं हो पाता है, क्योंकि शरीर चन्द्रामृत से पोषित है, अमृतस्वरूप है । शरीर में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित है, लोहा से स्वर्ण बना लेना चाहिए, यही रससिद्धि है, अन्यथा यह शरीर शीशे की तरह से विदीर्ण हो जायेगा । सिद्ध और साधक सब-के-सब, ज्ञान के प्रकाश में भवसागर से पार उतर गये । गोरखनाथ का कथन है कि जिन्होंने गुरू-ज्ञानं-प्रकाश से शरीर को अमृतत्व में स्थित कर परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लिया, वे जल कर अंगारे के समान बुझ कर राख हो गये, नष्ट हो गये । अमर-जीवन प्राप्त करना चाहिए ।

अवधू ऐसा नग्र हमारा । तिहाँ जोवौ ऊजूद्वारं ।
अरध-उरध बजार मंड्या है । गोरष कहै बिचारं ।। 28 ।।
हरि प्राण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदारं, मन पवन दोंऊ हस्ती घोड़ा,
गिनान ते अषै भडार ।। 29 ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदार ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 30 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसै, दसवां लष्यां न जाई ।। 31 ।।
अठारह भार कोट कठंजरा लाइलै, बहत्तर कोठड़ी निपाई ।
नव सत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब कायागढ़ लिया न जाई ।। 32 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ गरदनि मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 33 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमा भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 34 ।।

विशेष : 28 से 34 पदों का अर्थ पृष्ठ 175-176 पर देखना चाहिए ।

इति श्रीग्यांन चौतीसा पठंते गुणंते करंते पापे न लिपयते ।
पुंने न हारंते ऊँ नमो सिवाइ ऊँ नमो सिवाइ ।
गुरू मछिंन्द्रनाथ पादुका नमोऽस्तु ते ।

अष्ट चक्र

ऊँ गोरष देव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर । ये कौंण कौंण बोलिये । अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिए गुदा अस्थांने, चत्र दल कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अस्थांने षट दल कंवल षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि मणिपुर चक्र, नाभि अस्थांने, दस दल कंवल, षट सै सांस । तिस चक्र ऊपरि अनहद चक्र, हिरदा सथांने द्वादस कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि विसुध चक्र, कंठ सथांने षोडस कंवल, एक सहंसर सांस, अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि अगनि चक्र, नेत्र सथांने षोडस दल कंवल एक सहस्र सांस अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि गिनांन चक्र ब्रह्मण्ड सथांने एक सहंस्र दल कंवल एक सहंस्र सांस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन।

तिस चक्रऊपरि सुक्षिम चक्र, बिग्यांन सथांने एक बीस सहस्र दल कंवल । ए अष्ट कमल का जांणौ भेव । आपै करता आपै देव ।

इती अष्ट चक्र कथंत जती गोरषनाथ संपूर्ण

ग्यांन तिलक

ऊँ सबदहि ताला सबदहि कूची सबदहि सबद भया उजियाला ।
कांटा सेती कांटा षूटै कूंची सेती तला ।।
सिध मिलै तो साधक निपजै, जब घटि होय उजाला ।। । ।।
अलख-पुरूष मेरी दृष्टि समाना, सो सा गया अपूठा ।
जब लग पुरूषा तन मन नहीं निपजै, कथै बदै सब झूठा ।। 2 ।।
सहज सुभाव मेरी तृष्ना फीटी, सींगी नाद संगि मेला ।
यंम्रत पीया विषै रस टारया गुर गारड़ौ अकेला ।। 3 ।।

ऊँस्वरूप परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर अपनी निजाशक्ति में, इच्छाशक्ति में अप्रकट है, उसके प्राकट्य का अनुभव गुरू के उपदेशामृत (शब्द) से होता है, जिस तरह ताला खोलने में कुंजी की आवश्यकता है, बिना उसके वह खुल नहीं पाता, इसी तरह शब्द ब्रह्म का बोध गुरू के शब्द अथवा उपदेशामृत से ही होता है । यह निर्विवाद और सहज सामान्य तथ्य है कि काँटे से ही काँटा निकलता है, इसी तरह इसमें तनिक भी संशय नही है कि शब्द ब्रह्मरूपी ताले का रहस्यभेदन गुरूशब्दरूपी कुंजी, उपदेश से होता है । योगसिद्ध गुरू की प्राप्ति होने पर ही योगमार्ग पर चलनेवाले साधक साधना में लगते हैं और इसकी कसौटी यह है कि गुरू के उपदेश से साधक के शरीर के भीतर आत्मज्ञान प्रकाशित हो उठता है । जब मुझे गुरू की कृपा से पता चल गया कि परब्रह्म परमेश्वर अलख-निरंजन परम पुरष परमात्मा मेरे तन और मन में ही व्याप्त हैं, विद्यमान है तो परब्रह्म में मुझे निजस्वरूप की अभिन्नता का ज्ञान हो गया, मैं उससे अभिन्न हो गया । मेरी ज्ञानदृष्टि में परब्रह्म समा गया और मुझे अपने निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान हो गया । जब तक साधक के आत्मदर्शन के स्तर पर स्वसंवेद्य परमात्मा की

व्यापकता नहीं प्रकाशित होती, तब तक कोरा आत्मज्ञान कथन बकवाद मात्र है, मेरी तृष्णा-विषयभोगासक्ति मिट गयी है और मैंने अनाहतनाद के (निष्पत्ति, सूक्ष्म शब्दलयावस्था में) सहज श्रवण के फलस्वरूप नाथपंथ की योगसाधना में सींगीनाद धारण कर लिया है, मैं अभय हो गया हूँ, मुझे गरूड़मंत्र के मर्मज्ञ, सिद्ध गुरूदेव ने माया अथवा कामना, तृष्णा (मनसा) के विषय-रसरूप विष से मुक्त कर सहस्रार से द्रवित अमृतरस का पान कराया है, अथवा गुरू के उपदेशामृत का पान करने से मुझ पर मायारूपी सर्पिणी का विष नहीं चढ़ सकता हैं, मैंने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अमृतब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है ।

सरंप मरै बांबी उठि नाचै, कर बिन डैरू बाजै ।
कहै नाथ जो यहि बिधि जीतै, पिंड पड़े तो सतगुर लाजै ।। 4 ।।
दरपन माहीं दरसन देष्या, नीर निरंतरि झांई ।
आपा माहीं आपा प्रगट्या, लखै तौ दूर जाई ।। 5 ।।
चकमक ठरकै अगनि झरै यूं, दध मथि घृत करि लीया ।
आपा माही आपा प्रगट्या, तब गुरू सन्देसा दीया ।। 6 ।।

'शरीर में कुण्डलिनी सर्पिणी उसी तरह सोती है, जिस तरह अपने बिल में सर्पिणी पड़ी रहती है । पर उसके मरते ही बिल में अभय का वातावरण छा जाता है, ठीक उसी तरह अविद्या-मायारूपिणी कुण्डलिनी के मरते ही (ज्ञानस्वरूप में प्रबुद्ध होते ही) सारे शरीर में नवजीवन का प्रकाश छा जाता है, रोम-रोम में नाड़ियों में प्राणसंजीवनी प्रवाहित हो उठती है, शरीर उठ कर नाचने लगता है - शरीर में आनन्द छा जाता है । अनाहतनाद का गर्जन होने लगता है, ऐसा लगता है कि बिना हाथ से ग्रहण किया गया डमरू ही किसी अदृश्य शक्ति से बज रहा है । इस तरह योगसंग्राम में अविद्या-सर्पिणी माया को मार कर जीवात्मा प्राणसाधना के द्वारा शरीर को योगाग्नि में पक्व कर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । यदि साधक के शरीर का पात हो जाता है तो यह स्पष्ट है कि उसने गुरूज्ञान की उपेक्षा और अवहेलना कर साधना के नाम पर अहंकार का पोषण ही किया । शरीर निस्संदेह अमर हो जाता है । दर्पण में जो रूप या प्रतिबिम्बि देखा जाता है, वह देखने वाले की ही आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, स्थूलाकृति है, इसी तरह आत्मा

में शाश्वतचैतन्यघन परमात्मा व्याप्त हैं, उसकी अभिव्यक्ति ज्ञानेन्द्रिय और मन में नहीं हो सकती है । चेतन में ही चेतन की अभिव्यक्ति-स्वरूप अभिव्यक्ति है । जिसे स्वरूपबोध हो जाता है, जिसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, वह फिर अन्यत्र भटकनेवाला भिन्नरूप ही नहीं रह जाता है । जिस तरह चकमक पत्थर में रगड़ लगने से अग्नि-स्फुलिंग का प्राकट्य होता है, उस स्फुलिंग और अग्नि में भेद नहीं है, उसी तरह आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं है, दधि मथ कर घृत निकाला जाता है, दधि और घृत, दोनों दूध ही हैं । अभिन्न हैं, पर घृत निकालने का साधन किया जाता है, इसी तरह आत्मा में परमात्मा का प्राकट्य होता है, पर ऐसा गुरू-ज्ञानामृत से ही समभव है ।

सुरति गहौ संसै जिनि लागौ, पूंजी हांन न होई ।
एक तत सूं एता निपजै, टारया, टरै न सोई ।। 7 ।।
निहिचा ह्वै तो तेरा निपजै, भया भरोसा नेरा ।
परचा ह्वै तौ ततषिन निपजै, नहीं तर सहज न बेरा ।। 8 ।।
जे लूट्या जिनि षबरि न पाई, कसि करि यंद्री डांडी ।
तन मन की कछु षबरि न पाई, सुरति बिगोया रांडी ।। 9 ।।
बिंद और भगबाघणि औरै, बिन दांता जग षाया ।
प्रांण पुरूष का मर्म न पाया, छोड़ि बिगूते माया ।। 10 ।।

परमात्मा अव्यय, सनातन और अनन्त है, सदा उसके स्मरण और ध्यान में चित्त को लगाये रखना चाहिए । बुद्धि को संशय-अज्ञान और भ्रम में नहीं डालना चाहिए । आत्मा ऐसी पूंजी है, जिसका कभी क्षय नहीं होता है, यह अक्षय है, इस परमात्मतत्व के निश्चय, सनातन में समग्र विश्वास से स्वरूप-बोध की प्राप्ति होती है, निश्चय साधना-सिद्धि का परम-फल है, इस परमात्मतत्व में परिचय अथवा साक्षात्कार का तात्कालिक तत्क्षण फल है,परमात्मा में निर्द्धन्द्वता पूर्वक जीवात्मा की संस्थिति-अभिन्नता । यदि माया इसमें बन्धनकारिणी बनती है, जीवात्मा विषय-प्रपंच में लिप्त होकर आत्मविस्मरण करता है तो उसका सहज परमात्मसम्बन्ध से भिन्नत्व स्थापित होता है, वह सहज स्वरूपस्थिति तक नहीं पहुँच पाता है, भटक जाता है, अक्षय परमात्म धन नहीं मिलता । माया के द्वारा जो जीवात्मा परमात्मज्ञान से विमुख कर दिया

जाता है, विषय-भोग में अज्ञानपूर्वक बाँध दिया जाता है, उसे पता ही नहीं रहता है कि इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों की तृप्ति से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । उसका शरीर भोग-तृप्ति और काम-वासना की पूर्ति में निरन्तर क्षीण होता रहता है और मन चंचल रहता है, चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध नहीं हो पाती । वह योगमार्ग से विमुख होकर माया के चक्कर में पड़ कर अपनी आध्यात्मिक निधि खो देता है । (हठ) योग की साधना का आधार है वीर्य की रक्षा, शरीर में वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर उसे महारस में परिणत कर देने से दुर्लभ अमृतपान का योगी अवसर प्राप्त करता है । बिन्दु अमूल्य है, रत्न है, पर वह भगमुखी (स्त्री के आलिंगन परिरम्भण में पुरूष की कामवासना की तृप्ति का आधार) बन जाता है, स्त्री का भग बाघिन से भी भयानक रूपवाला है, बाघिन तो दाँत से चबा कर अपने शिकार को खाती हैं, पर भग तो बिना दाँत के ही पुरूष का सर्वनाश कर देता है । वह कामुकता में प्रवृत्त होकर अपना पुरूषतत्व नष्ट कर देता है और मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसे कामुक को प्राण-पुरूष (अन्तर्यामी परब्रह्म) के रहस्य, तत्व का ज्ञान नहीं होता है, वह माया के द्वारा विनष्ट हो जाता है ।

सौंट्यौ लाकड़ि ज्यूं घुण लागै, लोहै लागै काई ।
बिन परतीति कहा गुरू कीजै, काल जग्रास्यां जाई ।। ।। ।।
रांडी तज्यां न षसिया जीवै, पुरूष तज्यां नहीं नारी ।
कहै नाथ ये दोनयूं बिनसे, धोषा की असवारी ।। ।2 ।।
बैसन्दरमुषि ब्रह्म जो होते, सुद्र पढ़ाऊँ बानी ।
असंभेद बिधि ब्रह्म जग निपजां, नै जुगति जमाया पांनी ।। ।3 ।।
तौ जुग रांड्या जोगेस्वर ब्याह्या, सिवसकती सूं फेरा ।
जा पद मिंदर पुरूष बिलंव्या, वहि मिंदर घर मेरा ।। ।4 ।।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी को घुन खा जाते हैं और उपेक्षित लोहे में जंग लग जाती है उसी तरह आस्था हीन शिष्य को काल खा जाता है, गुरू उसकी रक्षा नहीं कर सकता । स्त्री के रूपजाल से पुरूष अपने-आप को नही मुक्त कर सकता है । इसी तरह स्त्री भी बिना पुरूष से अपनी कामाग्नि को शीतल किये अथवा तृप्त किये रह नहीं सकती । इस तरह एक-दूसरे के संग में रहकर पुरूष और स्त्री, दोनों-के-दोनों धोखे में हैं और दोनों एक-दूसरे

से आकृष्ट होकर अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते हैं । जो योगाग्नि में अपने प्राण (ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा को उपनिषदों में प्राण कहा गया है) का हवन कर दे अथवा शरीर में योगाग्नि प्रकाशित कर ब्रह्म की उपासना, करे, वही सद्शिष्य है । चाहे ऐसा शिष्य शूद्रवर्ण का भी क्यों न हो । ऐसे शिष्य का जीवन यद्यपि एक यज्ञ है तथापि योगाग्नि में जीवन को परिशुद्ध करने का उसका संकल्प साक्षात् महापुण्यस्वरूप अश्वमेघ यज्ञ है, जिसके लिए वीर्य (महारस) को ऊर्ध्वगामी कर अमृत में रूपान्तरित कर दिया जाता है । माया ने (स्त्री के प्रति आकर्षण ने) साक्षात् महादेव को भी, काम को जलाकर छार कर देने वाले को भी, प्रभावित कर दिया, शिव ने महामाया स्वरूपिणी जगदीश्वरी उमा का पाणिग्रहण किया । परमपद, ब्रह्मरन्ध्ररूपी मन्दिर के इष्टदेव परमशिव भी माया से विमुग्ध होकर अपने निष्कल रूप से सकल-साकार रूप में अभिव्यक्त हो गये पर उसी ब्रह्मरन्ध्र में मैं निष्कल, अकुल शिव का साक्षात्कार कर अलख-निरंजन ब्रह्म में समा गया, अभेद हो गया । स्त्री के रूपजाल में मैं आसक्त नहीं हो सका ।

या रहनी मैं घर बासा, जोग जुगति करि पाया । घर
सिव समाधि पंच घर मेला, गोरष तहां समाया ।। ।5 ।।
हाली भीतरि षैंत निदांणै, बगु मैं ताल समाई ।
बरषै मोर कुहूकै सावण, नदी अपूठी आई ।। ।6 ।।
गऊ पद मांही पहौकर फकदै, दादर भर्य्य झिलारे ।
चात्रिग मैं चौंरासी बोलै, ऐसा समा हमारे ।। ।7 ।।
आसा तृष्णां थिर ह्वै बैठी, पद परचैसुष पाया ।
सुकै तरवर कूंपल मेल्ही, यहि बिधि निपजी काया ।। ।8 ।।

मैंने स्त्री रहित (मायारहित) रहनी से योग की साधना के द्वारा वास्तविक घर-ब्रह्मरन्ध्र की प्राप्ति कर ली । पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ भी स्त्री द्वारा काम-तृप्ति की प्राप्ति की दिशा में सहायता कर योग-प्राप्ति के मार्ग में शत्रु के समान हो जाती है, मैंने उनकी शक्ति का ब्रह्म-प्राप्ति में उपयोग किया है, वह ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो गयी, मेरी बाह्यवृत्ति समाप्त हो गयी और मैं अलख-निरंजन परमशिव से अभिन्न हो उठा । जीवात्मारूपी किसान सदा अपने शरीररूपी खेत की खर-पतवार, घास आदि नष्ट कर रक्षा करता है ।

जिस तरह किसान (हलवाला - हाली) खेत को निराता है और उसमें फसल लहलहा उठती है, ठीक इसी तरह सावधान योगसाधक षट्कर्म, आसन-प्राणायाम और मुद्राबन्ध आदि से शरीर के दोष दूर करता है और इस तरह अपने भीतर आध्यात्मिक जीवन लहलहा उठता है । यह मन बगुला है, यह किसी भी समय साधक की सात्विक वृत्ति को उसी तरह नष्ट कर देता है, किन्तु योग साधना के पश्चात् मन का आधार ही समाप्त हो गया, मानो सारा तालाब ही बगुले में समा गया हो । सारी बातें अन्तर्मुखी और विपरीत हो गयी । सामान्य रूप से मायारूप से मायारूप सावन बरसता है और मन-मयूर आनन्द-मग्न होकर नृत्य करता है पर अन्तर्मुखी वृत्ति होने से मन साक्षात् ब्रह्मामृत स्वरूप हो गया और माया उलटे (अपूठा) परब्रह्मस्वरूपिणी हो गयी, शिवमयी हो गई । जिस तरह गोपद में पुष्कर (पोहकर) जलाशय समा जाता है, स्पन्दित हो उठता है, उसी तरह योगसाधक का स्थूल (बाह्य) अस्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है, सूक्ष्म होकर परमशिव में आकारित हो उठता है । उस सूक्ष्म जीवन में- अमृत स्वरूप अस्तित्व में सूक्ष्म मन, शिवस्वरूप उन्मनी अवस्था में बिलीन मन जो दादुर-मेढक और भर्रय-बर्हि (मोर) के समान है, आनन्दमग्न हो उठता है । इस चौमासे (पावन ऋतु अथवा योगसिद्धि की अवस्था) में आत्मारूपी चातक स्वातिधनस्वरूप प्राणेश्वर परमात्मा के अभिमुख हो उठता है, साक्षात् शिव हो उठता है । इस तरह की रमणीय छवि (दृश्य) उपस्थित हो उठती है । आशा तृष्णा की अस्थिरता समाप्त हो जाती है । साधक का जीवन ब्रह्मानन्दस्वरूप अमृत से परिपूर्ण हो उठता है । माया का वृक्ष सूख जाता है, आध्यात्मिकता की कोपलें निकल पड़ती हैं, काया की सार्थकता प्रगट हो जाती है, शरीर के भीतर परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

पूरब देस पछाहीं घाटी, (जनम) लिष्या हमारा जोगं ।
गुरू-हमारा नांवगर कहीए, भेटै भरम विरोगं ।। 19 ।।
नव ग्रहमारि अगनि मुषि झौक्या, दुदरहि लग्या डोरी ।
परम पुरूष पिंजरि बिलंब्या, भई अगम गति मोरी ।। 20 ।।
अकथ कथ्या अन अष्षिर बांच्यां, अगम गवन करि लीया ।
हंस-बिलंव्या बूंद न ढ़लकै, वहि सरवर बंध दीया ।। 21 ।।

बोलै नाथ गगन घर बासा, अंतरि बसीया जाई ।
परम पुरस मेरै कागद मांड्या, दिन दिन कला सवाई ।। 22 ।।

हमारे पिण्ड के भीतर प्राण ही हमारा (चेतन आत्मारूपी योगी गोरखनाथ का) पूर्वदेश है, (शाश्वत चैतन्य आत्मा का), निवास स्थान है और मेरूदण्ड में स्थित सुषुम्ना नाड़ी (पछाहीं घाटी) ही हमारे आने जाने का मार्ग है । (इसी में प्राणहंस आता है, जाता है) हमारे भाग्य में (विधाता ने) योग लिखा है । संसार-सागर से पार उतारने के लिये हमें सद्गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) के रूप में एक अनुभवी नाविक की प्राप्ति हो गयी है । उन्होंने हमारे अज्ञानजन्य भ्रम-रोग का नाश कर दिया है, गुरू के ज्ञान-प्रकाश में मुझे इस बात का पता चल गया है कि मेरे अमृतस्वरूप जीवन पर क्रूर और अनुकूल दोनों प्रकार के (नवों) ग्रहों की चाल का लेश मात्र प्रभाव भी नहीं है । माया से उत्पन्न द्वन्द्वों का भी पता लग गया है, मुझे इन्द्रिजन्य विषय भोगों में पूरी-पूरी उपरति हो गयी है । मेरा प्राणहंस मेरे शरीर में स्थित हो गया है और मुझे अलख-निरंजन की स्वरूपानुभूति हो गयी है । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी है । इस तरह अगम-अपार परमगति, मुक्ति में मैं स्वस्थ हूँ । ब्रह्मप्राप्ति का वर्णन शब्दसापेक्ष नहीं है, नाद (शब्द) से भी परे अलख-निरंजन के स्वरूप का मुझे बोध मिल गया है, यह स्वसंवेद्य बोध है, मैंने गुरू के अनुग्रह से ज्ञानोदय के प्रकाश में इस अकथ, शब्दातीत रहस्य को पढ़ लिया है, बाँच लिया है । इस अकथ परमात्मपद में परब्रह्मस्वरूप में मेरा प्राणःहंस स्वस्थ हो गया है । मेरे शरीर में महारस (वीर्य) का एक कण भी क्षरित नहीं हो पाया, वीर्यरस अमृत में परिणत हो गया है, मैं पूर्ण ब्रह्मचर्यपद में प्रतिष्ठित होकर अलख-निरंजन ब्रह्मस्वरूप हो गया । गोरखनाथ का वचन है कि गगनरूप-आकाशचक्ररूप घर में अथवा ब्रह्मरन्ध्र में हमने शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है, ब्रह्मरन्ध्र में ही हमारा निवास है । परमपुरूष-शब्दातीत अलख-निरंजन ब्रह्म ही मेरी भाग्य-लिपि है, जन्मपत्र है, जिससे मेरी शक्ति निरन्तर बढ़ती चली जा रही है, मुझे आत्मस्वरूपबोध हो गया है ।

ऐसे रमहुँ जैसे नष सिष भेदै, संक्या सरीर न लूटै ।
चलत फिरत पद माहिं समावै, जांमण मरण न छूटै ।। 23 ।।

मरि मरि जाय सुसंसा मांही, तन का मरम न पाया ।
समझया होय तो पदपंथ औरै खोषै जनम गमाया ।। 24 ।।
या पद की कठिन है करनी, केवल-मतापुरूष की रहनी (सोई) ।
या रहनी तैं पारस निपजै लोहा कंचन पद भेट्यां पद होई ।। 25 ।।
नींझरनीर अगनि मुषि बरषै, सींचै बाग हमारा ।
या रहनी तैं पैंकंबर निपजै, तिसिया मरै संसारा ।। 26 ।।

(पूर्ण योगसिद्धि तो यही है कि) साधक को अलख निरंजन की स्वरूपानुभूति में इस तरह रमण करना चाहिए, लीन रहना चाहिए कि नखशिख पर्यन्त पूरे शरीर के भीतर ब्रह्मानुभूति-ही-ब्रह्मानुभूति व्याप्त हो गयी है । शरीर पर माया का तनिक भी प्रभाव न रह जाय, सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, निरन्तर ही ब्रह्मानुभूति में चित तल्लीन हो जाय और जन्म-मरण का भय छूट जाय, जीवन्मुक्ति मिल जाय । यही कैवल्यपद की प्राप्ति कही गयी है । संशय का अन्त कर देने से ही सद्ज्ञान के द्वारा शरीर के भीतर परमात्मा का (ब्रह्मरन्ध्र में) साक्षात्कार होता है, शरीर योगसिद्धि का महान् साधन है । जो इस बात को नहीं समझता है, वह संशय और अज्ञानजनित भ्रम के द्वारा आत्मज्ञान नष्ट कर देता है । कैवल्यपद की प्राप्ति के लिये साधना में निरन्तर लगे रहने वाले साधक की करनी (अभ्यास) अत्यन्त कठिन और श्रमसाध्य है । इस रहनी-कैवल्यपदप्राप्ति में, तल्लीनता में, अलखनिरंजन परमात्मरूपस्पर्शमणि (पारसमणि) की प्राप्ति होती है । इस पारसमणि से शरीररूप लोहा-मरणशील जीवन अमृतत्वरूपी स्वर्ण में परिणत हो जाता है । (आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि के द्वारा कुण्डलिनी जागरण और वीर्यरस के ऊर्ध्वीकरण से सहस्रार में निरन्तर (चन्द्रमा का) अमृत बरसता रहता है । चन्द्रमा का अमृत सोलह कला से पूर्ण है, सूर्य का अग्नि तेज (विष) बारह कलावाला है, साधक इस अमृत (शेष चार कलावाले पोषकरस) का सूर्यमुख से वंचन कर स्वयं पीता है, इससे सारे शरीर में चेतनता प्रवाहित रहती है । यह शरीर एक उपवन है, हरा-भरा बाग है । यह इस अमृत से सदा पालित-पोषित अथवा सजीव रहता है । ब्रह्मानुभूति के फलस्वरूप योगसिद्ध पुरूष पैदा होते हैं, और उनके उपदेशामृत और अनुभवामृत से असंख्य लोग योगमार्ग में प्रवृत्त होकर जीवन में परमानन्द का रसास्वादन करते हैं ।

ब्रह्मानुभूति से सांसारिकता का नाश होता है, अविद्यारूपिणी माया मर जाती है।

यंद्र मिल्या तै धरती निंपजै, यंद्री वरषै देही ।
गुरू हमारा बांनी बोली, माणिक चुगि चुगि लेही ।। 27 ।।
पाथर मैं पारस अबिनासी, ज्यूं अस्ट धात मैं सोना ।
यूं सब जग माँहि समझि अबिनासी, ताघटि पाप न पूनां ।। 28 ।।
बहती नदी भाव भरि थांभी, सूरिज देषि पछांही ।
दुलभ देवल मन अगोचर, ता बेल्यां फल षाँही ।। 29 ।।
नव लख किरणि अपूठी प्रकटी, कोटि किरणि मुषि आगै ।
कहै नाथ धरम का पैंडा, संसै बूंद न लागै ।। 30 ।।

जलवृष्टि का देवता इन्द्र है । इन्द्र पानी बरसाता है, तब धरती में (अन्नादि की) उपज होती है, इसी तरह हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जब अन्तर्मुखी हो उठती हैं, तब देह में आत्मज्ञान उत्पन्न होता है । हमारे गुरू का उपदेशा मृत है कि ऐसा होने पर साधक अपने शरीर में ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है । जिस तरह पत्थर में पारस (स्पर्शमणि की) सूक्ष्मसत्ता-शक्ति अन्तर्हित रहती है, जिस तरह आठों धातु (अष्टधातु) में स्वर्ण विद्यमान रहता है, उसी तरह हमारे शरीर में अविनाशी परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप में विद्यमान है । जो साधक शरीर में ही अविनाशी परब्रह्म का अनुभव कर लेता है, वह साक्षात् ब्रह्मरूप होता है, उसके कर्म पाप-पुण्य के परे हो जाते हैं । प्राण-अपान का संयोग अथवा मेल हो गया है । मुद्राबन्ध और प्राण-साधना के परिणामस्वरूप कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर नाभिस्थित सूर्य सुषुम्ना, पश्चिममार्ग से सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिये ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार से अमृतलोक में पहुँच गया है । ऐसी स्थिति में बहिर्मुख मनोवृत्ति रूप नदियाँ स्तम्भित हो गयी हैं अथवा निरूद्ध हो गयी हैं, साधक की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी हैं । अमरकायत्व की प्राप्ति हो गयी है तथा मन अलख-निरंजन परब्रह्मस्वरूप हो गया है, अविद्या, अन्धकारमयीमाया विलुप्त हो गयी और ज्ञानप्रकाश फैल गया है, विद्यास्वरूपिणी मायावेलि का अमृतफल-

योगसिद्धिपद योगी को प्राप्त हो गया है । योगमार्ग पर जीवन को सार्थक करना ही धर्ममार्ग का आश्रय है, इस मार्ग पर चलने से साधक को अपने शरीर के भीतर अलखनिरंजन स्वरूप का बोध हो जाता है । उसके मन में तनिक भी संशय नहीं रह जाता है, वह आत्मविवेक से सम्पन्न होकर शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उसे आगे-पीछे, भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर सर्वत्र परमात्मज्योति प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त दीख पड़ती है, उसके ज्ञाननेत्र में प्रकट हो जाती है । (अपूठी में अशब्द निरर्थक है, पूठी का अभिप्राय है पीठ पीछे) इस तरह आगे-पीछे नौ लाख-असंख्य किरणें, परमात्मज्योति की आभायें प्रकट हो जाती हैं । गोरखनाथ का वचन है कि परब्रह्मप्रकाश में जीवात्मा का तादात्म्य ही योगपथ का स्वारस्य अथवा परमलाभ है ।

गिरही कै घरि जनम हमारा, संगति सुरति दिढांणी ।
कहै नाथ जीव ब्रह्म एकै, जब सिव घरि सक्ति समांणी ।। 31 ।।
अनहदधुनि मैं रहनि हमारी, तत्तदेखि मन लागा ।
आपा मांही आपा प्रकट्या, जब जाय धोषा भागा ।। 32 ।।
जे नर जोनि अजोनी सिंभू, सिध पुरिष सूं मेला ।
जा रहनी मैं थान हमारा, ता घटि पुरिष अकेला ।। 33 ।।
उरधै भरे सो थिर ह्वै पीवै, सूधै घटि संवारी ।
अंधै लोचन सब जग सूझै, सालिम सब अंधियारी ।। 34 ।।
तूंबी मैं तिरलोक समाणा, तिरबेणी रवि चंदा ।
बूझौ हो कोइ ब्रह्म गियानी, अनहदनाद अभंगा ।। 35 ।।

हमारा जन्म तो गृहस्थ के घर हुआ, पर हमें सौभाग्य से सत्पुरूषों के संग में रहकर महायोगज्ञान (सुरति) प्राप्ति करने का अवसर मिला । गोरखनाथ का कथन है कि जब मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग कर सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुखी होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, तब शिव में वह अभिन्न अथवा स्वरूपस्थ हो उठती है, शिव अलख-निरंजन परमात्मा का यही जीवात्मा से साक्षात्कार अथवा तादात्म्य है । शिव और शक्ति के मिल जाने पर मैं अनाहतनाद में स्थित हो गया हूँ, नाद की अन्तिम अवस्था (निष्पत्ति) में मुझे ऊँकारब्रह्म अलखनिरंजन शिव का साक्षात्कार हो गया है तथा मुझे अपने

शिवस्वरूप का (परमात्मतत्व का) बोध हो गया है, जब मुझे आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा की तद्रूपता अथवा स्वरूप का पता चला, तब कहीं मायाजन्य अविद्यास्वरूप अहंकारमय अज्ञान-अन्धकार अथवा भ्रम नष्ट हो पाया । इस नर-योनि, दुर्लभ मनुष्य-शरीर में अज, अविनाशी अयोनि, परब्रह्म अलख-निरंजन का निवास है, सिद्धपुरुषों-महायोगियों के सत्संग से ही इस अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । इसी तरह के परमात्मसाक्षात्कार में हम अन्तलीन हैं । जो सिद्ध पुरुष के सत्संग और उपदेशामृत से योगज्ञान-प्रकाश में स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है निस्सन्देह उसके (ब्रह्मरन्ध्र में) भीतर परब्रह्म अलख निरंजन (केवल-मुक्तिस्वरूप, निराकार ब्रह्म) अभिव्यक्त हो उठता है ऐसा योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान कर अमरकायत्व लाभ करता है । (यही पाताल की गंगा को आकाश में चढ़ाना कहा जाता है ।) जो साधक घड़ा को सीधा रखता है, वह अमृत-पान नहीं कर पाता है, स्वारस्य तो औंधे घड़े में ही अमृत भरने का है । यह बाह्य नेत्र को देखने का विषय नहीं है, ज्ञाननेत्र से ही इस परम सत्य का अनुभव होता है, जो बाह्य आँख से ही-बाह्यवृत्ति से ही अन्तर्मुखता का आनन्द लेना चाहता है उसके लिए चारों ओर पूरा अन्धकार है, उसे स्वरूपानुभव का प्रकाश-दर्शन नहीं हो सकता है । इस शरीर में – पिण्ड में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्यमान है, समाया हुआ है । जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है । इसी शरीर में इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) और सुषुम्ना (सरस्वती) नाड़ियाँ बहती हैं, जिनका आज्ञाचक्र में – भ्रूमध्य में त्रिवेणीरूप संगम हुआ है । सूर्य (नाभिस्थानीय अग्नितेज) और चन्द्रमा (सहस्रार-स्थानीय अमृतत्व) इसी शरीर के भीतर प्रकाशित हैं । ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर अनाहतनाद अपनी अन्तिम लयावस्था-निष्पत्ति में हो रहा है । उसमें परब्रह्म की अनुभूति योगी कर रहा है । ब्रह्मज्ञानी को योग-प्रतिपादित इस द्वैताद्वैतविवर्जित महाज्ञान-अलख-निरंजन के बोध का मर्म समझना चाहिए ।

आवागवण भरम का मारग पुरषां पंथ बताया ।
सबद अतीत अनाहत बोलै, अतरि गीत समाया ।। 36 ।।
बिमल पंथ बीजल ज्यूं चमकै, घुरहरती घन गाजै ।
तो रहनी मैं जोगी का घर, अनहद बाजा बाजै ।। 37 ।।

जा पद मिंदर धजा फरहरै, मढी सवारे चेला ।
कोटि कला जहाँ अनाहद बांणी, गावैं पुरिष अकेला ।। 38 ।।
नौ लष पातरि आगैं नाचैं, पीछैं सहज अषाणां ।
ऐसे मन लै जोगी षेलै, तब अंतरि बसे भंडारा ।। 39 ।।
ग्यांन कहै तो त्रिस्ना हारै, सूरज देषि पछांही ।
सतगुरू मिलै तो सांसा भागै, मूल बिचार्या मांही ।। 40 ।।

योग मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए गोरक्षनाथ कहते हैं । योगमार्ग स्वसंवेद्य अनुभव का अन्तर्मुखी साधना-पथ हैं । वह बाह्यसाधना-मार्ग है ही नहीं, जिस पर चलने से जन्म-मरण के दुःख से, आवागमन के चक्र से मुक्ति नहीं मिलती है । सिद्ध पुरुष अनाहत नाद की लयावस्था के ाधुर्य में निष्पन्न अथवा निमग्न होकर शब्दातीत स्वसंवेद्य कैवल्यपद में स्थित ा गये हैं, उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित सिद्धामृत सिद्धान्त का वरण कर योगसाधना के द्वारा भवसागर से पार उतर कर योगसाधक को जन्म-मरण के ःख से मुक्त हो जाना चाहिए । यह मार्ग अथवा शिवशक्ति का ालन-स्थान, ब्रह्मरन्ध्र परमात्मज्योति से बिजुली की तरह प्रकाशित है, इस ार्ग में बादल घहरा रहा है, बिजुली चमक रही है, अनाहदनाद हो रहा है, ी ब्रह्मरन्ध्र में योगी निवास करता है, और अपने अमृत-स्वरूप में, ...रूप में प्रतिष्ठित रहता है । ध्वजायुक्त मन्दिर के समान कैवल्यपद ...ान अथवा ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान है । हे शिष्य, उसी कैवल्यपद को पना निवास-स्थान अथवा योगमठ बनाना चाहिए ! उस परमपद में अपनी रोड़ों-करोड़ों (असंख्य) कलाओं अथवा शक्तियों सहित ऊंकारस्वरूप परब्रह्म नाहतनाद में अभिव्यक्त है, यह अनाहतनाद का गान करता है, जो शब्दातीत और स्वसंवेद्य अथवा अनुभवगम्य है । योगी द्वन्द्वात्मक संक्षोभ से परे होता है, उसे न विषय-भोग व्यामोहित कर सकते हैं, न साधन-सम्बन्धी सिद्धियों और तप, त्याग और वैराग्य की साधना मात्र में ही वह अपने लक्ष्य को भूल सकता है । चाहे असंख्य वारागनायें नृत्य करती हों, राग-रंग आदि अनेक मनोरंजन हों, चाहे-ज्ञान-वैराग्य का अखाड़ा हो, वह इनमें से किसी में भी अपनी बुद्धि भ्रमित नहीं होने देता है, इस तरह की अमनस्कस्थिति में रहने वाले योगी की भीतरी अन्तर्मुखी साधन-सम्पत्ति सदा सुरक्षित रहती है । नाभिस्थित सूर्य का

सुषुम्ना-मार्ग से (पश्चिम मार्ग से) सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिए ऊर्ध्वगमन होने पर योगसाधक में अन्तर्मुखी वृत्तियों के द्वारा आत्मज्ञान (परमात्मविवेक) उदित होता है, इनसे विषयभोगों की तृप्ति की कामना, तृष्णा नष्ट हो जाती है । इसी तरह महायोग-ज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु की शरणागति से योगी अपने हृदय में मूलतत्व-अलख-निरंजन के स्वरूप का संचार करता है और इसके परिणामस्वरूप उसका संशय (व्यामोह) नष्ट हो जाता है ।

अंजन माहि निरंजन भेट्या, तिल मुष भेट्या तेलं ।
मूरति माँहि अमूरति परस्यां, भरा निरंतरि षैलं ।। 41 ।।
जहां नहीं तहां सब कछु देष्या, कह्यां न को पतिआई ।
दुविधा भाव तबै ही गइया, बिरलां पदां:समाई ।। 42 ।।
दिषणि हमारी डीबी पाकै, अगनि बलै मुलतानं ।
ऐसे हम जोगेस्वर निपनां, प्रगट्या पद निरबानं ।। 43 ।।
बाफ न निकसै बूंद न ढलकै सहज अंगीठी भरिभरि रांधै ।
सिध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरू परचै सांधै ।। 44 ।।
धीरजि थंभि ज डोरि धुनि समानां, असमानं ।
अटल दुलीचा अषै पद, जहां गोरष का दीवानं ।। 45 ।।

जिस तरह तिल पेरने से तेल की प्राप्ति हो जाती है, उसी तरह अंजन में योग ज्ञान के प्रकाश में मैंने निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है मैंने साकार में निराकार का - मूर्ति में अमूर्त परमात्मा का स्पर्श (अनुभव) कर लिया है । यह निगूढ़ (निरंतरि-मायाव्यतिरिक्त) लीला सनातन है, सच्चिदानन्दघन अलखब्रह्म ही सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । मैंने शून्य में, जिसे 'नहीं' कहा गया है, अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्मअलख-निरंजन का दर्शन किया है, मैंने आकाशचक्र ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव का स्वरूपानुभव किया है । शून्यस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार ही कैवल्य (विरला) पद की प्राप्ति है, उसमें समाकर, तादात्म्य लाभ कर मेरा द्वैतभाव मिट गया, मुझे परमशिव में और अपने आप (आत्मस्वरूप) में भेद का लेश मात्र भी भाव नहीं रह गया है, मूलाधारचक्र (दक्षिण) में हमारी कुण्डलिनी शक्ति (डीबी) योगाग्नि से पक रही है, ज्योतिर्मय रूप में सुषुम्नामार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती जा रही है और यह योगाग्नि उत्तर दिशा (मुलतान) में ब्रह्मरन्ध्र में जल रही है, चन्द्रमा से

सूर्य का मेल हो गया है और हमें निर्वाण (कैवल्यपद) की प्राप्ति हो गयी है। इस तरह योगाग्नि में अपनी शक्ति सिद्धकर युक्त कर हम योगेश्वर पद-परमशिवस्वरूप में स्वस्थ हो गये। जिस तरह अंगीठी में आग प्रज्वलित कर सावधानी से भोजन सिद्ध किया जाता है और इस बात पर विस्तार दृष्टि रखी जाती है कि भोजन पात्र में से न भाप निकले और न जल की बूंद गिरे जिससे अंगीठी की आग बुझ जाय अथवा नष्ट हो जाय, ठीक उसी तरह सहज योगाग्नि शरीररूपी अंगीठी में प्रज्वलित कर अधोगामी वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर महारस सहस्रार से द्रवित अमृत के रूप में योगसाधक सिद्ध करता है। यदि वीर्य का एक भी कण क्षरित होकर शरीर से बाहर निकल जाता है तो यह साक्षात् मृत्यु है। योगसाधक इस बात की सावधानी रखता है कि उसका मन मद, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि से क्षुब्ध न होने पाये, ऐसी दूषित भावनायें चित्त में विकार न उत्पन्न करें। ऐसा होने पर ही योगसाधक उन्मनी समाधि में सहज स्थित होने पर गुरुज्ञान में सन्निष्ठ होता है। संयम और साधना में धैर्य तथा तल्लीनता (श्रद्धा) अथवा लगन ही से सिद्धिप्रद, शून्य निरालम्ब ब्रह्मरन्ध्ररूपी आसमान यथास्थित है अन्यथा योगसाधक साधना के सोपानों से उस पर पहुंच ही नहीं सकता है। यह आसमान अथवा शून्यपद गलीचा है, जिसपर गोरखनाथ का दीवान (दरबार) लगता है, इस निरालम्ब शून्य आकाशपद-ब्रह्मरन्ध्र में ही योग की परमसिद्धि अलख-निरंजन के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अनुभूति होती है।

इति ग्यानतिलक

पंच अग्नि

मूल अगनि (...) ।सोषि लेहा रक्त पीत अर आंव
पेट पूठ दोऊ समा रहै। तौ मूल अगनि जली गोरष कहै
भुयंगम अगनि भुयंगम मांस सजिबा भिछ्या (भोजन ग्रास)
मूल की मूल अमीरस (स्थिर)। तिसकूं कहिए सिधा पवनें का सरीर)।
ब्रह्म अगनि ब्रह्म माली धरि लेउ जाणि

उलटंत पवनां रवि ससि गिगन समांन ।
ब्रह्म अगनि मधे सोझिबा कपूर । तिस कूं देषि मन जायबा दूरं ।
सिव धारे सकति अहेनिस रहै । ब्रह्म अगनि जती गोरष कहै ।।
काल अगनि तीनि भवन प्रवांनी । उलटंत पवनां मोषंत पानी ।
षाया पीया षाष होय रहै । काल अगनि जती गोरष कहै ।।
रूद्र अगनि का त्राटिका नांम । सोषि लेव होठ कंठपेट पूठि नव ठांम ।
उलटंत कंस पलटंत चांम । तिसकू कहिये हो सिधो त्राटिका नांम ।।
रूद्र रेवंती संजम षिवंती । जोग जुगति करि साधंत जोगी ।
पंच अगनि भरि पूर रहै । सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।।
पूरिको पीवत वायु कुंभ को कोया सोधनं ।
रेचको तजतं विकार त्राटिको आवागवण बिबरजंत ।।
सिधका का मारग कोई साधू जांणै । पंच अगनि श्रीगोरषनाथ बषांणैं ।
पांचौं अगनि संपूरण भई अनंत सिधां मधे जती गोरष कही ।

इति श्री पंच अगनि पठंते सुणंते कुथंते करंते पापे नह लिपंते पुंने न हारंते । ऊँ नमो सिवाय ऊँ नमो सिवाय । गुरू मछंद्रनाथ के पादुका नमस्तुते ।

अभै मात्रा जोग

ऊँ अकल पंथ, अकलि का मारग, सतभोमि, सहजआसन, प्रांण जोगी पवन गुटिका, निज भुवन गुफा, संजम कोपीन, मरजादा मेषली, निहकेवुल जगौटा, जुगति उड़यांणी, साचमुद्रा, सीलकंथा, षिमां टोपी, जरनां अधारी, अंतरिगति झोली, धीरज डंड, बमेक फाहुड़ी, तप चक्र, मूल कमंडल, मन उदिक, महाअमृतभोजन, दया रहरासि, विचार पुसतक, जिम्यारसांयन, सरबंगी कला, विद्याकालबंचणी, नृपै नग्री, अकल बनषंड, निरास मढ़ी, अतीत देवता, गिनांन दीपक, अकलपरहनी, आजाचीक भिक्ष्या, सबद सींगी, अनहदकींगुरी, स्याम सरोवर, अमृत प्याला, निहंचल रिधी, सति करामाति, मुक्ति सिधि, अलेष ध्यांन, अटल समाधि, निराकर तरवर, जुग पल्लव, अमीं फल ।

सारांश

ऊँकारस्वरूप निष्कल निराकार अलख-निरंजन का योगानुभव ही पथ है । साधना का मार्ग सहज अथवा निरालम्ब है । सत्यस्वरूप ही साधनाभूमि है । सहज आसन में स्थित प्राणयोगी पवन-प्राणायाम की साधना करता है । उसका निवास-स्थान भ्रमर गुफा-ब्रह्मरन्ध्र है । संयम ही कौपीन है । मर्यादा की मेषला ही आरवंद है, कैवल्यपद ही योगपट्ट अथवा जगौटा है । (जगौटा एक प्रकार का वस्त्र है, जिससे ध्यान-काल में योगी शरीर को ढक लेता है) । उड्डियानबन्ध ही मुक्ति है । सत्यही मुद्रा है, शील ही गुदड़ी है, क्षमा ही टोपी है, वीर्य को शरीर में जीर्ण करते रहना, पचाना अथवा ऊर्ध्वमुख करना ही अधारी है । (अधारी काठ के दंड में लगा हुआ पीढ़ा है, इसे जहाँ-कहीं रख कर योगी बैठ जाता है ।) अन्तर्मुखीवृत्ति ही झोली है, धैर्य दंड है, ऊँ नमः शिवाय अथवा बम-बम का उच्चारण ही फाहुड़ी है, तप ही चक्र है । (चक्र हाथ में पहनने की एक प्रकार की अंगूठी है ।) मूल बंध को लगाना ही कमण्डलु है, उससे मन को स्थिर रखना ही उदक है । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत ही भोजन है, दया ही आदेश है । विचार करते रहना, आत्मतत्व का चिन्तन ही पुस्तक अथवा योगशास्त्र है । जीभ ही रसायन है । रस-सिद्ध का साधन है, सर्वांगी ही कला है । मृत्यु को जीतना ही विद्या है......स्वरूप में स्थित रहना वनखण्ड है, निराशा ही मठ है,

अलख-निरंजन ब्रह्म ही इष्टदेव है, ज्ञान ही दीपक है, निर्विकल्प समाधि में ही स्थिति है, अमृत ही सहज द्रवित भिक्षा है, शब्द ही सींगीनाद है, अनाहतनाद ही किंगरी है, शिव ही सरोवर है, अमृत शरीररूपी प्याले में भरा रहता है, निश्चलता ही ऋद्धि है, सत्य ही सिद्धि है, मुक्ति की प्राप्ति ही कैवल्य है, अलख-निरंजन का ही ध्यान है । निर्बीज समाधि लगी रहती है, निराकार ब्रह्मवृक्ष में जगत् ही पल्लव है, अमृत ही फल है ।

सिष्ट पुराण

ऊँ एक उपरांति लेष नाहीं । दोय पाषै सिष्टि नाहीं । आपा पाषै परचा नाहीं । काया उपरांति क्षेत्र नाहीं । सील उपरांति व्रत नाहीं । चक्षु उपरांति द्रृष्टि नाहीं । श्रवण ऊपरि सुरति नाहीं । निर्भय उपरांति अभय नाहीं । संजम उपरांति सुचि नाहीं । संतोष उपरांति सुख नाही । अमर उपरांति सिद्धि नाहीं । अभय उपरांति करामति नाहीं । माता उपरांति जन्म नाहीं । गर्भ उपरांति नरक नाहीं । षलंत उपरांति हरिण नाहीं । चित चंचल उपरांति रोग नाहीं । ब्रिध उपरांति मृत्यु नाहीं । काल उपरांति बैरी नाहीं । नासिका उपरांति रूप नाहीं । दया उपरांति धरम नाहीं । ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं । चंदन उपरांति काष्ट नाहीं । बिंद उपरांति उत्पत्ति नाहीं । समुद्र उपरांति गंभीर नाहीं । पाताल उपरांति अर्ध नाहीं । सूरज उपरांति तप्त नाहीं । काया उपरांति रतन नाहीं । सच उपरांति सास्त्र नाहीं । अजप उपरांति जाप नाहीं । अघोर उपरांति मंत्र नाहीं । नारायण उपरांति इष्ट नाहीं । निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं ।

सारांश

ऊँकार, शब्द ब्रह्म ही एक मात्र अक्षर है । आत्मस्वरूप का ज्ञान ही परिचय अथवा परमात्म साक्षात्कार है । काया ही योगसाधना का महान् क्षेत्र है । शील ही व्रत है, चक्षु ही दृष्टि है, श्रवण ही सुरति योग है, निर्भय पद से श्रेष्ठ और कोई अभेद पद ही नहीं है । संयम ही सदाचार है, संतोष ही परम सुख है । अमरकायत्व ही सर्व-श्रेष्ठ योगसिद्धि है । अभयपद की प्राप्ति ही परमसिद्धि है । जन्म का कारण माँ है । गर्भवास ही नरक है- चिन्ता की चंचलता ही रोग है, जरा ही मृत्यु है - काल ही सबसे बड़ा शत्रु है, दया ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इष्टदेव का ध्यान ही ग्रन्थ (का अवलोकन) है,

चन्दन से श्रेष्ठ कोई काष्ठ नही है, पाताल ही निम्नतम है, सूर्य के तेज से बढ़कर दूसरा कोई तेज नही है, शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है, सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है । अजपाजाप ही सर्वश्रेष्ठ जाप है, अघोरमंत्र (शिवमंत्र) ही सर्वश्रेष्ठ मंत्र है । नारायण ही सर्वश्रेष्ठ इष्टदेव है, निरंजन का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है ।

दयाबोध

आओ सिद्धौ षोज बताऊँ । आदिनाथ का पूत कहाऊँ ।।
जोगारंभ की याही बांणी । सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।। 1 ।।
जोगारंभ हिरदा मैं मांडौ । दया उपावो जूती छांड़ौ ।
नांगां पांवां जे नर मूंवां । ताका कारज पहिलै हूवा ।। 2 ।।
आप सवारथ घालौ धूंई । तामैं चींटी केती मूई ।
तजौ कहरि नजरि भभूत । बटवा फाउड़ि जिनि लेउ हाथ ।
एता आरंभ परिहरौ सिद्धौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 3 ।।
मारग चलंता धरणि दिष्टि लागै । ताकै कांटी कंद न लागै ।
पहिले आरंभ हम भी करते । जीवजन्तु बहोतैरे हतते ।। 4 ।।
आरम्भ तजौ गूदड़ी चलावौ । निरति सुरति अविनासी सूं लावौ ।
अबिनासी पुरूष का लागा रंग । रिद्धि-सिद्धि ताहीं कै संग ।। 5 ।।
रिधि छाड़्या सिधि पाइए । सिधि संकर कै हाथि ।
छाड़ौ सकल अकल कूंध्याबौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 6 ।।
आसन तजि अनत जिनि जावौ । अकलप भिछ्या बैठा खाऔ ।
कनक न पकड़ै मोरौ न झेलै । काई सिधि त्यौं जोगी खेलै ।
हरया तिणांका न सतावै जीव । सो जोगी कहिये सीव ।
चकमक कफ नांव न धरौ । आत्मा का परिहार जिनि करौ ।
अगनि न बालौ धुंआ न घोटौ । भिछ्या करि पीत्र ज्यो बोटौ ।
ग्वांड़ा बिच आसण जिनि मांडौ । [illegible] आसण जिनि मांडौ ।
बाई बावड़ी को मन नहिं दीजै । [illegible] दिष्टि काया तन छीजै ।
पंडित पढ़ि गुणि करै न आसा । [illegible] निरक्षा [illegible]

काहे कौं पढ़ि गुणि भला कहावै । जब लगि हिरदै दया न आवै ।
जब लगि हिरदै दया न आई । जब लगि कहिये सुद्ध कसाई ।। ।। ।
कनक न पकड़े सबदन वाहै । जोगी कागद कहां ते लावै ।
तन मेरे पोथी मन मेरे लेषनि । एती निज तत निसपती ।। ।2 ।।
यो कथंत गोरष जती ।।
वहां चलिबे का करौ बिचार । अगम अगोचर सुलप आकार ।
घड़ा देवरा औघड़ देव । तहां जोगेस्वर लाग्या सेव ।। ।3 ।।
पंच चेला मिलि पूरयानाद । धरणि गगन बिच भई अवाज ।
दीपक एक अखंडित बिन बाती । तहां जोगेस्वर थापनां थापी ।। ।4 ।।
अगम अगोचर सकल ब्रह्मण्ड । ता दीपक कै चरण प्यंड । न
सिषा न नैन सीस नहिं हाथ । सो दीपक देख्या जती गोरखनाथ ।। ।5 ।।
तादीपक कै डाल न मूल । तादीपक कै कली न फूल ।।
तादीपक कै रंग न रूप । तादीपक कै छांहन धूप ।। ।6 ।।
तादीपक कै सबद न स्वादं । तादीपक के विद्या न बादं ।
तादीपक कै मोह न मायां । सो दीपक सूनै सून समाया ।। ।7 ।।

सारांश

हे सिद्धों ! आओ ! मैं अनुभव कहता हूँ । मैं आदिनाथ परमशिव का आत्मास्वरूप (पुत्र-'आत्मा वे जायते पुत्रः') हूँ । यही योगसाधना का आरम्भ है कि घट-घट में, प्रत्येक जीवात्मा में एकही नाथ-परमात्मा को विद्यमान जानना चाहिये । योगसाधना बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है, इसका हृदय में अभ्यास करना चाहिए, हृदय में प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव पैदा करना चाहिए, सांसारिक साज-श्रृंगार से दूर रह कर योगसाधना करने वाले को ही सिद्धि मिलती है । धूनी प्रज्वलित कर उसके सामने बैठकर योगसाधना करने से क्या लाभ है, उसमें तो अनेक चींटी जल जाती हैं, बाहरी टीमटाम को छोड़कर साधना में लगना चाहिए । जो योगसाधक मार्ग में चलते समय देखता रहता है, उसके पैर में काँटे नहीं गड़ते, न पैरों तले दब कर जीवंजन्तु ही मरते हैं । साधना के आरम्भ में मुझसे भी असावधानी हो गयी थी, अनेक जीवजन्तु मर गये । अविनाशी अलख निरंजन का ही ध्यान करना चाहिए । जिसका मन अविनाशी के रंग में, ध्यान-चिन्तन में लग जाता है, उसके

पीछे-पीछे ऋद्धि-सिद्धि चलने लगती है । ऋद्धि का त्याग करने पर ही योगसिद्धि की प्राप्ति होती है । यह शंकर के अनुग्रह का फल है । निष्कल निराकार, अलख-निरंजन का ध्यान करना चाहिए, माया-उपाधियुक्त सकल पुरूष की उपासना की अपेक्षा ब्रह्म के ध्यान से योगसिद्धि अनायास मिलती है । ऐसा योगी गोरखनाथ का वचन है । हे सिद्धो ! आसन का त्याग कर कहीं नहीं जाना चाहिए । जो भिक्षा प्राप्त हो जाय, उसी से जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए । सोना (धन) को नहीं पकड़ना चाहिए, नहीं रखना चाहिए, ऋद्धि की प्राप्ति होने पर योगी उसे त्याग देता है । जीव को नहीं सताना चाहिए । ऐसा आचरणवाला योगी साक्षात् शिवस्वरूप हैं । अग्नि जला कर भोजन सिद्ध करने से क्या लाभ है, जब भिक्षा से काम चल जाता है, गाँव की सीमा में (निकट) आसन नहीं लगाना चाहिए, मोहबन्धन से दूर रहना चाहिए। बापी, बावली आदि खुदाने के पुण्य के चक्कर में समय को नहीं बिताना चाहिए । देखते-ही-देखते शरीर क्षीण हो जाता है । इसका साधन में उपयोग करना चाहिये । पंडित-विवेकी को पढ़ और गुन कर किसी की आशा नहीं करनी चाहिये । एकान्त-सेवन करना चाहिये, तथा परमात्मा के शरणागत रहकर संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति में पूर्ण निराशा का वरण करना चाहिए । पढ़-सुन कर अच्छा कहलाने से क्या लाभ है, यदि हृदय में दया नहीं है । दयाहीन पुरूष निरा कसाई है । सोना का संग्रह कर बही-खाता के चक्कर में, हिसाब-किताब रखने के जंजाल में नहीं पड़ना चाहिए । योगी कागज कहाँ पायेगा । तन ही पोथी है, मन ही कलम है, उसमें निष्पत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षरलिपि है । ऐसा योगी गोरखनाथ का कथन है । सदा अगम-अलख निरंजन के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए । निरंजन ही परम देवता है और बड़े-बड़े योगेश्वर उसके ध्यान में लीन रहते हैं । पंच ज्ञानेन्द्रिय ही शिष्य हैं, वे नाद प्रकट करते हैं, इन्द्रियों के संयम से मन और प्राण योगी के वश में हो जाते हैं, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक निनादित हो उठता है । बिना बत्ती के अखण्ड दीपक जल रहा है, अलख-निरंजन (प्रकाश ब्रह्म) की ज्योति प्रकट है । यह समस्त ब्रह्माण्ड में स्वज्योतित है, इसका न रूप है, न आकार है, न शिखा है, न नेत्र है, न सिर है, न हाथ है, इस दीपक का दर्शन गोरखनाथ ने किया है । इस दीपक की न शाखा है, न मूल है, यह अनादि है, अनन्त है, सनातन है,

इसकी न कली है, न फूल है, यह रंगरूप से अतीत है, इसकी न छांह (छाया) है, न धूप है । इसका न शब्द है, न स्वाद है, इसका वर्णन करना कठिन है । यह मोह माया से परे परम मुक्तिस्वरूप है । यह दीपक शून्य में सहज स्थित है ।

(इति दयाबोध संपूर्ण)

रहरासि

ऊँ आदेस आदेस अलष अतीतं । तदा न होती धरती न आकासं ।।
तदा काले सिंभू भई उतपन्य ।
माता न लेबी दस मास भारं । पिता न करिबा आचार बिचारं ।।
जोनी न आयबा, नाभि न कटायबा । पुस्तग पोथी ब्रह्मा न बचायबा ।।
तहाँ अलेष पुर पटणि अनोपम सिला तहां बैठे गोरषराई ।।
तुम दमड़ी चमड़ी का संग्रह करौ । गुर का सबद ले ले दोजिग भरौ ।।
गुप्ती चक्र चलावौ हथियार । षंडित बुद्धि बहोत अहंकार ।।
ऊभा ते सिध बैठा पाषांण । श्री गोरष बाचा परबांण ।।
अनंत सिधां मैं रहरासि कही । गोदावरी के मेलै ऐसी भई ।।

(इति)

पन्द्रह तिथि

बंदै गौरष एककार । पंद्रह तिथि का करहुं बिचार ।।टेक।।
अमावस दिढ़ आसण होइ । आतम परचै मरै न कोइ ।
मूल सहस्र पवनां बहै । बंक नालि तब बहत रहै ।। । ।।
पड़िवा है द्वै पष की आदि । सतगुरू सबदां सहज समाधि ।
गगन मंडल मैं रहै समाई । तौ चारि जुग लौं हेलै टलि जाई ।। 2 ।।
द्युतिया द्वै कुल उधरन धीर । उनमन मनवां अखलि सरीर ।
बाहरि भीतरि एकंकार । गुरू प्रसादै भौ निधि पार ।। 3 ।।
तृतीया तृबेणी करौ स्नान । पाप पुंनि दोउ देउ दान ।
तब जोग जुगति पाऔ बिसवास । जुरा मरण नहीं कंध बिनास ।। 4 ।।
चौथे चंचल निहचल करौ । काल विकराल दूर परहरौ ।

जम जौरा का मर्दौ मांन । सतगुर कथिया पद निरबांन ।। 5 ।।
पंचमि पंच तत की संधि । माता मैंगल राषौ बंध ।
अमीं महारस छिन-छिन पीवौ । गुर परसादे जुगि-जुगि जीवौ ।। 6 ।।
छटि षट चक्र बिचारौ सार । रिधि सिधि बुधि मति अषिल भंडार ।
अरथ दरब को छाड़ौ आस । काया कांमिनि भोग बिलास ।। 7 ।।
सातन सतरज तम गुण बांधे । पाबौ जीवण मरण की सांधे ।
अबिहड़ अजर अमर पद गहौं । मन पवन ले अनमन रहौ ।। 8 ।।
आटमि अष्ट भैरौ नवनाथ । अनंत सिधां सौ मिल्यौ संघात ।
अचंभ बांणी कथी न जाइ । झरत महारस गगन समाइ ।। 9 ।।
नवमीं नव निधि काया मंझारि । पाप पुंनि देषौ पट तारि ।
बूड़े पाप तिरै सत धरम । काया बाहरि जाति न जनम ।। 10 ।।
दसमी दह दिसि लागै बंध । जत सत संजम थिर ह्वै कंध ।
धरम करम गुर बाचा लीन । ग्यांन बिचषन बाजै बीन ।। 11 ।।
एकादसी अग्यारह रूद्र । मांणक पायो काया समुद्र ।
अलष रतन गुरि दीयौ बताइ । एकादसी तिथि की राइ ।। 12 ।।
द्वादसी दिनकर तपै अकास । पसरै किरण होइ प्रकास ।
तहां चढ़ि भवरा रह्या समाइ । सतगुरि कथिया जीवन उपाइ ।। 13 ।।
तेरसि तृकुटी समि करि मेलि । चंद सूरज दो संमि करि भेलि ।
एक सिंध रूध्या नव घाट । सत गुर षौजौ ऊजू बाट ।। 14 ।।
चौदसि चौदह रतन बिचार । काल बिकाल आवता निवारि ।
आपै आप देषौ पट तारि । उतपति परलै काया मंझारि ।। 15 ।।
पून्यं पूगी मन की आस । माया मोह तजि भये उदास ।
सोलह कला सपूरण चंद । गुर परसादे थिर भया कंधि ।। 16 ।।
पंद्रह तिथि कला की संधि । मछींद्र प्रसादे थिर भया कंध ।
भया थिर तब आछे धीर । अनंत सिधा श्री गोरष पीर ।। 17 ।।

सप्तवार

जोग मूल गहि बारंबार । सतगुरु सबदां सहज बिचार ।।टेक।।
आदित सोधौ आवागवन । घट मैं राषौ दिढ़ करि पवन ।
स्यौ पूजा करि बसँ धारि । तौ गुरू पावौ आदीत वार ।। 1 ।।
सोमवार मन धरिवा सुंनि । निहचल काया पाप न पुंनि ।
ससिहर बरिषै अंबर भरै । तौ सोमवार गुंण एता करै ।। 2 ।।
मंगल बिषमी माया बांधे । चंद सूर दोऊ समि कर संधि ।
जुरा मरण बंचौ भौ काल । तौ गुर पावौ मंगल वार ।। 3 ।।
बुधवार गुर दीन्ही बुधि । बिवरौं काया पावौ सिधि ।
सिव धरि सकती पांणी भरै । तौ बुधवार गुन एता करै ।। 4 ।।
बृसपति वार विषम मन धरौ । पांचौं इंद्री निग्रह करौ ।
संषणी लै रूंध्या द्वार । तौ गुर पावौ बृसपति वार ।। 5 ।।
सुक्रवार सोधिवा सरीर । कहाँ बसै अंमृत कहां बस षीर ।
नव बहतरि पवनां बहै । तौ सुक्रवार गुण बिरला लहै ।। 6 ।।
थावर थिर करि आसण देहु । बारह सोलह गिणिगिणि लेहु ।
ससि हर कै धरि आवै भांण । तौ दिन दिन थावर गगँन सनन ।। 7 ।।
सातौं आंन्या एकै रास । काला भौंरा बेधै पास ।
प्यंडे प्रांणी परचा भया । सप्त बार श्रीगोरष कह्या ।। 8 ।।

इति

मछींद्र-गोरष-बोध

गोरषोवाच-स्वांमी तुम्हें गुरू गुसांई अम्हें जु सिष ।
(सबद एक पूछिबा) दया करि कहिबा मनांहे न करिबा रोस ।
आरंभि चेला कैसैं रहै । सतगुर होइ सो बूझया कहै ।। 1 ।।
मछिंद्र उवाच - अवधू रहिबा हाटै बाटैं रूष वृष की छाया ।
तजिबा काम क्रोध तृष्णां संसार की माया ।।
आप सौं गोष्टी अनन्त विचार ।
षंडित निद्रा सुछिम अहार ।। 2 ।।

गोरष-स्वांमी कौन देषिबा कौन विचारिबा कौंन ले धरिबा सारं ।
कौंन दोष मस्तक मुडाइबा कौंन ले उतरिबा पारं ।। 3 ।।
मछिंद्र-अवधू । आपा देषिबा अनंत बिचारिबा तत ले धरिबा सारं ।
गुरू का सबद देषि मसतग मुड़ाइबा, ब्रह्म ग्यांन ले उतरिबा पारं ।। 4 ।।
गोरष-स्वांमी आदेस का कौन उपदेस सुंनि का कथं वास ।
सबद का कौन गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 5 ।।
मछिंद्र-अवधू आदेस का अनूषम उपदेस, सुंनि का निरंतर बास ।
सबद का परचा गुरू, कथंत मछिंद्र नाथ ।। 6 ।।
गोरष-स्वांमी मन का कौन रूप, पवन का कौन आकार ।
दंम की कौन दसा साधिबा कौंन द्वार ।। 7 ।।
मछिंद्र-अवधू मन का सुंनि रूप, पवन का निरालंभ आकार ।
दंभ की अलेष दसा, साधिबा दसवै द्वार ।। 8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन पेड़ि बिन डाल कौन पंषि बिन सूवा ।
कौन पालि बिन नीर, कौन बिन कालहिं मूवा ।। 9 ।।
मछिंद्र-अवधू पवन पेड़ि बिन डाल, मन पंषि बिन सूवा ।
धीरज पालि बिन नीर, निद्रा बिन कालहिं मूवा ।। 10 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन बीरज कौंन षेत्र । कौंन सरवंण कौंन नेत्र ।
कौंन जोग कौंन जुगति । कौंन मोक्षि कौंन मुकति ।। 11 ।।
मछिंद्र-अवधू मंत्र बीरज मति षेत्र । सुरति श्रवण निरति नेत्र ।
ऊरम जोग धूरम जुगति । जोति मोक्षि ज्वाला मुकति ।। 12 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मूल कौंण बेला । कौंण गुरू कौंन चेला ।
कौंण षेत्र कौण मेला । कौण तत्व ले रमै अकेला ।। 13 ।।
मछिंद्र-अवधू मन मूल पवन बेला । सबद गुरू सुरति चेला ।
त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला । नृवांण तत्व ले रमौ अकेला ।। 14 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण घरि चंद कौंण घरि सूर कौण घरि काल बजावै तूर ।
कौंण धरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 15 ।।
मछिंद्र-अवधू मन घरि चंद पवन घरि सूर । सुन्नि घरि काल बजावै तूर ।
ग्यांन घरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 16 ।।
गोरष-स्वांमी कौण अमावस कौण सु पड़िबा । कहां का महारस कहां ले चढ़िबा ।
कौंण अस्थांने मन उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्या कहै ।। 17 ।।

मछिंद्र-अवधू रवि अमावस चंद सु पड़िबा । अरध का महारस उरध ले चढ़िबा ।
गगन अस्थांने मन उनमन रहै । ऐसा विचारि मछिंद्र कहै ।। 18 ।।
गोरष-स्वांमी कुसबद का कौण ग्रास । सुसबद का कथं बास ।
द्वादस अंगुल बाई कौण मुषि रहै । सतगुर होई सु बूझ्या कहे ।। 19 ।।
मछिंद्र-अवधू कुसबद का सुसबद ग्रास । सुसबद का निरंतर बास ।
द्वादस अंगुल बाई गुरमुषि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 20 ।।
गोरष-स्वांमी आदि का कौंण गुरूं । धरती का कौंण भरतार ।
ग्यांन का कौंण अस्थांन । सुंनि का कथं द्वार ।। 21 ।।
मछिंद्र-अवधू आदि का अनादि गुरू । धरती का अम्बर भरतार ।
ग्यांन का अस्थांन चैतनि । सुंनि का परचा द्वार ।। 22 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण परचै माया मोह टूटै । कौंण परचै ससि घ फूटै ।
कौंण परचै लागै बंध । कौंण परचै थिर हूवै कंध ।। 23 ।।
मछिंद्र-अवधू मन परचै माया मोह टूटै । पवन परचै ससि घर फूटै ।
ग्यांन परचै लागै बन्ध । गुरू परचै अजरावर कन्ध ।। 24 ।।
गोरष-स्वांमी कहां बसै मन कहां बसै पवन । कहां बसै सबद कहां बसैं चंद ।
कौंण अस्थाने ए तत रहै । सतगुर होय सु पूछ्या कहै ।। 25 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदै बसै मन नाभी बसै पवन,
रूप बसै सबद गंगन बसै चंद ।
उरध्र सथांने ए तत रहे । ऐसा बिचार मछिन्द्र कहै ।। 26 ।।
गोरष-स्वामी हिरदै न होता, तब कहां रहिता मन ।
नाभि न होती तब कहां रहिता पवन ।।
रूप न होता तब कहाँ रहिता सबद ।
गगन न होता तब कहां रहिता चंद ।। 27 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदा न होता तब सुंनि राता मन ।
नाभी न होती तब निराकार रहिता पवन ।।
रूप न होता तब सुंनि रहिता सबद ।
गगन न होता तब अन्तरष रहिता चंद ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी राति न होती दिन कहां थैं आया ।
दिन प्रसरया राति कहाँ समाया ।।
दिवा बुझांनां जोति कहां लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्रांण का कौंण बेसास ।। 29 ।।

मछिंद्र-अवधू राति न होती दिन सहजै आया ।
दिन प्रसरया राति सहजै समाया ।।
दिवा बुझांनां जोति निरन्तरि लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्राण का सुंनि बेसास ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी काया मधे कै लष चंद । पुहुप मधे कहां बसै गंध ।
दुध मधे कहां बसै घीव । काया मधै कहां बसै जीव ।। 31 ।।
मछिंद्र-अवधू काया मधे द्वै लख चंद । पहूप मधे चेतनि गंध ।
दूध मधे निरंतर बसै घीव । काया मधै सरब व्यापीक जीव ।। 32 ।।
गारेष-स्वांमी कहां बसै चंद कहां बसै सूर । कहाँ बसै नाद बिंद का मूर ।
कहाँ होइ हंसा पीवै पांणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 33 ।।
मछिंद्र-अवधू उरधै बसै चंद अरधै बसै सूर ।
हिरदै बसै नाद बिंद का मूर ।।
गगन चढ़ि हंसा पीवै पाणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 34 ।।
गोरष-स्वांमी कथं उतपन्यों नादं, कथं नाद समभवते ।
कौंण ले थापते नादं, कथं नादं बिलीयते ।। 35 ।।
मछिंद्र-अवधू ऊँकार उतपतते नादं नाद सुन्नि समिभवते ।
स्रवन ले थापते नादं, नादं निरंजन बिलीयते ।। 36 ।।
गोरष-स्वांमी नादेन नादिबा बिंदिन बिंदबा, गगनेन लाइबा आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्रान का कहां होइगा बासा ।। 37 ।।
मछिंद्र-अवधू नादे भी नादिबा बिंदे भी बिंदबा, गगने भी लाइबी आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्राण का निरंतर होइगा बासा ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी आकार छूटिसी निराकार होइसी, पवन न होसी पांणी ।
चंद सूर दोऊ न होसी, तब हंस की कौन सहनांणी ।। 39 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज हंस का षेल भणीजै, सुंनि हंस का बास ।
सहजै ही आकार निराकार होइसी, परम जोति हंस का निवास ।। 40 ।।
गोरष-स्वांमी अमूल का कौंण मूल, मूल का कथं बास ।
पद का कौंण गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 41 ।।
मछिंद्र-अवधू अमूल का सुंनि मूल, मूल का निरंतर बास ।
पद का निरबांन गुरू, कथंत मछिंद्रनाथ ।। 42 ।।

गोरष-स्वांमी जी कथं उतपदिते प्रांण, कथं उतपदिते मन ।
कथं उतपदिते बाचा, कथं बाचा बिलीयते ।। 43 ।।
मछिंद्र-अवधू अबगति उतपदिते प्रांण, प्रांण उतपदिते मन ।
मन उतपदिते बाचा, बाचा मन बिलीयते ।। 44 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सरोवर कौंण सनाल । कौंण मुष होइ बचिये काल ।
लोक अगोचर कैसे लिव लहै । मन पवन कैसैं समि रहै ।। 45 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सरोवर पवन सनाल । उरघ मुष होइ बंचिये जंम काल ।
अरघउरघ अगोचर लिव लहे । मन पवन ऐसैं समि रहै ।। 46 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सो विषभी कौंण सो संधि । कौंणे चक्री लागै बंघ ।
कौंणे चेतनि मन उनमनि रहै । सतगुर होइसु बूझां कहै ।। 47 ।।
मछिंद्र-अवधू अनली बिमली विषमी संधि । चाकी ऊपरि लागै बंघ ।
सदा चेतनि मन उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 48 ।।
गोरष-स्वामी कहां उतपन्यां व्यापक, कहाँ आदि की अस्तुत समाई ।
ए तत्व कहौ गुरू गुसाई जहां हमारी उत्पति रहाई ।। 49 ।।
मछिंद्र-अवधू तिल मधैं जथा तेलं, काष्ट मधै हुतासन ।
पहुप मधे जथा बासं देही मधै तथा देवता ।। 50 ।।
गोरष-स्वांमी सापणि कुहकै कौंणे भाइ, बंक नालि हूवै कौंणै ठांइ ।
जव यहि प्रांणी निद्रा करै, पिंड मधे प्रांण कहां होइ रहै ।। 51 ।।
मछिंद्र-अवधू सापिणी कुहकै सहज सुभाइ । बंक नालि हूवै नाभी ठांइ ।
जब यहि प्रांणी निद्रा करै, पिण्ड मधै प्राण अपरछन रहै ।। 52 ।।
गोरष-स्वांमी कोंणैं चक्र दिढ़ करि चंद । कौंणैं चक्रै लागै बन्ध ।
कौंणैं चक्रै निपावै निरोध । कौंणैं चक्रै मन प्रमोध ।।
कौंणैं चक्रै धरिये ध्यानं कौंणैं चक्रै लीजै विश्रांम ।। 53 ।।
मछिंद्र-अवधू अरधै चक्रै दिढ़ करि चंद । उरधै चक्रै लागै बन्ध ।
पछम चक्रै निपावै निरोध । हिरदा चक्र में मन प्रमोघ ।।
कांठे चक्रै धरिये ध्यांन । ग्यांनै चक्रै लीजै विश्रांम ।। 54 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन उदैं माया सुन्नि । नौ ग्रह कैंसे पाप न पुन्नि ।।
कौंन ग्रह लै उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 55 ।।
मछिंद्र-अवधू बोलता जैसे माया सुंनि नवग्रह बिचारै पाप न पुंनि ।
सिव सकती ले उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 56 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण धर कौंण बास । कौंण गरभि रह्या दस मास ।
कौंण मुषि पांणी कौंण मुषि अस्तुति षीर,
कौंण, दिसा भई उतपति सरीर ।। 57 ।।
मछिंद्र-अवधू अनील गृह अबिगत बास, अतीत गरभि रह्या दस मास ।
मन मुषि पांणी पवन मुषि अस्तुति षीर,
ओंकार दिसा भइ उतपति शरीर ।। 58 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण नालि सिव संचरया, कौंण मुषि पईठा जीव ।
कौंण गरभि बसंतडां, कौंण नालि रस पीव ।। 59 ।।
मछिंद्र-अवधू संषनि नालि सिव संचरया, सुषमनि पईठा जीव ।
माता गरभि बसंतडां, बंक नालि रस पीव ।। 60 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सुंनि उतपनां आइ । कौंण सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
कौंन सुंनि मैं रह्या समाइ । ए तत्वा गुरू कहौ समुझाइ ।। 61 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज सुनि उतपनां आइ । समि सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
अतीत सुंनि मैं रह्या समाइ । परम तत्व मैं कहूँ समझाइ ।। 62 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि लागै समाधि । कौंण मुषि छूटै उपाधि ।
कौंण मुषि ले तुरिया बन्ध । कौंण मुषि अजरावर कंध ।। 63 ।।
मछिंद्र-अवधू मन मुषि बाला लागै समाधि । पवन मुषि बाला छूटै उपाधि ।
सुरति मुषि बाला तुरिया बन्ध । गुर मुषि बाला अजरावर कन्ध ।। 64 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौवै कौंण जागै । कौंण दहदिसि जाइ ।
कहां थै उठंत कहां होइ होठ कण्ठ तालुका बजाइ ।। 65 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सौवै पवन जागै । कलपनां दह दिसि जाइ ।
नाभी थै उठंत पवनां, आगै होठ कंठ तालुका बजाइ ।। 66 ।।
गोरष-स्वांमी कहां थै करै मन गुंणधणां ।
कहां थै करै पवन आवागवनां ।।
कौंण मुषि चंदा नीझर झरै । कौंण मुषि काल निद्रा करै ।। 67 ।।
मछिंद्र-अवधू हृदा थै मन करै गुंण घणां । नाभी थैं करै पवन आवागवनां ।
आप मुषि चंदा नीझर झरै । मन मुषि काल निद्रा करै ।। 68 ।।
गोरषस्वांमी कौंण तेज थै जोति पलटैं । कौंण सुंनि थै बाचा फुरै ।

कौंण सुंनि थै त्रिभुवन सार । कौंण सुंनि थै उतरिबा पार ।। 69 ।।

मछिंद्र-अवधू उग्र तेज थै जोति पलटै । अभय सुंनि थैं बाचा फुरै ।

परम सुंनि थै त्रिभुवन सार । अतीत सुंनि उतरिबा पार ।। 70 ।।

गोरष-स्वांमी कथं उतपनी षुध्या, कथं उतपनां अहार ।

कथं उतपनीं निद्रा, कथं उतपनां काल ।। 71 ।।

मछिंद्र-अवधू मनसा उतपनीं षुध्या, षुध्या उतपनां अहार ।

अहार उतपनी निद्रा निद्रा, उतपनां काल ।। 72 ।।

गोरष-स्वांमी सति सति भाषंत हो गुरू पंडिता, मन पवन कौंण दिसा ।

कौंण द्रिष्टि कौंण बिधि ग्यांन, नृगंथापार पार उतरिबा किसा ।। 73 ।।

मछिंद्र-अवधू द्रिष्टि थैं दिव द्रिष्टि होइबा, गिनांन थैं गिनांन होइबा ।

तथा गुरू सिख की एकै काया, परचा होइ तौं बिहड़ि न जाया ।। 74 ।।

गोरष-स्वांमी कहां थै उठंत सास उसासं । कहां परमहंस का बासं ।

कौंण घर मन थिर होइ रहै । सतगुर होइ सु बूझयां कहैं ।। 75 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै उठंत सास उसासं । उरधै परमहंस का बासं ।

सहज सुन्नि मैं मन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 76 ।।

गोरष-स्वांमी कैंसे आवैं कैंसें जाइ । कैंसें चीया रहै समाइ ।

कैंसे मन तन सदा थिर रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 77 ।।

मछिंद्र-अवधू सुंनै आवै सुंनै जाइ । सुंनै चीया रहै समाइ ।

सहज सुंनि मन तन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 78 ।।

गोरष-स्वांमी कहां बसै सक्ती कहां बसै सीव । कहां बसै पवनां कहां बसै जीव ।

कहां होइ इनका परचा लहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 79 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव । भीतरि बसै पवनां अंतरी बसै जीव ।

निरंतर इनका परचा लहै । ऐसा विचार मछींद्र कहै ।। 80 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मुषि बैठै कौण मुषि चलै । कौंण मुषि बोलै कौंण मुषि मिलै ।

क्यूं करि स्वांमी नृभै रहै । सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। 81 ।।

मछिंद्र-अवधू सुरति मुषि बैठै सुरति मुषि चलै । सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै ।

सुरति निरति मैं नृभैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 82 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो सबद कौंण सो सूरति । कौंण सो बंध कौंण सो निरति ।

दुबध्या भेटैं कैसैं रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 83 ।।

मछिंद्र-अवधू सबद अनाहद सुरित सोचित । निरति निरालम्भ लागै बंध ।
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 84 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो आसण कौंण सो ग्यांन । किहिं बिधि बाला धरै धियानं ।
कैसै अबिगत का सुष लहैं । सतुगर होइ सु बूझ्या कहै ।। 85 ।।
मछिंद्र-अवधू संतोष सो आसण विचार सो ग्यानं । काया तजि करि धरिये ध्यान ।
गुरमुष अबिगत का सुष लहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 86 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण संतोष, कौंण विचार । कौंण ध्यान काया कै पार ।
कैसै इन मैं मनसा रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 87 ।।
मछिंद्र-नृभै संतोष अनभै बिचार । दुह मैं ध्यांन काया कै पार ।
गुर मुषि मनसा इन मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 88 ।।
गोरष-स्वांमी पाइ बिन कौंन मारग । चक्षि बिन कौंन दृष्टि ।
करण बिन कौंण श्रवण । मुष बिन कौंण सबद ।। 89 ।।
मछिंद्र-अवधू पाइ बिन बिचार मारग । चक्षि बिन निरति द्रिष्टि ।
करण बिन सुरति श्रवण मुष बिन लय सबद ।। 90 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो धोवती कौंण सो आचार ।
कौंष जाप मन तजै बिकार ।
कौंण भाव थैं नृभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 91 ।।
मछिंद्र-अवधू ध्यांन सो ब्रह्म आचार । अजपा जाप मन तजै बिकार ।
आतम भाव थै नृभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 92 ।।
गोरष-स्वांमी कौंष सो ऊं कौंष सो आप । कौंण सो माई कौंण सो बाप ।
कैसे मन में दरियाव रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 93 ।।
मछिंद्र-अवधू सबद सो ऊँ जोति सो आप ।
सुंनि सोई माई चेतनि बाप ।
निहचल मन में दरियाव रहैं ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 94 ।।
गोरष-स्वामी कौंष सो चेतनि कौंण सार । कौंण निद्रा कौंण काल ।
कौंष महि पाँचों तत्व समि रहै ।
सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 95 ।।
मछिंद्र-अवधू जोति चेतनि निरभै सार । जागिबा उतपत निद्रा काल ।
जोति महि पाँचौ तत्व समि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 96 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण बोलै कौंण सोवै । कौंण रूप में आपा जोवै ।

कौंण रूप में जुगि जुगि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 97 ।।

मछिंद्र-अवधू सबद बौलै सक्ति सोवै । अदेष रूप में आपा जोवै ।

अरूप रूप में जुगि जुगि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 98 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मुषि रहणी कौन मुषि ध्यान,

कौंण मुषि अमी रस कौंण मुषि पांन ।

कौंण मुषि छेदि बदेही रहै ।

सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 99 ।।

मछिंद्र-अवधू सहज मुषि रहणी सक्ति मुषि ध्यांन,

गगन-मुंषि अमीरस चित मुषि पांन ।

आसा मुषि छेदि बदेही रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 100 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मुषि आवैं कौंण मुषि जाइ ।

कौंण मुषि होइ काल कौंण षाइ ।

कौंण मुषि होई जोति मैं रहै । सतगुर होइ सो बूझ्यां कहै ।। 101 ।।

मछिंद्र-अवधू सहज मुषि होइ आवै सक्ति मुषि होइ जाइ ।

निपष होइ काल कौं षाइ ।।

निरास मुषि होइ जोति में रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 102 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो काया कौंण सो प्रांण,

कौंण पुरिस का करिये ध्यांन ।

कौंण अस्थानं घरि काल सौं रहै,

सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 103 ।।

मछिंद्र-अवधू पवन सो काया मन सो प्रांण,

परम पुरिस का धरिये ध्यांन ।

सहज अस्थानं धरि काल सौं रहै, ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 104 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो कूंची कौंण सा ताला,

कौंण सो बूढ़ा कौंण सो बाला ।

कौंण अस्थानं मन चेतनि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 105 ।।

मछिंद्र-अवधू निहसबंद कूंची सबद ताला । अचेत बूढ़ा चेतनि बाला ।

ग्यांन अस्थांन मन चेतनि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 106 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ साधिक कौंण सो सिधि,
कौंण सो माया कौंण सो रिधि ।
कैसे मन की भ्रांति नसाइ । गुरू गुसांइ कहौं समझाइ ।। ।07 ।।
मछिंद्र-अवधू सुरति सो साधिक सबद सो सिधि ।
आप सौं माया पर सो रिधि ।
दुहुँ कौ मेटि निरति मैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।08 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो सांचा कौंण सो रांग । कौंण आभूषण चढ़ै सुरंग ।
तामैं निहचल कैसे रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।09 ।।
मछिंद्र-अवधू ज्ञान सौ सांचा प्राणा सौ रांग जत आभूषण चढ़ै सुरंग ।
तामहिं निहचल उनमन रहैं । ऐसा बिचारि मछिंद्र कहै ।। ।।0 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ मन्दिर कौंण सौ देव । कहां बैसि करि कीजै सेव ।
कौंण सौ पाती किहि बिध रहै, सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। ।।। ।।
मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर मन सौ देव । बैसि निरंतर कीजै सेव ।
पाचौ पाती उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। ।।2 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो मन्दिर कौंण सो द्वार । कौंण सो मूरति कोंण अपार ।
कौंण रूप मन उनमन रहै ।। सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।।3 ।।
मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर सबद सौ द्वार । जोति सौ मूरति ज्वाला अपार ।
रूप अरूप मन उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। ।।4 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ दीवा कौंण प्रकास । कौंण बाती तेल निवास ।
कैसे दीवा अबिचल रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।।5 ।।
मछिंद्र-अवधू ग्यांन सौ दीवा सबद प्रकास । संतोष बाती तेल निवास ।
दुबध्या मेटि अषंडित रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।।6 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ बैठा कौंण सौ चल्या । कौंण सौ फिर्‌या कौंण सौ मिल्या ।
कौंण सो धरि मैं निरभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।।7 ।।
मछिंद्र-अवधू धीरज बैठा चल्या बिकार । सुरति सौ फिर्‌या मिल्या सोइ सार ।
सदा अतीत धरि निरभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।।8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ जौगी केसे रहै । कौंण सौ भोगी कैसे लहै ।
सुष मैं कैसे उपजै पीर । तामैं कौंन बधावै धीर ।। ।।9 ।।
मछिंद्र-अवधू मन जोगी जै उनमनि रहै । उपजै महारस सब सुष लहै ।

रस ही मांहिं अर्षडित पीर। सतगुर सबद बंधावै धीर।। ।20।।
गोरष-स्वांमी कौंण सु आत्मां आवै जाइ। कौंण सु आत्मा रहै समाइ।
कौंण सौ आत्मा त्रिभुवन थीर। कौंण परचै बांवन बीर।। ।21।।
मछिंद्र-अवधू पवन सौ आत्मा आवै जाइ। मन सौ आत्मा सुंनि समाइ।
ग्यांन सौ आत्मां त्रिभुवन थीर। सबद परचै बावन बीर।। ।22।।
गोरष-स्वांमी मन का कौंण जीव, जीव का कौंण बेसास।
बैसास का कौंण आधार, आधार का कौंण रूप।। ।23।।
मछिंद्र-अवधू मन का पवन जीव, पवन का सुंनि बेसास।
बेसास का ब्रह्म आधार, ब्रह्म का अच्यंत रूप।। ।24।।
गोरष-स्वांमी कौंण चक्र थिर हौवै कंध। कौंण चक्र अगोचर बंध।
कौंण चक्र मैं हंस निरौधै। कौंण चक्र मैं मन परमौधै।
कौंण चक्र मैं लहै सवाद। कौंण चक्र मैं लागै समाध।। ।25।।
मछिंद्र-अवधू मूल चक्र थिर हौवै कंद। गुदा चक्र अगोचर बंध।
मणि चक्र मैं हंस निरौधै। अनाहद चक्र मैं चित्त परमौधै।।
बिसुध चक्र मैं लहै सबाद। चंद चक्र मैं लागै समाध।। ।26।।
गोरष-ए षटचक्र का जांणैं भेव। सौ आपै करता आपै देव।
मन पवन साधै ते जोगी। जुरा पलटै काया होइ निरोगी।। ।27।।

पापे न लिप्यते पुन्ये न हरंते ऊँनमो सिवाइ
ऊँनमो सिवाइ। श्रीमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते।।

इति

अष्ट मुद्रा

स्वामीजी अष्ट मुद्रा बोलिए घट भींतरि, ते कौंण कौंण।
अवधू यंद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, कांम त्रिष्णा ले उतपनी काम।
कांम त्रिष्णा समो कृतवा, मुद्रा, तौ भई मूलनी।।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।

काल क्रोध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई जलश्री ।
हृदा मधे षीर नी मुद्रा, ग्यांन दीप ले उतपनी ।
ग्यांन दीप समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षीर नी ।
मुष मध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी ।
स्वाद विस्वाद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षेचरी ।।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध विगंध ले उतपनी ।
गंध विगंध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी ।
चषि मध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्ट ले उतपनी ।
दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा, मुद्रा तौ भई चाचरी ।।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी ।
सबद कुसबद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई अगोचरी ।
ब्रहमंड असथांनि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी ।
परम जोति समो कृतवा, मुद्रा तौ भई उनमनी ।।
यती अष्ट मुद्रा का जाणै भेव, सौ आपै करता आपै देव ।।

इती अष्ट मुद्रा कथंत श्रीगोरषनाथजती संपूरण समापत सिवाय ।

रोमावली

सत पिता रज माता तम करि गाड़ी पाई,
लोह मास तुचा नाड़ी ये चारि धात माता की बोलिये,
बीरज हाड गूद्र ये तीनि धात पिता की बोलिये,
ए सप्त धात का सरीर बोलिये ।
द्वै हाथ द्वै पैर छाती लिलाट घाट अष्टांग जोग बोलिये ।
बंद भेद मुद्रा तीन्यूं साधंति ते सिधा बोलिये ।
कौंण बंधि बाँधिये, कौंण भेद भेदिये, कौंण मुंद्रा मुंदिये ।
ये बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन बन्धि बांदिये पवन भेद भेदिये बिंद मुंद्रा मुंदिये ।
कौंण विमल बिचारै कौंण षिरै कौंण झरै ।

मन बिमल बिचारै सूरज षिरै चंद्र झरै ।
हिंद पीर जिंद पीर ए बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
हिंद पीर बोलिये मन, जिंद पीर बोलिये पवन ।
षेचरी भूचरी गुपत प्रगट । ते कौंण कौंण ।
षेचरी बोलिये मन, भूचरी बोलिए पवन ।
गुपत बोलिये ग्यांन, प्रगट बोलिये सरीर ।
सरीरारथ परमारथ, गूढ़ारथ । ते कौंण कौंण ।
सरीरारथ बोलिये सरीर भेद, परमारथ बोलिये प्रांण भेद,
गूढ़ारथ बोलिजै विचारं ।
चारी पीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन मछिंद्रनाथ पवन ईश्वरनाथ, चेतना चौरंगीनाथ, ग्यांन श्रीगोरषनाथ ।
चारि तकबीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
दृष्टि कहै क्यूं लीजै दीजै, सुरति कहै क्यूं बोलिये सुणिये,
नासका कहै क्यूं सुगन्ध बांस परमलादि लीजै, जिभ्या कहै क्यूं षाटी मीठी षाइये ।
चारि दिसा बोलिये धन भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सबद बोलिये उत्तर, पवन बोलिए पछिम ।
दृष्टि बोलिये दषिण सूरति बोलिए पूरब ।
चारि आप कला बालये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला ।
ऊरम बोलिये मन, धूरम बोलिये पवन,
जोति बोलिये नेत्र, ज्वाला बोलिये श्रवन ।
चारि षांणी बोलिजै घट भीतर । ते कौंण कौंण ।
स्वेतरज अंडरज जेरज उदबीरज ।
सेतरज बोलिये हाड़, जेरज बोलिये बीरज, अण्डरज बोलिये नेत्र,
उदबीरज बोलिये रोमावली ।
चारि बांणी बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सहज संजम सुपाइ अतीथ ।
सहज बोलिये सरीर, संजम बोलिये पवन, अतीत बोलिये परमपद ।
महा मुद्रा महां अजाच नग्री महां जोगणी स्वयंभू बोलिये ।

जे बांणी षांणी कौ बिचारैं ते निराकार बोलिये, ऊँकार मधे जोति जाणियै ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला । भेदौ रवि का चाइयूं कला ।
मन करि हस्ती विमल जल पीवै । द्वै पष चीन्है तौ सोलह कला जीवै ।
बारह कला सूरज, सोलह कला चंद ।
गुरू जिसका लषावै नहीं चेला तिसका अंध ।
बारह कला सूरज की, ताकौ गुण घट भीतरि ब्यापै । ते कौंण कौंण ।
चिंता, तरंग इ्यंम, माया, परग्रहणै, परपंच हेत, बुधि ।
काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि ये बारह कला सूरज बारह की बोलिये ।
सोलह कला चन्द्रमा की ताके गुण घट भीतरि राषैं । ते कौंण कौंण ।
सांति, नृवर्त, क्षिमा, नृमल, निहचल, ग्यांन सरूप, पद,
नृबांण, नृबिष, निरंजन, अहार, निद्रा, मैथुन, बाई, अमृंत
ये सोलह कला चंद्रमा की बोलिये ।
ए चारि कला सूरज की साधै तो सोलह कला चंद्रमा की पावै ।
एती एक रोमावली ग्रंथ जोग कथितं श्रीगोरषनाथ ।

(इति)

गोरष-गणेश गुष्टि

गणेस पूछै गोरष कहै ।
तुम्हें स्वामी कहाँ थे आव्या, कहा तुम्हारा नाम ।
अम्हें निरंतरि थैं बर आंव्या, जोगी अम्हारा नाम ।
स्वांमी जोगी तौ ते बोलिए जिन एता मेर मेषला रच्या ।
तुम्हें कोण जोगी ।
अम्हें निरंजन जोगी अतीत गुर चेला ।
स्वांमी ते क्यूं जाणिये ।
रहति करि जाणिये, सबद करि प्रवांणिये ।
स्वांमी रहति ते क्या बोलिये, सब्द ते क्या बोलिये ।
सब्द बोलिये सब थैं बिबरजित, रहति बोलिये तृगुण रहित ।

स्वांमी सब थैं निरन्तर ते क्या बोलिये ।
सरब थैं व्यबरजित बोलिये अवधू सुछिम,
त्रिगुण बोलिये सत रज तम ।
तौ स्वांमी सुक्षम ते क्या बोलिये, सतरजतम ते क्या बोलिये ।
सुछिम ते बोलिये अवधू दिष्टि न देखिये मुष्ट न आवै ।
सतगुन बोलिये पवन रजगुन बोलिये पानी ।
तृगुण बोलिये तामसरूपी । पंच तत्त पचीस परकीरती बोलिये आदम ।
तौ स्वांमी पंचतत्व ते क्या बोलिये । पचीस परकीरती ते क्या बोलिये ।
पंच तत्त बोलिये पृथ्वी आप तेज बाई आकास,
येक-येक तत्त संजुगत पंच-पंच परकीरती बोलिये ।
प्रथम पृथ्वी प्रकीरती बोलिये (1) अस्त (2) मास (3) तुचा (4) नाड़ी (5) रोम एती पृथ्वी की प्रकीरती बोलिये ।। 1 ।।
दुतिये आप प्रकीरती बोलिये (1) लाल (2) मूत्र (3) प्रसेद (4) सुकल (5) सुनीत । एती आप की प्रकीरती बोलिये ।। 2 ।।
तृतीये तेज प्रकीरती बोलिये (1) पुह्या (2) तृसा (3) न्यंद्रा (4) आलस (5) क्रोध । एती तेज प्रकीरति बोलिये ।। 3 ।।
चतुरथे बाई प्रकीरति बोलिये (1) गाँवण (2) धावण (3) बलगण (4) ग्यांन (5) अगोचरि, एती बाई प्रकीरति बोलिये ।। 4 ।।
पंचमें आकास प्रकीरति बोलिये (1) माया (2) मोह (3) लज्जा (4) राग (5) द्वेष । एती पंच तत्त पचीस परकीरति का भेद बोलिये ।। 5 ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण बरण, आप का कौंण बरण,
तेज का कौंण बरण, बाई का कौंण बरण, आकास का कौंण बरण ।।
पृथ्वी का पीत बरण, आप का सेत बरण, तेज का रक्त बरण,
बाई का नील बरण, आकास का काला बरण ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण स्वाद, आप का कौंण स्वाद,
तेज का कौंण स्वाद, बाई का कौंण स्वाद, आकास का कोंण स्वाद ।।
पृथ्वी का मधुर स्वाद, आप का षारा स्वाद, तेज का तीषा स्वाद,
बाई का षाटा, स्वाद, आकास का मिलबला स्वाद ।
तौ स्वामी पृथ्वी का कौंण सुभाव, आप का कौंण सुभाव,

तेज का कौंण सुभाव, बाई का कौंण सुभाव, आकास का कौंण सुभाव ।
पृथ्वी का बैठा सुभाव, आप का सीतल सुभाव, तेज का ताता सुभाव,
बाई का चंचल सुभाव, आकास का ऊभा सुभाव ।
तौ स्वांमी आकास का कौंण घर, कौंण द्वार,
कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
बाई का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आप का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
तेज का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
पृथ्वी का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आकाश का ब्रह्मण्ड घर, श्रवन द्वार, सुंनै सु आहार
जिह्वा बिहार दिम्भ पाषंड ब्यौहार ।
बाई का घर नाभी, नासिका द्वार, बासना आहार
निरबासीक बिहार, अहं क्रोध, ब्यौहार ।
तेज का पीता घर, चछू द्वार, द्रिष्ट देषै सु आहार
हरष बिहार, प्रीती मोहब्यौहार ।
आप का लिलाट घर, यन्द्री द्वार स्त्री, आहार
बिंद बिहारमैथुन ब्यौहार ।
पृथ्वी का घर कलेजी, मुदा द्वार, षाइ सु आहार
अमरीबजरी बिहार लोभ लालच ब्यौहार ।
तौ स्वांमी पृथ्वी का कौंण गुरू, आप का कौंण गुरू, तेज का कौंण गुरू,
बाई का कौंण गुरू, आकास का कौंण गुरू ।
पृथ्वी का गुरू मन, देवता बाचासरूपी, आप का गुरू चन्द्र - देवता बुधि सरूपी,
तेज का गुरू सूरज देवता अनादि सरूपी
आकास का गुरू श्रीगोरष जती अविगति सरूपी ।
स्वांमी जी प्रिथी की कौंण भारिज्या । आप की कौंण भारिज्या ।
तेज की कौंण भारिज्या, बाय की कौंण भारिज्या । आकास की कौंण भारिज्या ।
अवधू प्रिथी की भारिज्या आसा धनवंती । आप की भारिज्या मनसा चोरटी ।
तेज की भारिज्या कलपनां चंडाली । बाय की भारिज्या चिंता डाकणी ।
आकास की भारिज्या संक्या सीलवंती ।

स्वांमीजी प्रिथी कौंण गुणी । आप कौंण गुणां ।
तेज कौंण गुणां बाय कौंण गुणां । आकास कौंण गुणां ।
अवधू प्रिथी मूल गुणी । आप बृध गुणां । तेज रूप गुणां ।
बाय प्रमल गुणा । आकास मैथुन गुणां ।
तौ स्वांमी पंच तत्त की कथं उतपती, कथं षपती ।
अबिगत उतपना ऊँ । ऊँ उतपदितें आकास । आकास उतपनी बाई । बाई उत्पन्यां तेज । तेज उत्पन्यां तोया । तोया उत्पनी मिट्टी । मिट्टी ग्रासंत तोया । तोया ग्रासंत तेज । तेज ग्रासंत बाई । बाई ग्रासंत आकास । आकास ग्रासंत ऊँ । ऊँ ग्रासंत ते अबिगत । अबिगत गति रहेत । आवते न जावते एवं पंच तत पचीस प्रकीरति का भेद बोलिये । निरंजन देवता । पांणी का जामन । अगनि का पुट । पवन का थंमा । सुरति निरति सोध्या सुंनि में समाया । अबिगत सरूपी एवं उचितम् ।

पापे न लिप्यतें पुन्ये न हारंते जोगारम्भे भवे सिधां आवागवन निबर्तते ।
ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई श्री स्यम्भुनाथ पादुका नमस्तुते ।

वौउं अनादि बोलंत षरतर पंथ। जिभ्या इंद्री दीजै बंध।
जौग जुगुति मैं रहै समाइ। सो जोगी सिर भद्र कराइ।। 1।।
द्वादस मंदिर सिव थांन। तेहूँ उत्तम ब्रहम ग्यांन।
द्वादस निहचल एक मै रहै। तै जोगी सिर टोपौ बहै।। 2।।
दैषै ये तत सून्य अकास। पंच तत मैं महा पुरिस का बास।
पंच तत्त लै अनमनि रहै। अछ्या होइ तौ जोगेंद्र कहै।। 3।।
पंच तत्त का करौहु बिचार। बाहर भीतर येकंकार।
भिछ्या मांगैं नग्री द्वार। माया मोहूँ तजै जंजार।। 4।।
अरघ उरघ बीची कंमली भोग। सुणौं हो अवधू अध्यातम जोग।
मनमूंडै तौ मस्त मूंडी। नहीं तर पड़ौ नरक की कूंडी।। 5।।
ये तौ येक अवधू पंच तत्त मात्रा का बिचार। बदंत गोरष दसवै द्वारि।
आदि संष अनिल उपाया। अनंत सिधां लैं मस्तकि लायां।। 6।।
कान सुणाय गुरं दीन्ही दीष्या नवषंड प्रथी मांगों भीष्या।
भिछ्या मांगि निरंतरि रहै। ते जोगी कानां मुद्रयां बहै।। 7।।
अहुँठ हाथ गल कंथा पाई। चंद सूर दौउ थंगली लाई।
अहुँठ कोटि दस धागा भरौ। गुरू परसादै दुतिर तिरौ।। 8।।
काया षड़ासण मन जोगौटा पांचों इन्द्री करौ कछौठा।
जत सत क्रीया संजम चलवौ। डंडा लाठी डीबी पावौ।। 9।।
पछिम उत्तर दछिण पूरब। वै तौ जोगी जोगौटा चलावौ।
माथे जटा दरसन विकराल। तौ अवधू जोगी बंचौ काल।। 10।।
सींमी सेली अर जपमाला। बाई फेरो गगन मंझारा।
नव बैहैतर पवनां मूल। षट चक्रं गंगा गौरी तिरसूल।। 11।।
अलष पुरिष तहां कू ध्याया। नग्र कोट उरध थी आया।
चीत चक्र में जै पवनां गहे। ब्रहम अगिनि प्रगट जल रहै।। 12।।
बीस्नं बीस्नं करै सब कोय। बिना निरंजन मुकति न होय।
मूल चक्र तहां सहस्र दल बाट। मन पवन लै षौलौ कपाट।। 13।।
गोरष बिस्न लागा बाद। गोरष लेय बजाया नाद।

बीस्न कीया मृघ का रूप मार्‌या मृघ ध्याया अवधूत ।। 14 ।।
पूरब जाता पछीम हांस । मार्‌या मन मृघ भषीलै मांस ।
नांली चांपी सीगी नाद बजाया । यही सीगी नाद गगन कूं जाइ ।। 15 ।।
गगन मंडल मैं रहै समाइ । अनंत सिघां पाई जोग बाई ।
सीगी नाद गगन कूं जाई । अह निसि चंदा (रहै) गगन समाइ ।। 16 ।।
पांचूं इन्द्री पूरै स्वाद । तै अवधू बजावै सीगी नाद ।
अनहद नांद उरध का मूल । चंद सूर सुषमन अस्थूल ।। 17 ।।
वारि गंगा पारि गंगा, मंझी जोगौटा ध्यांन ।
गंग जमन लै मेर चढ़ाई, तहां प्रगट्या ब्रह्म गियांन ।। 18 ।।
सीगी सेली और षड़ासण, अनंत सीघां लीन्हा जाइ ।
द्वादस डीबी उरघ का मेला । अलेष मंढ़ी तांहा गगन समाइ ।। 19 ।।
सोना रूपा ग्रही कूं दीन्हा । आदी पत्र लै ईस्वर कूं दीन्हा ।
जोगारंभ तहां सीध समाइ । आदि धंरम सुरग उतपना आइ ।। 20 ।।
बारा बरस का मुवा समांण, । श्री गोरषनाथ जगाया ।
चौसठि जोगणि भ्याष्या पूरै, अनंत सिघां आदि पत्र पाया ।। 21 ।।
आदी पत्र आदी उत्यंम अनादि धरम संकर कूं पेस ।
निगुरा कूं गड़बड़ बौलिये सुगरा कू उपदेस ।। 22 ।।
येता येक पंच मात्रा का ऊचार अनंत सीधां तहां सुण्या बिचार ।
मच्छंद्र प्रसादै जती गौरष कहै । ते अवधू पंच भू आत्मा लहै ।। 23 ।।
जे जौगी जाणै पंच मात्रा का भेव । सौ आपै करता आपै दैव ।
ये पंच मात्रा जोगी बूझै । ताकूं त्रिभुवन सूं सकल देवता पूजैं ।। 24 ।।

इति श्री पंच मात्रा पठंत गुणंत कथंते करंते पापेन लिपंते पुन्ये न हरंते आवागवण बिब्रजते अमरलोकी सगछते । वो उं नमसिवाय । उन्मोस्यवाय गुरू मछंद्रनाथ पादुका नमस्ते । इति श्री गोरषनाथजी की पांच मात्रा ग्रंथ जोगसास्त्र संपूरण समाप्ता ।

ईश्वरोवाच ऊँ, अबिगत उतपते इच्छा । इच्छा उतपते आकास । आकास उतपते वाय । वाय उतपते तेज । तेज उतपते तोयम । तोयम उतपते मही ।

अबिगत ते इच्छा । इच्छा तैं आकास । आकास नाम, स्याम वरण, दसवैं द्वार बासा, दाहिणे पैसार, वामं श्रवण निकास, नाद सुनै सो आहार दंभ बड़ाई ब्यौहार । राग दोष हर्ष शोक मोहादिक ये पाँच प्रकृति आकास की बोलिये । इन आकास मारग जीव अनुसरै तौ सेतरंज षानि भोगवै ।

आकास से वायु नाम, नील वरण, नाभि बासा, इला पैसार, पिंगुला निसार, गंधं बासना आहार, क्रोध व्यवहार । गावण, धावण, बलगन, संकोचन, पसारणये पाँच प्रकृति वायु की बोलिये । इन वायु मारग जीव अनुसरै तौ अण्डरज षानि भोगवै ।

वायु से तेज नाम, रक्त वरण, त्रिकुटीवासा, दाहिणै नेत्र पैंसार, बामें निसार, दृष्टि देषै सो आहार, मोह ब्यौहार । क्षुधा, त्रिषा, निद्रा, आलस, क्रांति, ये पाँच प्रकृति तेज की बोलिये । इन तेज मारग जीव अनुसरै तौ रज षानि भोगवै ।

तेज ते आप नाम, स्वेत वरण, ललाट वासा, जिभ्या पैसार, इन्द्री निकास, स्त्री-आहार, काम ब्यौहार । लाल, मूत्र, प्रस्वेद रुधिर, मज्जा-ये पाँच प्रकृति आप की बोलिये । इन आप मारग जीव अनुसरै तौ उदबीरज षानि भोगवै ।

आप ते पृथ्वी नाम, पीत वरण, कलेजे वासा, मुष पैंसार, मूल द्वार निकास, षावे पीवे सो आहार, लोभ लालच ब्यौहार । अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम, ये पाँच प्रकृति पृथ्वी की बोलिए । इन पृथ्वी मारग जीव अनुसरै तौ पिंडरज षानि भोगवै ।

इति पंच प्रकृति, पंच घर, दस द्वार, पंच अहार, पंच ब्यौहार, पंच वरण,

पंच षानि चौरासी लाष जीव जोनि भ्रमते। तथा ये पंच कर्मानि बोलिये सुनो गोरष अवधूत। ईश्वरो कथंति। महा ग्यांन कर्म पटल प्रथमो अध्याय।

इश्वरोवाय पंच तत्वभेव कथितं। पृथ्वी ग्रासन्ति तोया। तोया ग्रासन्ति तेज। तेज ग्रासन्ति वायु। वायु ग्रासन्ति आकास। आकास ग्रासंति इच्छा। इच्छा ग्रासन्ति अबिगत। अविगत रहत, आवते न जाते। जैसा है तैसा हो रहते। असंष मनि नाम। अवरण वरण। हिरदै वासा।

भाव घर, अदृष्टि द्वार, सहज पैसार। समाधि निकास, अमी आहार, अर्थ ब्यौहार, इन मन मारग जीव·अनुसरै तौ सायोज्य मुक्ति भोगवै।

असंष बुद्धि नाम। अवरण वरण, निर्मल वासा, विचार घर, अनाहद द्वार, निहशब्द पैसार, अनभैं निकास, रस आहार, अगह ब्यौहार, इन बुद्धि भार्ग अनुसरै तौ सामीप मुकति भोगवै।

सहज सून्य चिन्ता नाम, अवरण वरण, त्रिकुटी वासा, विवेक घर, अजपा द्वार, निहकाम पैसार, सन्तोष निसार, कमरन्द अहार, अगम ब्यौहार। इन चित्त मारग जीव अनुसरै तौ स्वरूप मुक्त भोगवै।

परम ध्यानं अहंकार नाम, अवरण वरण, विषमी वासा, विवेक लय घर, नृनासीक द्वार, अगम पैसार, अगोचर निसार, अजर अहार, अगाध ब्यौहार। इन अहंकार मारग चित्त अनुसरै तौ सालोक मुक्ति भोगवै।

प्रांण अंतहकरण नाम, अवरण वरण, अस्थिति वासा, धीर घर, अकिल द्वार ग्यांन पैसार, बिग्यांन निसार, अमरा अहार, अबंध ब्यौहार। इन अन्तहकरण मारग जीव अनुसरै तौ महामुक्ति (भोगवै) आत्मा परमात्मा भवति। जोगेस्वर जीव एक भवन्ति। परम सून्य भावे स्थिति। पारब्रहम भवे लीनं। सत्यंसत्यं च वदाम्यहम। तत्व ग्यांन श्रीशम्भूनाथ अकथ कथितं सुनो हो गोरष अवधूतं परम जोग संप्रापितं जोगी। ईस्वरो कथंत महाग्यांन इति ग्यांन इन्द्रादि बोलिये। इति ग्यांन पटल द्वितीयो अध्याय।

(इति गोरष-महादेव सम्वाद)

गोरष जोगी कथै बिचारं । ये तत जीतै सातौ वारं ।।टेक।।
आदित बार ब्यौरि ले आप आपा व्यौरत पुंनि न पाप ।।
दुहुँ पषां सों आरंभ करै । अनभै करि जमपुर परहरै ।।
सोमवार ससि षटण भरौ । सतगुरू षोजौ दूतरि तिरौ ।।
दसवें द्वारि दीजै बंध । तौ अजरावर थिर हवै कंध ।।
मंगलवार अम्हे पाया भेव । आतमां अछै निरंजन देव ।।
पंच पुहुप लै पूजा करौ । मति बुधि लै सिवपुरी संचरौ ।।
बुधिवार मति बुधि प्रकास । अहि निसि रहिबा जोग अभ्यास ।।
दिढ़ करि लोचन आसा पास । सिधि साधौ अमरापुरि वास ।।
ब्रहसपति बार विषम मन लिया । ग्यान षड़ग लिया बिग्रह किया ।।
अठ्ठठ कोटि दल दीया पयाणां । जम मस्तकि बाजै निस्राणां ।।
सुक्रवार सूषिम जल साधि । लहरि न पसरै सहज समाधि ।।
माया मारि मरि थिर जु होइ । आत्मा परचै मरै न कोइ ।।
थिरि थावर जु सनीचर बार । काया मध्ये सातौं बार ।।
सतगुरू षोजौं उतरौ पार । सुसमवेद सुषमना बिचार ।।
वेद पुरान पढ़ै चित लाइ । विद्या ब्रह्म कंध थिरि थाइ ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष कहै । सप्त वार कोई बिरला लहै ।।
आदित आंष्यां सोम श्रवण, मंगल मुष परवांण ।।
बुध हिरदै बृहस्पति नाभी, सुक्र ते इंद्री जांण ।।
शनि गुदा वाय राह ते मंन, केत ते नासिका रहै ।।
सप्तवार नवग्रह देवता काया भीतरि श्रीगोरष कहै ।।

(इति)

चौबीस सिद्धि

चौबीस सिद्धि बोलिये प्रिथी के विषै ते कौंण कौंण । प्रथम अनूमां सिधि ताकौं लछिन, माया सुंनि सूझै । महिमां सिधि ताकौ लछिन, लघु दीरघ होय दिखावै । गरीमा सिधि ताकौ लछिन, ब्रहम कौ रूप दिषावै । लघुमां सिधि ताकौ लछिन, अनेक रूप धरै । प्रापति सिधि ताकौ लछिन, यंछै सो करै । प्रकासक सिधि, ताकों लछिन, सरब सूझै । असत्या सिधि ताकौ लछिन, उपावै षपावै । आवस्या सिद्धि ताकौ लछिन, ब्रह्मादिक अग्या में रहै । एती अष्ट भूतान सिद्धि, मनोजा सिधि ताकौ लछिन, सरब कांमनां की जाण । छुछुमुक्ता सिधि, ताकौ लछिन, मन मानै वहाँ सरीर छाड़े । अनूरा सिधि ताकौ लछिन, सीत उसन तै रहित होय । परकाया प्रबेस सिधि, ताकौ लछिन, और काया प्रवेस करै । सूरज बसि सिधि, ताकौ लछिन, सूरज आग्या मैं रहै, जल बसि सिधि ताकौ लछिन, जल आग्या में रहै । दूरि श्रवण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की सुणै । दूरि दरसण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की दरसै । कांस कांमोद सिधि, ताकौ लछिन, कांमनां यंछे सो करै । अप्रहता सिधि, ताकौ लछिन, मन मांनै तहां जाय । देवता सैल सिधि, ताकौ लछिन, सर्व देवतां सूं केला करि आवै । रूपसेल देवता सिधि, ताकौ लछिन, सरब देवता का रूप धरै । हारै नाही सिधि ताकौ लछिन, कहूँ प्रकार हारै नाही । त्रिकाल सिधि, ताकौ लछिन, छमास की आगली कहै छमास की पाछली सूझै । अगनि बसि सिधि ताकौ लछिन, अगनि मैं जलै नहीं । सबद बसि सिधि ताकौ लछिन, सबद फुरै ।

यती चौबीस सिधि ब्रह्म ग्यांनी कै आड़ी आवै । यती चौबीस सिधि सिधि आई होय तौं सतगुरू प्रसाद तै तयागै । सोई जोगेस्वर, सोई ब्रह्म ग्यांनी । बल अपार जती गोरषनाथ समझावै । यती चौबीस सिधि त्यागै । सोई परम जोति कूं पावै ।

(इति)

(गोरष-दत्त गुष्टि)

गोरष-स्वांमी कि तुम्हें ब्रह्मा कि ब्रह्मचारी, कि तुम्हें बांभण पुस्तक कि डंडधारी ।
कि तुम्हें जोगी कि जोग जुगता, कौंण प्रसादैं रमो छछंद मुक्ता ।। 1 ।।
दत्तात्रेय-अवधू न अम्हें ब्रह्मा न ब्रह्मचारी, न अम्हें ब्राह्मण पुस्तक न डंडधारी ।
न अम्हें जोगी न जोग जुगता, आप प्रसादैं रमौ छछंद मुक्ता ।। 2 ।।
गोरष-आपा मेटण सतगुरू थापणां, अनपरचै जग षाया ।
गोरष कहै सुणौ हो स्वामी, तुम्हें कौंण कहां थै आया ।। 3 ।।
दत्त - अवधू होता गुपत गुपत थै प्रगट, रहता पुरूष की छाया ।
दत्त कहै सुणौ हो गोरष, हम गैबी पुरस गैब थै आया ।। 4 ।।
गोरष-स्वांमी अजर ब्यंद असाध बाई, अप्रबल बिष्न की माया ।
गोरष कहै सुणौ हो दत्तात्रेय क्यू घूं सीझंति जल ब्यंद की काया ।। 5 ।।
दत्त - अवधू कन्द्रप न बाई अप्रबल न माया, आकार निराकार सूषिम निकाया ।
जलो न जलबिंबो दरपनों न छाया, दत्त न गोरष काया न माया ।। 6 ।।
गोरष-कौंणस्य आवै कौंणसि जाय, जो बोलै सो कहां समाइ ।
जोगमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुनौ दतदेव ।। 7 ।।
दत्त - अवधू न कोई आवै न कोइ जाई, कांसा नाद मधि समाई ।
येकैं सूत्रैं प्रोया हार, सांभलि हो गोरष कहूँ बिचार ।। 8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणस्य माता कौंणस्य पिता, कौंणस्य गुरू उपदेस स्थिता ।
कौंणस्य आसण करौ बिश्रांम, कौंण घर सौ दाषौ ठांम ।। 9 ।।
दत्त - अवधू षमा माता सत पिता, ग्यांन गुरू परचाया स्थिता ।
अलेष आसण तहां विश्राम, सांभलि गोरष दाषूं ठांम ।। 10 ।।
गोरष-स्वांमी कोंण मुकत कौंण दुष सहै, कौंण सि बिणसैं कौंण अजरावर रहै ।
जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 11 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म मुकता प्रकीरति दुष सहै, प्रकीरति बिनसै ब्रह्म अजरावर रहै ।
गुहय ग्यांन कथिले अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 12 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणसि सुषिम कौंण अस्थूल, कौंणस्य डाला कौंणस्य मूल ।

जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 13 ।।

दत्त - अवधू ब्रह्म सूषिम तत सथूल, पवनस्य डाला मनस्य मूलं ।
गुरहि ग्यांन कथिले अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 14 ।।

गोरष-स्वांमी कौंणस्य गुर कौंण सि चेला, किहि बिधि होय अनंत सिधां सौं मेला ।
ब्रह्म कमल का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 15 ।।

दत्त - अवधू परमात्मा सि गुर आतम चेला, सहज सुंनि होइगा अनंत सिधा सूं मेला ।
ब्रह्म कमल उरध मुष षिला, सांभलि गोरष उनमन कला ।। 16 ।।

गोरष-स्वांमी कौंणस्य कला, किस बिधि षूठैं त्रिकुटी ताला ।
नाद बिन्द का कहियै भेव, गोरष कहै सुणो दतदेव ।। 17 ।।

दत्त - अवधू उनमनि ध्यांन पवन विधि काया, नाभ दम षूठैं त्रिकुटी ताला ।
दसवैं द्वारि ब्यंद का बास, सांभलि-गोरष नाद का प्रकास ।। 18 ।।

गोरष-स्वामी कौंणसि कंटक कौंण उचाट, किहिं बिधि षूलै ब्रह्म कपाट ।
अगम पंथ का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दत देव ।। 19 ।।

दत्त - अवधू कंटक सोई जिहिं अतिवंत क्रोध, उचाट सोई आत्मा बिरोध ।
गुरूगमि षूलैं ब्रह्म कपाट, सांभलि गोरष ऊजू बाट ।। 20 ।।

गोरष-स्वामी कौंनसि दया कौन सि धन, कौंणसि बूडण कौंण सि तिरण ।
कौंन सि ग्यांन करम का भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 21 ।।

दत्त - अवधू बूडण सोइ ज कंटक षुधि, तिरण सोई जु निरमल बुधि ।
ध्यांन सोइ जो दया धरम, ग्यांन सोइ बिबरजित करम ।। 22 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण स्य बंधा कौंण स्य मुकता, कौंण सि जोगी कौंण सि जुगता ।
देव कला का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 23 ।।

दत्त - बंध्या सोई जु करमहि बंध, मुकता सोई रहै निरदंद ।
जोगी सोई जुगति मन रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 24 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण स्य जुगता कौंण स्य जोग, कौंण स्य काया व्यापै रोग ।
इनका हमसे कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 25 ।।

दत्त - अवधू जुगती सोई जो जुगि-जुगि ताला, जुगति सोई जो विषै निराला ।
जोगी सोई मन भ्रम न रहै गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 26 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सि भरम कौंण स्य धरम, कौंण सि निसचल कौंण अधरम ।
अगम ग्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 27 ।।

दत्त - अवधू भ्रम सोई जिहिं ब्यापे संसा, धरम सोई दरसण आदेसा ।
निसचल सोई जो ल्यो सू रहै, अधरम सोई जो मिथ्या कहै ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि मिथ्या कौंण सि सांच, कौंण सि षरा कौंण सी कांच ।
कौंण कि कहै सबद का भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 29 ।।
दत्त - अवधू माया मिथ्या ब्रह्म सु साचा, सबद सुषरा प्यंड को काचा ।
सबद बिचारी जहाँ मन रहै, गोरष पूछै दत्तातृय कहै ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि काया कौंण सिं माया, कौंन सि भ्रम जग धन्धै लाया ।
अपार धंद का कहै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 31 ।।
दत्त - अवधू मन कलपत लागी माया, करम आचरै तहां लूं काया ।
ध्यान बिना जगुधंद अपार, सांभलि गोरष कहूँ विचार ।। 32 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सिं ध्यांन, कौंन सिं ग्यांन, कौंन सि मन, कोंन सि आसांन ।
ग्यांन ध्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 33 ।।
दत्त - अवधू ध्यान सो ब्रह्म सू रहै, ग्यांन सोई जो सब गमि कहै ।
मन सोइ जहां मनहिं समांन, आपण जाणौ सोई आसांन ।। 34 ।।
गोरष-स्वामी कौंन सि मानै कौन सि जानै, ससिहर सूर कौन संभि ठानै ।
प्रकास अगोचर कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 35 ।।
दत्त - अवधू जानै सोइ परचै जग, नाथ न जांणै सोइ बिषियारत ।
ससिहर सूर अगोचर बासा । सांभलि गोरष कहूँ प्रकासा ।। 36 ।।
गोरष-कौंन अगोचर कौंन प्रकास, कौंर धरि षेलै निरास ।
कौंन सिधा का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 37 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म अगोचर मन प्रकास, परचै धरि षेलै निरास ।
परम जोति यहाँ सिध गहि रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि परचै, कौंण प्रतीत, कैसे थिर चंचल चीत ।
मन पवन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 39 ।।
दत्त - अवधू गुर परिचय मन प्रतीत, निसचल अस्थीर चंचल चीत ।
पवन थिरंता मन थिर रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 40 ।।
गोरष-कौन सि निसचल ले बंधे बंद, जुरामरण अजरावर कंद ।
गगन पद का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 41 ।।
दत्त - अवधू निसचल सो जो न पडै काया, तृगुण रहत सो गगन समाया ।

सहज पद परम नृबांन, सांभलि गोरष ए परवांन ।। 42 ।।
गोरष-स्वांमी कौन सकति कौन सीव, कौन तीनि भुवन का जीव ।
कौंण सि आसा पुरवई भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 43 ।।
दत्त - अवधू सकति सोइ जो सबहीं सोषै, सीव सोइ जो सब को पोषै ।।
जीव इक तीनि भुवन जगनाथ, सोइ संग जो पूरइ आस ।। 44 ।।
गोरष-स्वांमी कौन कौन ले कथिबा ग्यांन, कौंण तत्त ले धरिबा ध्यांन ।
कौंण समाधी तुम्हें लागे भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 45 ।।
दत्त - अवधू आत्मा चिन्ंति कहा कथिबा ग्यांन तत्व बिचारिबा कहा धरिबा ध्यांन ।
दत्त कहै हम सहज समांन, सांभलि गोरष पद निरबांन ।। 46 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन तत तुम रहौ समाई, कौन तत तुम मधे आई ।
कौंन परचै तुम्हें कहियै भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 47 ।।
दत्ता - अवधू दत्त जु लागा तत सो, तत दत्त ही माँहि ।
दत्त तत्त परचा भया, तब दूजा कहणां नाहिं ।। 48 ।।
गोरष-स्वांमी त्वमेव दत्तं, त्वमेव देवं, आद मधे तुम्हें जान्या भेवं ।
तुम्हें नारायण तुम्ह कृपाल, तुम्ह हो सकल बिस्ब के पाल ।। 49 ।।
दत्त - स्वामीं तुमेव गोरष तुमेव रछिपाल, अनंत सिधां माहीं तुम्हें भोपाल ।
तुम हो स्यंभूनाथ नृबांण, प्रणवे दत्त गोरष प्रणांम ।। 50 ।।
गोरष-स्वांमी दरसण तुम्हारा देव, आदि अंति मधि पाया भेव ।
गोरष भणई दत्त प्रणांम, भोग जोग परम निधांन ।। 51 ।।

ज्ञानदीप बोध ग्रंथ जोग सास्त्रं, पढ़ंते हरंते पापं, श्रुत्वा मोंषि सभ्यते जोगारम्भे भवे सिधा आवागवन निवरतते । येवं ग्यांन दीष बोध संवादे ज्रोग स्रास्त्र संपूरण समाप्त । ऊँ नमो सिवाये ऊँ नमो सिवाये गुरू मछिंद्र पादुका नमस्तते ।

समापन

नहीं आऊँ कांमणी नहीं आऊं लो ।
नहीं आऊँ राजभार लेबा तोर ।। टेक ।।
एवां नैरां कां कौन बसेषू ।
मारिबा नांयक जमागं ।।
हूं तोहिं पूछू मार्‌ह्या पढ़िया रे पंडित ।
कांई मरिबा ना लौ लागं ।।
मन पवन मार्‌ह्या हस्ती रे घोड़ा ।
गिनांन ते अषै भंडार ।।
बर ले कांमणि षोलै बैठा ।
ताथैं षरा डराऊं ।
बूढ़ा था सो बाला हूवा ।।
इब मैं कांई जाणां जी ।
सतगुरू सबदूं राजा भरथरी सीधा रे ।
गुरू गोरष बचन प्रवाणं जी ।।

--योगिराज भ

(नाथसिद्धों की बानियाँ 597

सम्बोधन

ा भंजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबाहेला ।
फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिध पुरिस सूंमेला ॥

गोर

यह मेरा है, यह मैं हूँ, इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये। दत त बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्गुरु, परमात्म ज्ञानी ा करनी चाहिये। यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है, इस पुण्य मार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नहीं करनी मनुष्य का जन्म नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य है, यह बार-बार नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म पाकर योग की लेनी चाहिये। योग की सिद्धि सिद्ध पुरुष परमार्थ ज्ञानी के सत्संग भ है।

गोर

गोरखबानी सबदी -२०३

जोग

संप्

गोर

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निंरजन आरती साजै ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै । टेक ।
अनहद नाद गगन में गाजै ।
परम जोति तहां आप बिराजै । १ ॥
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन - राती । २ ॥
सकल भवन उजियारा होई ।
देव निरंजन और न कोई । ३ ॥
अनँत कला जाके पार न पावै ।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै । ४ ॥
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ ।
निरति सुरति लै पहुप चढ़ाऊँ । ५ ।
निज तत नांव अमूरति मूरति ।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति । ६ ।
आदिनाथ नाती मछेन्द्र नाथ पूता ।
आरती करै गोरष औधूता । ७ ।

[महायोगी गोरखनाथ (गो०बा० पद-६२)]